शुद्ध संस्कार-विधि

(परम्पराज्ञान एवं प्रयोगविधि)
जैनदर्शन के आलोक में

प्रो. सुदीप कुमार जैन

शुद्ध संस्कारविधि

(परम्पराज्ञान एवं प्रयोगविधि)

लेखक

प्रो. सुदीप जैन

प्रमुख, साहित्य-संस्कृति संकाय

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ

(मानित विश्वविद्यालय)

नयी दिल्ली - 110016

डा. राकेशकुमार जैन

शास्त्री जैनदर्शनाचार्य पी.एच.डी.

नागपुर

सम्पादन-सहयोग

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, भीलवाड़ा (राजस्थान)

प्रकाशक :

मङ्गलायतन विश्वविद्यालय

मथुरा-अलीगढ़ मार्ग

पोस्ट-बेसवाँ, जिला-अलीगढ़ (उ.प्र.) 202145

मङ्गलायतन विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ.प्र.) का प्रथम प्रकाशन
शुद्ध संस्कारविधि (परम्पराज्ञान एवं प्रयोगविधि)
(मानव-जीवन के संस्कारों की शोधपरक कृति)

लेखक एवं सम्पादक - प्रो. सुदीप जैन, नई दिल्ली-16
प्रकाशक - **मङ्गलायतन विश्वविद्यालय**
- पोस्ट- बेसवाँ, जिला-अलीगढ़ (उ.प्र.) 202145, भारत
संस्करण - प्रथम 2011 ई.
मूल्य -
मुद्रक - **मङ्गलायतन** मुद्रणालय
आगरा रोड, अलीगढ़ (उ.प्र.) -202001 भारत
प्राप्ति स्थान - 1- श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द-कहान दि.जैन ट्रस्ट
विमलांचल, हरिनगर, आगरारोड, अलीगढ़-202001
2- **तीर्थधाम मङ्गलायतन**
आगरारोड, अलीगढ़-202001

First Publication of MANGALAYATAN UNIVERSITY (U.P.)
SUDDHA SANSKAR-VIDHI
(A Researchful Book on Sanskar of Human-Life)

Other and Editor - **Prof. Sudeep Jain**
Dean, Faculty of Litreturer and cultur,
Sh. L.B.S.R.S.V., (Deemed University)
New Delhi-16
Publisher : **Mangalayatan University**,
Post - Beswan, Aligarh (U.P.) 204521 INDIA
Prise :
Printer : Mangalayatan Press, Agra Road, Aligarh (U.P.) 202001

प्रकाशकीय

देश–विदेश में मैं जहाँ भी जाता था, वहाँ प्रत्येक स्थान पर सैद्धान्तिक तत्त्वज्ञान की बातें तो सर्वत्र निर्विवाद थी; किन्तु जीवनोपयोगी संस्कारों का परम्पराज्ञान एवं प्रयोगविधि की कहीं भी विवादरहित जानकारी नहीं मिली। प्राय: बातें रूढ़ियों से या बुजुर्गों से चली आयी बतायी गयीं और कुछ 'फलां विद्वान् या साधु ने बतायी थीं' – ऐसा कहा गया। प्रामाणिक एवं तथ्यपरक होने के साथ–साथ, धर्म के मूल 'अहिंसा' को केन्द्र में रखकर प्रतिपादित तथ्य एवं अल्प–परिग्रह तथा अल्प/आडम्बर के साथ, परिणाम –शुद्धि की प्रमुखता रखनेवाली विधियाँ भी दुर्लभ प्राय: रहीं। कहीं कोई बात इनके अनुकूल लगती, तो शेष बातें नितान्त आधारहीन प्रतीत होती थीं।

अलबत्ता, सर्वत्र जिज्ञासुओं एवं धर्मप्राणजनों में एक पिपासा समानरूप से थी कि कहीं कोई ऐसी उपयुक्त जानकारी देनेवाली पुस्तक मिले, तो एक बड़ा भारी अन्तराल भरा जा सके। अधिकांश लोगों के ऐसे भाव मैंने उनके साथ चर्चा में जाने, तो कुछ लोगों ने तो प्रस्ताव की कर दिया कि ''पवन जी! यह काम आप शीघ्र ही करा दें, तो समाज का भारी लाभ होगा।''

मैनें अपने इष्टमित्रों में विचार किया, तो भाई डॉ. सुदीपजी ने इस पर एक विश्वविद्यालय–स्तरीय कार्यशाला का आयोजन कर, व्यापक ऊहापोहपूर्वक तथ्यों की जानकारी सङ्कलित करके ही आगे बढ़ने का सुझाव दिया। उनके इस सुझाव को मानकर मैंने भाई डॉ. राकेशजी से मङ्गलायतन विश्वविद्यालय में एक कार्यशाला आयोजित करने को कहा। इसके शैक्षणिक सत्रों के संचालन एवं

बिन्दुशः विषय के प्रवर्तन के लिए डॉ. सुदीपजी को ही चुना गया, क्योंकि 'नमन और पूजन' कृति में उनके एतद्विषयक वैदुष्य को मैंने अनुभव किया था। मुझे हर्ष है कि इस द्विदिवसीय कार्यशाला में देशभर के इस विषय के निष्णात 30 से अधिक विद्वान् मनीषी सम्मिलित हुए तथा उन्हीं में से चार ज्ञानवृद्ध मनीषियों– 1–समणी डॉ. मङ्गलप्रज्ञा, 2. डॉ हुकमचन्दजी भारिल्ल, 3. पण्डित प्रकाश दादाजी, 4–श्री रतनलाल बैनाड़ाजी की अध्यक्षता में चले चार विशिष्ट सत्रों से निषेचित ज्ञान–सामग्री को पुस्तकाकाररूप में शब्दांकन एवं सम्पादन के लिए मैंने डॉ. सुदीपजी से ही अनुरोध किया।

मुझे हर्ष है कि उन्होंने प्रभूत श्रम एवं निष्ठा के साथ मर्यादित समय–सीमा में 'संकायप्रमुख' (डीन) जैसे गुरुतर एवं समयसाध्य–कार्य का निर्वह्न करते हुए इसके सम्पादन में डॉ. राकेश शास्त्री एवं पण्डित देवेन्द्र जैन, का भी सम्पादन सम्बन्धी सहयोग रह से यह कृति तैयार की है।

आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि जिज्ञासुजनों से लेकर जनसामान्य तक सभी वर्गों के लिए यह कृति उपयोगी सिद्ध होगी।

— पवन जैन

लेखकीय

चिन्तन के प्रवाह एवं जीवन के अनुभवों को किसी परियोजना के अन्तर्गत मर्यादित कर शब्दांकित करना अपने आप में एक दुरूह कार्य है। इसकी कठिनाई तब और बढ़ जाती है, जब विविध प्रचलित मान्यताओं, रूढ़ियों एवं परम्पराओं में से किसी निश्चित-लक्ष्य को निर्धारित कर तथ्यात्मक रीति से अपनी बात भी प्रस्तुत करना हो और किसी के खण्डन-मण्डन के भय/आकर्षण से बचकर मात्र उस सत्य की प्रस्तुति करना हो, जिसका मूल 'अहिंसा' हो और जिसकी व्यावहारिक-परिणति परिग्रह-आडम्बर के आकर्षण से दूर रह सके।

अतः 'अहिंसामूलक' एवं 'अल्प-परिग्रह-साध्य' संस्कार-विधि को इस कृति में संजोने का लक्ष्य रखकर सम्पूर्ण प्रयत्न किया गया है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है कि सांसारिक गृहस्थजन अपने जीवन के प्रत्येक संस्कार को धार्मिक आस्था एवं तदनुकूल प्रयोगविधि से सम्पन्न करना चाहते हैं, किन्तु उसमें कभी तो परिग्रह का आकर्षण मूल-दृष्टिकोण को ही तिरोहित कर देता है। जिससे 'अहिंसा परमो धर्मः' की भावना गौण हो जाती है तथा वैभव-प्रदर्शन एवं तज्जन्य आत्ममुग्धता या अहंभाव हावी होने लगता है। ऐसा करने पर वह सभी लोगों के लिए अनुकरणीय नहीं रह जाता। शुद्ध-सादा द्रव्य से शान्तिपूर्वक पूजन करनेवालों की पूजन में भाव-विशुद्धि की जो सुगन्ध होती है, आडम्बर एवं वैभव प्रदर्शनवाली पूजा-विधियों को देखकर सामान्यजन भ्रमित हो जाए कि असली पुण्य विशुद्ध-भावोंवाली पूजा में है या वैभवशाली पूजा में ? उसे तो यही समझ में आता है कि जैसे अधिक खर्चवाले सांसारिक कार्यक्रम श्रेष्ठ होते हैं, वैसे ही अधिक धन-संसाधनवाली पूजा भी श्रेष्ठ होगी।

जब ऐसा अविवेक प्रधान होने लगता है, तो फिर हिंसाबहुल सचित्त–द्रव्यों का उपयोग पूजन आदि प्रशस्त–कार्यों में बढ़ने लगता है। हो भी क्यों न? **परिग्रह का आकर्षण ही तो हिंसा का मूल है।**

लोकप्रचलित कहावत है कि ''रूढिः शास्त्राद् बलीयसी'' अर्थात् रूढ़ि शास्त्र के ऊपर भारी पड़ती है। शास्त्र कितना ही अहिंसा एवं परिग्रह का प्रतिपादन करें, किन्तु लोक में रूढ़ि चल जाती है, लोग उसी का अनुसरण करते हैं। अतः लोक को रूढ़ि से हटाकर शास्त्रसम्मत–मार्ग पर लाना अपेक्षाकृत कठिन लक्ष्य था। ऐसे प्रतिपादन के लिए न केवल लोकोपयोगी –प्रतिपादन –शैली चाहिए, अपितु शास्त्रों के प्रमाणों की तार्किक प्रस्तुति भी अपेक्षित थी।

समस्या शास्त्रों के बारे में भी थी। क्योंकि 'आचार्य' उपाधि का प्रयोग करनेवाले कई भट्टारकों ने अपनी पुस्तकों में ऐसी हिंसामूलक–सचित्त–वस्तुओं, यहाँ तक कि अपवित्र चीजों तक का पुण्यकार्यों के निष्पादन में प्रावधान कर दिया है। अब सामान्यजन तो 'आचार्य' उपाधि से विरागी–सन्त ही समझते हैं, और उन बातों को प्रमाण मानकर उनका अनुसरण भी करने लगते हैं। तथा यह भी सत्य है कि पानी नीचे की ओर अपने आप बहने लगता है, उसे ऊँचाई की ओर लाने में अधिक श्रम व साधन अपेक्षित होते हैं। यही स्थिति धार्मिक श्रद्धा की भी है। वैभव, आडम्बरवाले कार्यों में रुचि होना सहज है, अतः उसकी ओर लोगों की प्रवृत्ति स्वभावतः होती है।

ऐसी स्थिति में यह लेखन का कठिन कार्य था। फिर भी पाँच माह तक मात्र स्वाध्याय–साधन द्वारा अपेक्षित–सामग्री का सङ्कलन किया व नोट्स लिए। उसके बाद 'वीरशासन जयन्ती' के

दिन वीरशासन (दिव्यध्वनि या जिनवाणी) के अनुरूप इसका लेखनकार्य आरम्भ किया। विघ्न–बाधाएँ तो सांसारिक जीवन का अङ्ग हैं ही, अतः उनकी उपेक्षा किये बिना कोई अच्छा कार्य गतिशील हो ही नहीं सकता है। इसी पद्धति को अपनाकर यह कृति मैं निर्धारित समय–सीमा में सुधी पाठकों के कर–कमलों में प्रस्तुत कर सका हूँ। वे ही स्वयं निर्धारण करेंगे कि इसकी उपादेयता एवं समसामयिकता कितनी है?

अन्ततः मैं अमृतचन्द्राचार्य के शब्दों में आत्म–निवेदन प्रस्तुत करता हूँ।

''**करकृतमपराधं क्षन्तुमर्हन्ति सन्तः**''

अर्थात् सज्जनन लोग मेरे लेखनकार्य में हाथ से हुए (लेखन –सम्बन्धी) अपराधों को क्षमा प्रदान करें।

सभी को सन्तुष्ट करना नितान्त–असम्भव कार्य है, अतः मैंने इस विवेचन में अहिंसामूलक अपरिग्रही धर्मविधि को सम्पुष्ट करना अपेक्षित रखा है। अतः यदि किसी को इसके विवेचन किसी पंथ या सम्प्रदाय को अनुरूप लगें, तो इसे किसी का पूर्वाग्रही समर्थन न माना जाये। इस विवेचन से आप जैनधर्म की अहिंसामूलक व अपरिग्रही संस्कारविधि के अनुरूप पहिचान सकते हैं।

मङ्गलायतन विश्वविद्यालय के प्रमुख आदरणीय भाई **श्री पवनजी** की प्रेरणा से ही यह कार्य आपके हस्तगत हो पा रहा है; अतः उनके प्रति कृतज्ञभाव अर्पित है। मेरी सहधर्मिणी डॉ. रंजना जैन ने इसके सामग्री–सङ्कलन एवं संयोजन में भरपूर श्रम किया है।

— सुदीप जैन

प्रस्तावना

जड़ से चेतन तक समस्त जगत् में 'संस्कार' का विशिष्ट-प्रभाव देखा जाता है। किसान जब संस्कार करता है,तो वह भूमि 'खेत' संज्ञा पाती है और उत्तम फल देने योग्य बनती है। कुम्हार जब संस्कार करता है, तो वही मिट्टी जो पानी से गल जाती थी, जल भरने योग्य घड़े का रूप ग्रहण कर लेती है। सुनार जब संस्कार करता है, तब वही सोना, जो स्वर्णपाषाण के रूप में अपनी पहिचान-विशेष भी जनसामान्य के बीच में नहीं रखता था, परिष्कृत होकर चमकदार, आकर्षण के योग्य बन जाता है और उसके बने आभूषणों को सभी बड़े चाव से अपने को अलंकृत करने के लिए उपयोग करते हैं। गेहूँ आदि अनाजों का संस्कार करके बनी रोटी अपने स्वाद व गुणवत्ता के कारण विश्वभर के लोगों की उदरपूर्ति का साधन बनती है। शिक्षा के संस्कार के बल पर 'कल का डाकू' 'आज का साधु' बन सकता है। उपेक्षित पाषाण को तराशकर उसे प्रतिमा का आकार देना भी जहाँ संस्कार है, वहीं उस 'प्रतिमा' में 'परमात्मा' का पूज्यत्व भी विशिष्ट-संस्कारों से ही माना जाता है।

प्रकृति के गुण प्रत्येक जड़ या चेतन पदार्थ में होते हैं, परन्तु उन गुणों की अभिव्यक्ति, पूर्णता व सफलता 'संस्कारों' के बिना नहीं होती है। उदाहराणस्वरूप जीव मात्र 'परमात्मस्वभावी' है, फिर भी संस्कार-साधना पूर्ण होने पर ही उसमें सिद्धत्व-दशा प्रकट होती है।

'संस्कार' शब्द को दो सन्दर्भों में परिभाषित किया गया है, एक 'ज्ञानात्मक संस्कार' जो कि स्मृति का कारण बनते हैं। इन्हें जैन-परम्परा में मतिज्ञान के भेदों में 'धारणा' संज्ञा दी गयी है। तथा

दूसरे 'चारित्रात्मक संस्कार', जो कि व्यक्ति के नैतिक एवं चारित्रिक संस्कारों से रहित या न्यून है, तो उसे 'संस्कारविहीन' ही लोक में कहा जाता है।

इसका विवरण हम प्राचीन -ग्रन्थों में इस प्रकार पाते हैं :

(क) ज्ञानात्मक संस्कार

(1) वस्तुस्वभावोऽयं यत् संस्कार स्मृतिबीजमादधीत॥

— (सिद्धिविनिश्चय, 1/6/34)

अर्थात् - यह वस्तु (आत्मवस्तु) का स्वभाव है कि संस्कार 'स्मृति' का बीज बन जाता है।

(2) आहितसंस्कारस्य कस्यचिच्छब्दग्रहणकाले एवं तद्र सादिप्रत्ययोत्पत्ति उपलम्भात्॥

— (धवला, 9/4/1)

अर्थात् - संस्कार-ग्रहण किए व्यक्ति को किसी स्वाद्य -पदार्थवाचक शब्द-विशेष के जानने के समय में ही उसके रस (स्वाद) आदि के ज्ञान की उत्पत्ति देखी जाती है।

(ख) चारित्रात्मक संस्कार

(1) निजपरमात्मनि शुद्धसंस्कार करोति स आत्मसंस्कारः।

— (पंचास्तिकायसंग्रह, तात्पर्यवृत्ति टीका, गाथा- 253)

अर्थात् - निजपरमात्मतत्त्व में जो शुद्ध संस्कार करता है, वही 'आत्मसंस्कार' है।

(2) ''एदेहिं जीवम्हि जणिदसंस्कारस्स अणंतेसु भवेसु अवट्ठाणब्भुवगमादो।'' — (धवला,8/3/36)

अर्थात् - इन कारणों से जीव में संस्कार उत्पन्न हो जाने पर अनन्त-भवों में अवस्थान का अभ्युपगम होता है।

(3) अविद्याभ्यास-संस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।
तदैव 'ज्ञानसंस्कारैः' स्वतत्त्वेऽवतिष्ठते॥

— (समाधितन्त्र, 37)

अर्थात् - अविद्या (मिथ्यात्व) के संस्कारों से मन अनियंत्रित होकर भटकता है, जबकि वही मन ज्ञान के संस्कारों (आत्मज्ञान या तत्त्वज्ञान के प्रभाव) से निज-आत्मतत्त्व में स्थिर/एकाग्र हो जाता है।

(4) जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रान्तिं भूयोऽपि गच्छति॥

— (समाधितन्त्र, 45)

अर्थात् - (सामान्यरूप से शास्त्रज्ञान द्वारा)आत्म-तत्त्व को जानते हुए भी, और उसकी (परद्रव्यों से) भिन्न भावना करते हुए भी पूर्वकाल के विभ्रम (मिथ्यात्व) के संस्कारों के कारण पुनः भ्रान्ति (आत्म-भ्रान्ति) को जीव प्राप्त करता है।

(5) सम्यग्दृष्टिस्तत्र (शुद्धात्मतत्त्वे) असमर्थः सन्............. परमभक्तिं करोति। तो....................पंचविदेहषु गत्वा समवसरणं..........पूर्वभव-भावित-विशिष्ट-भेदज्ञानवासना (संस्कार)-बलेन मोहं न करोति, ततो जिनदीक्षां गृहीत्वा मोक्षं गच्छति।

— (द्रव्यसंग्रह, गाथा 38 की टीका)

अर्थात् - असंयत-सम्यग्दृष्टि जीव उस शुद्धात्मतत्त्व में (निरन्तर एकाग्रता बनाने में) असमर्थ होता हुआ....................परम-भक्ति को करता है। उसके परिणामस्वरूप पाँच विदेहों में जाकर समवसरण के दर्शन करता है और पूर्वभव (असंयत-सम्यग्दृष्टि-अवस्था) में भाए गए विशिष्ट-भेदज्ञान के संस्कार के बल से वहाँ

मोक्ष नहीं करता है और जिनदीक्षा (निर्ग्रन्थ-मुनिदीक्षा) लेकर मोक्ष को प्राप्त करता है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि दोनों प्रकार के संस्कार जीवन में अपना मौलिक-स्थान रखते हैं।

एक तथ्य यह भी है कि उक्त दोनों प्रकार के संस्कारों में 'अच्छे' और 'बुरे' का वर्गीकरण भी प्रचलित है। अन्तर यह है कि ज्ञानात्मक संस्कारों में अच्छे या बुरे का आधार 'परिमाण' (मात्रा) के अधिक या कम होने से माना जाता है, जैसे कि किसी की स्मरणशक्ति अधिक है, तो उसे 'अच्छा' कहा जाएगा, और यदि किसी की कम या न्यूनतर है, तो उसे 'भुलक्कड़' आदि संज्ञाओं से तिरस्कृत किया जाता है। जबकि 'चारित्रात्मक संस्कारों' में परिमाण (मात्रा) का विशेष महत्त्व नहीं होकर गुणवत्ता (Quality) को अच्छे या बुरे का आधार बनाया जाता है। जैसे सदाचरण की मात्रा कम भी हो, तो उसे 'सदाचारी' कहा जाएगा, जैसे-'अणुव्रती' तथा दुराचरण कम हों या ज्यादा, उसे 'दुराचारी' या 'बुरा व्यक्ति' ही का जाएगा।

यहाँ एक और तथ्य विचारणीय है, वह है कि किसी भी लौकिक या धार्मिक लोकरूढ़ि (टोना-टोटका या लौकिक-परम्परा) का हम 'संस्कार' की श्रेणी में नहीं ले सकते हैं। भले ही वे कितनी ही प्रचलित क्यों न हों और उनके अनुयायी कितने अधिक क्यों न हों। इसे विषय में ई.पू. तृतीय शताब्दी के सम्राट् अशोक से शिलालेखों से आगत एक तथ्य मैं यहाँ प्रस्तुत करना चाहता हूँ -

'जने उचावचं मंगलं करोते, आबाधासु विवाहेसु प्रजोपतये पवासम्हि एतये अण्णे च एदिशये....बहुं च बहुविधं च छुदं च निरथं च मंगलं करोते। अपफले चु खो एते। इयं चु

खो महाफले धंममंगले।''

अर्थ : लोग छोटे-बड़े (अनेक प्रकार के) मङ्गल करते हैं, चाहे वह कोई परेशानी की स्थिति हो, (पुत्र-पुत्री का) विवाह आदि हो, सन्तान का जन्म हो, प्रवास पर जाना हो-इनमें व इसी प्रकार के अन्य प्रसङ्गों में अनेक व अनेक प्रकार के क्षुद्र (तुच्छ) व निरर्थक मङ्गल करते हैं। ये सभी तुच्छ-फल वाले हैं। इनकी तुलना में 'धर्ममङ्गल' महान् फल देनेवाला है।

इस कथन के बड़ गहरे रहस्य छुपे हुए हैं। आज से लगभग 2300 वर्ष पूर्व अशोक ने हमारे धर्म एवं लोक के नाम पर चलने वाले अनेकों-निरर्थक क्रियाकाण्डों एवं लोकरूढ़ियों को 'अनावश्यक' प्रतिपादित कर दिया था।

विडम्बना की बात तो यह है कि जैसे भोले कालिदास को पण्डितों ने सुसज्जित कर पण्डित दिखा दिया था तथा उसके अज्ञानतापूर्ण-संकेतों की पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत कर दी थी, इसी प्रकार आज के तथाकथित पण्डितजन भी अनेकों मिथ्यात्ववर्धक, हिंसाबहुल एवं परिग्रहमूलक धार्मिक एवं लौकिक रूढ़ियों की तार्किक व्याख्यायें प्रस्तुत कर रहे हैं। इन सबसे बचकर जीवन को वस्तुतः संस्कारित करने वाले कार्यों एवं उनकी विधियों को प्रस्तुत किया जाना तथा उनका औचित्य सिद्ध करना वास्तव में वर्तमान युग की महती अपेक्षा है। क्योंकि अशोकयुगीन उन निरर्थक रूढ़ियों एवं क्रियाकाण्डों में आज तक बढ़ोत्तरी ही हुई है, कमी नहीं; अतः वास्तविक धार्मिक संस्कार क्या हैं, जो व्यक्ति के जीवन को 'महान् फल देनेवाले हैं, इनका विवेचन आज की बड़ी माँग है।

वैदिक परम्परा में दो वर्ग चले, एक ने तात्त्विक चिन्तन को प्रधान माना, तो दूसरे ने बाहरी कर्मकाण्डों को बढ़ावा दिया। लगभग

ऐसी ही स्थिति जैन-परम्परा में भी देखने को मिलती है। यह स्थिति समीक्षा करने योग्य है।

व्यक्ति के विचारों को कुछ संस्कार देनेवाली अनिवार्य-विधियों का भी तिरस्कार नहीं होने चाहिए, और व्यक्ति को धर्म-कर्म के नाम पर तत्त्वज्ञान-शून्य बनाकर कोरे कर्मकाण्डों में भी नहीं उलझा देना चाहिए। यही संस्कार-विवेचन का संतुलित लक्ष्य होना चाहिए।

एक प्रश्न स्वभाविक है कि क्या शरीर और संयोगी पदार्थों, जो सभी जड़ हैं, से किए गये कार्यों का आत्मिक भावों पर ऐसा विशिष्ट प्रभाव पड़ सकता है ? जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता नहीं है, तो इनसे क्या प्रभाव होगा ? और इनकी आवश्यकता क्या है ?

इसका उत्तर समझने के लिए पहिले मैं आचार्य उमास्वामी के 'सूत्र' को प्रस्तुत करना चाहता हूँ, जिसमें उन्होंने जीव और पुद्गल (जड़) के पारस्परिक निमित्त-नैमित्तिक प्रभाव का उल्लेख किया है-

"**सुख-दुःख-जीवित-मरणोपग्रहाश्च।**"(तत्त्वार्थसूत्र 5/20)

अर्थात् पुद्गलद्रव्य जड़ होकर भी संसारी-जीवों में सुख (इन्द्रियसुख) दुःख, जीवन एवं मरण आदि के निमित्त बनते हैं।

पण्डितप्रवर टोडरमलजी भी लिखते हैं -

"जीव और पुद्गल के परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बहुत हैं।" - (मोक्षमार्ग प्रकाशक)

सामान्यजनों में अच्छे दृश्य को देखकर मन में विचारों का प्रसन्न होना तथा भय, जुगुप्साकारी दृश्यों अथवा अश्लील-चित्रों को देखकर मन में वैसे विकार उत्पन्न होना प्रायः सभी के अनुभवगम्य हैं। हमारे यहाँ मूर्तिपूजा का विधान भी इसी-दृष्टि को केन्द्र में

रखकर किया गया है। मनीषीगण लिखते हैं –

''आत्मसंस्कारानि वै शिल्पानि।''

अर्थात् मूर्तिशिल्प (प्रतिमा) आदि भी आत्मा पर संस्कार उत्पन्न करते हैं। दूसरे रूप में कहें, तो व्यक्ति आत्मिक संस्कारों के अनुरूप ही शिल्पों का चयन करता है और उनसे अपने संस्कारों की पुष्टि करता है। निराभरण, प्रशान्तमुद्रा वाले जिनबिम्ब का प्रभाव भी विकारों से रहित होने की ओर ले जाता है। कविवर दौलतराम जी ने 'देवस्तुति' में लिखा है –

''जय परमशान्त-मुद्रा समेत,
भविजन को निज-अनुभूति-हेत।''

जब तक जीव संसार-अवस्था में राग-द्वेष-मोह के परिणामों से युक्त है, तब तक जड़ के निमित्त से भी उसके परिणाम प्रभावित होते हैं। और इन्हीं प्रभावों की सामान्य-संज्ञा 'संस्कार' है।

यह बात अलग है कि नैतिकता की दृष्टि से मात्र जीव को हितकारी अच्छे प्रभावों को ही हम 'सुसंस्कार' शब्द से अभिहित करते हैं तथा बुरे प्रभावों को 'कुसंस्कार' शब्दों से भी जाना जाता है। किन्तु प्रस्तुत-प्रसङ्ग में 'संस्कार' पद का नैतिक दृष्टि से अच्छे प्रभाववाला अर्थ ही अभीष्ट है।

भारतीय परम्परा आत्मा के अनादि-निधन अस्तित्व में विश्वास करती है। अतः संस्कार पूर्वभव से चले आए भी माने जाते हैं। वस्तुतः वे कर्मबन्ध और उदय की स्थिति के अनुरूप होते हैं। क्षयोपशमज्ञान की यह विशेषता है कि पूर्वजन्म की बात तक जब प्रायः याद नहीं रहती, तो संस्कार कैसे और कितने स्मरण में शेष रह सकते हैं? हाँ! वर्तमान-भव में गर्भावस्था से लेकर जीवनपर्यन्त की बातों/घटनाओं का प्रभाव मनुष्य-जीवन में देखा जाता है। अतः

संस्कारों के लिए गर्भावस्था से लेकर यावज्जीवन (यहाँ तक मरणोपरान्त भी कुछ सीमा तक) विषयक्षेत्र माना जाता है और इसी विषयक्षेत्र में संस्कारों की व्याख्या अभीष्ट मानी जाती है।

जैन-परम्परा के समस्त संस्कारों का उद्देश्य व्यक्ति को नैतिक एवं **आध्यात्मिकरूप** से सन्मार्ग पर स्थिर करना, **मनोवैज्ञानिकरूप** से उसे मजबूत बनाकर उच्च-लक्ष्य की ओर गतिशील करना तथा **सामाजिकरूप** से अनावश्यक हिंसाबहुल एवं बहुपरिग्रही प्रक्रियाओं से बचाकर सात्त्विक-विधि से लोक में आदर्श प्रस्तुत करना रहा है।

जैसाकि लोकप्रचलित नीतिवाक्य है कि ''उच्च-लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पवित्रतर-साधनों का अवलम्बन अनिवार्य है।'' इसकी उत्कृष्ट-परिणति जैनपरम्परा के संस्कारों में पायी जाती है। सम्भवतः यही कारण है कि जैनपरम्परा चिरकाल से अनवरत प्रवाहशील बनी हुई है। लोकमान्य तिलक ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है-

''ग्रन्थों तथा सामाजिक व्याख्यानों से माना जाता है कि जैनधर्म अनादि है। यह निर्विवाद एवं मतभेद-रहित है। सुतरां इस विषय में इतिहास के दृढ़ सबूत हैं।''

– ('केसरी' 12 दिस. 1940 का अङ्क, पूना)

न केवल दार्शनिक चिन्तन एवं चर्या में, बल्कि लौकिक जीवन-व्यवहार में भी जैन-परम्परा की मौलिक पहिचान जैन-संस्कारों की सुदीर्घ एवं अनवरत-परम्परा की जीवन्त-प्रमाण है।

—सुदीप जैन

बी-32, छत्तरपुर एक्सटेंशन,

नयी-दिल्ली -110074,

मोबाइल = 09810660657, दूरभाष = 011-26807585 (निवास)

विषयानुक्रम

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ-संख्या
1.	प्रकाशकीय	
2.	लेखकीय	
3.	प्रस्तावना	
4.	**प्रथम खण्ड**	
	(i) त्रिविध क्रियायें	
	(ii) गर्भान्वय की 53 क्रियायें	
	(iii) दीक्षान्वय की 48 क्रियायें	
	(iv) कर्त्रन्वय की 7 क्रियायें	
	(v) तीनों प्रकार की क्रियाओं का पुनः वर्गीकरण	
	(vi) समीक्षा	
	(vii) गर्भक्रिया-संस्कार	
	(viii) जन्मक्रिया-संस्कार	
	(ix) विवाह-संस्कार	
	(x) मरणोपरान्त-संस्कार	
	(xi) देवदर्शनपूजन-संस्कार	
	(xii) सल्लेखना-संस्कार	
	(xiii) सूतक-पातक-संस्कार	
	(xiv) स्त्रीधर्म विशेष-संस्कार	
	(xv) स्वाध्याय-संस्कार	
	(xvi) धर्मप्रभावना-संस्कार	
	(xvii) माता-पिता के प्रति व्यवहार	
	(xviii) जैनपरम्परा में वास्तु	
	(xix) जैनपरम्परा में ज्योतिष	
	(xx) जैनपर्व-संस्कार	
5.	**द्वितीय खण्ड**	
6.	**तृतीय खण्ड**	
7.	**प्रथम परिशिष्ट**	
8.	**द्वितीय परिशिष्ट**	
9.	**तृतीय परिशिष्ट**	

प्रथम - खण्ड

जैन–परम्परा में 'संस्कार'

जैन–परम्परा में संस्कारों का इतिवृत्त अत्यन्त प्राचीन है तथा इनकी विश्वभर में मौलिक पहिचान भी है। वर्णन की दृष्टि से देखें, तो प्रायः सभी प्राचीन–ग्रन्थों में किसी रूप में किसी न किसी संस्कारों का वर्णन है। किन्तु इन्हें लक्षित कर प्रथमतः वर्णन आचार्य जिनसेन–प्रणीत 'महापुराण' ग्रन्थ में प्राप्त होता है। वहाँ इनके विषय में 'तीन प्रकार की क्रियायें' कहकर जैन–परम्परा के संस्कारों को वर्गीकृतरूप में संजोने का प्रयास किया गया है। वे हैं –

''ताश्च क्रियास्त्रिधाऽम्नाताः श्रावकाध्याय–संग्रहे।
सद्दृष्टिभिरनुष्ठेया महोदकयाः शुभावहाः॥''

—(महापुराण, 38/50)

अर्थ — श्रावकों के कार्यों का विवेचन करते समय वे क्रियायें तीन प्रकार की बताई गई हैं। ये क्रियायें सम्यग्दृष्टि जीवों के द्वारा अनुष्ठान करने योग्य हैं, ये महान् भाग्य से होती है तथा शुभफल देनेवाली हैं।

''गर्भान्वयक्रियाश्चैव तथा दीक्षान्वयक्रियाः।
कर्त्रन्वयक्रियाश्चेति तास्त्रिधैव बुधैर्मताः॥''

—(वही, 38/51)

अर्थ — वे तीन प्रकार की क्रियायें (1) गर्भान्वय क्रियायें, (2) दीक्षान्वय क्रियायें, (3) कर्त्रन्व्य क्रियायें – नामों से विद्वानों ने स्वीकार की है।

इनमें 'गर्भान्वय की क्रियायें' **तिरेपन (53)** मानी गयी हैं,

'दीक्षान्वय की क्रियायें' **अड़तालीस (48)** मानी गयी हैं तथा 'कर्त्रन्व्य की क्रियायें' **सात (7)** मानी गयी है।

यहाँ इतना विशेष है कि दीक्षान्वय की मात्र 19 ही क्रियायें अलग से वर्णित की गयी हैं, शेष से 20 से 48 तक की क्रियायें वे ही हैं, जो गर्भान्वय-क्रियाओं में 25 से 53 तक के क्रम में वर्णित हैं।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में यह स्पष्टरूप से जानने योग्य है कि **ये सभी क्रियायें मुख्यतः तीर्थङ्करों को लक्षित करके बतायी गयीं हैं और ये मनुष्यरूप में जन्म से लेकर 'सिद्धपद' की प्राप्ति-पर्यन्त अपनी अनवरतता और सार्थकता बताने की चेष्टा करती प्रतीत होती हैं।** मात्र सामान्य गृहस्थजीवन तक सीमित रहना व सीमित रखना इनका लक्ष्य नहीं है।

जबकि **इस पुस्तक के लेखन का लक्ष्य वर्तमानकाल के सामान्य अविरति-गृहस्थों को उनके जीवनोपयोगी संस्कारों तथा उनकी परम्परा एवं विधियों का परिचय देना है।** अतः शास्त्र के वर्णन से अपने प्रयोजन-मात्र की क्रियायें छाँटकर उनकी व्याख्या यहाँ की जाएगी। यहाँ तक कि आज की प्रासङ्गिक परिस्थितियों के अनुसार कुछ अतिरिक्त बातें भी विवेकपूर्णरीति से बतायी जायेंगी। फिलहाल यह जरूरी है कि शास्त्रों में उल्लिखित क्रियाओं के नामों का वर्गीकृतरूप से परिचय जाना जाए। अतः प्रथमतः यह वर्णन यहाँ प्रस्तुत है –

गर्भान्वय की 53 क्रियायें

(1) गर्भाधान-क्रिया — ऋतुस्नान के पश्चात् अर्हन्तदेव की पूजा करके, प्रशान्त-भाव से जो संस्कार किया जाता है, उसे 'आधान-क्रिया' या 'गर्भाधान-क्रिया' कहते हैं।

(2) प्रीति-क्रिया — गर्भाधान के बाद तृतीय माह में विधिपूर्वक, अर्हन्त भगवान की पूजा कर जो जिनेन्द्र भगवान् की प्रीतिपूर्वक आराधना की जाती है, उसे 'प्रीति-क्रिया' कहते हैं। इसके बाद मङ्गलवाद्य बजवाना शुभ माना जाता है।

(3) सुप्रीति-क्रिया — गर्भाधान के पाँचवें महीने में पुनः और विशेष प्रीति एवं उत्साहपूर्वक जिनेन्द्र-अर्चनाविधि करना 'सुप्रीति-क्रिया' कहलाती है।

(4) धृति-क्रिया — गर्भाधान के सातवें महीने में शारीरिक विषमता से परिणाम विचलित न हों, अतः धैर्य धारण करते हुए वीतराग-जिनेन्द्र की पूजा करना 'धृति-क्रिया' है।

(5) मोद-क्रिया — गर्भाधान के नौंवे महीने में पीड़ा का विस्मरण कराते हुए गर्भवती को जिनेन्द्रदेव की पूजन कराके मङ्गलाभूषण आदि पहिनाकर चित्त को प्रसन्न रखने की विधि को 'मोद-क्रिया' कहा गया है।

(6) प्रियोद्भव-क्रिया — सन्तान की प्रसूति हो जाने पर भारी धर्मप्रभावनारूप आयोजन कराना 'प्रियोद्भव-क्रिया' है।

(7) नामकर्म-क्रिया — सन्तान के जन्म के बारहवें दिन विद्वानों की सन्निधि में भगवान् के 1008 नामों में से या अन्य कोई शुभ-नाम रखना 'नामकर्म-क्रिया' है।

(8) बहिर्यान-क्रिया — जन्म के 3 या 4 माह बाद बालक को प्रसूतिगृह से बाहर ले जाकर उसके निमित्त धर्मप्रभावना के कार्य व दान आदि करना 'बहिर्यान-क्रिया' है।

(9) निषद्या-क्रिया — बहिर्यान-क्रिया के उपरान्त (लगभग 6 माह का हो जाने के बाद) बालक को सिद्ध-भगवान्

की पूजाविधि करके स्वच्छ-आसन पर बैठाने की क्रिया को 'निषद्या-क्रिया' कहते हैं।

(10) अन्नप्राशन-क्रिया — जन्म के 7-8 माह पश्चात् विधिपूर्वक जिनेन्द्रपूजन व धर्मप्रभावना करके बालक की पुष्टि के लिए माँ के दूध के अतिरिक्त प्रथम बार अन्न (अनाज) से निर्मित कोई सात्त्विक एवं पौष्टिक लेह्यपदार्थ (चाटकर खाने योग्य चबाना पड़े-ऐसा नहीं।) खिलाने को 'अन्नप्राशन-क्रिया' कहते हैं।

(11) व्युष्टि-क्रिया — सन्तान के एक वर्ष का हो जाने पर उत्साहपूर्वक जिनेन्द्रपूजन एवं धर्मप्रभावना, सुपात्रदान आदि करते हुए बालक को 'वर्धापन' आशीष देना 'व्युष्टि-क्रिया' है। इसे 'वर्षवर्धन-क्रिया' या 'वर्षगाँठ' भी कहते हैं।

(12) केशवाप-क्रिया — वर्षपूर्ति के उपरान्त किसी अनुकूल-अवसर पर गर्भागत-बालों को उतरवाते हुए ''तूँ निर्ग्रन्थ-मुनि बने, केशलोंचन कर 'मुण्डक' बने'' - ऐसी भावनापूर्वक उसके बाल उतरवाना 'केशवाप-क्रिया' है।

(13) लिपि-संख्यान-क्रिया — बालक के सामान्य अध्ययन-योग्य हो जाने पर उसे साथ लेकर जिनेन्द्र-पूजा करायें और फिर गृहस्थ शिक्षागुरू (आधुनिक सन्दर्भ में 'क्रैच' या 'नर्सरी स्कूल' में) के पास लिपिज्ञान एवं शब्दोच्चारण-ज्ञान आदि के लिए भेजना 'लिपि-संख्यान-क्रिया' है। इसमें सर्वप्रथम 'ॐ नमः सिद्धं' लिखाने व कहलाने का विधान है।

(14) उपनीति-क्रिया — प्राचीन परम्परानुसार आठवें वर्ष में (आधुनिक परम्परानुसार पाँचवें वर्ष में) विधिपूर्वक पूजन, नीति-उपदेश आदि करके उसे गुरुकुल (आधुनिक सन्दर्भ में किसी अच्छे सदाचारी बोर्डिंग स्कूल में) में विधिवत् अध्ययन के

लिए प्रविष्ट कराना 'उपनीति-क्रिया' है।

(15) व्रतचर्या-क्रिया — सात्त्विक जीवनचर्यापूर्वक गुरुमुख से सर्वप्रथम आचारशास्त्र, फिर अध्यात्मशास्त्र की शिक्षा लेने के बाद अन्य किसी भी मानविकी, तकनीक या अन्य अपेक्षित जीवानोपयोगी विषय की शिक्षा अहिंसकाचरण के नियमपूर्वक लेना 'व्रतचर्या-क्रिया' है।

(16) व्रतावरण-क्रिया — शिक्षणकार्य पूर्णकर लेने पर (लगभग 16-18 वें वर्ष में) गुरु-साक्षी में जिनेन्द्रदेव की विशेष पूजा-विधि करके धर्म-प्रभावनाकार्य करते हुए छात्रजीवन के कठिन-संकल्पों के स्थान पर श्रावकोचित अष्ट-मूलगुणों को ग्रहण करना 'व्रतावरण-क्रिया' है।

(17) विवाह-क्रिया — विवाह की इच्छा होने पर जिनेन्द्रपूजन आदि विधिपूर्वक कुलीन-कन्या से श्रेष्ठजनों की सन्निधि में विवाह करना 'विवाह-क्रिया' है। विवाह के बाद प्रथम सात दिन दम्पत्ति धर्माचरणपूर्वक तीर्थयात्रादि शुभकार्य करें- ऐसा धर्मग्रन्थों का निर्देश है। यह कार्य वर्तमान संविधान के अनुसार लड़की के 18 वर्ष एवं लड़के के 21 वर्ष का हो जाने के बाद ही किया जाना चाहिए।

(18) वर्णलाभ-क्रिया — विवाह के कुछ दिन बाद पिता पुत्र को अपेक्षित सम्पत्ति आदि देकर स्वतन्त्र करता हुआ धर्म एवं नीतिपूर्वक जीवनयापन करने के लिए अलग रहने को कहता है। यह 'वर्णलाभ-क्रिया' है।

(19) कुलचर्या-क्रिया — जैन कुल-परम्परा (शुद्ध आम्नाय) के अनुरूप जब वह दम्पत्ति गृहस्थोचित षट्-आवश्यक

आदि कार्यों को नियमित विधिपूर्वक आचारण करता है, उसे 'कुलचर्या-क्रिया' कहते हैं।

(20) गृहीशता-क्रिया — अपने सदाचरण से जब वह दम्पत्ति अन्य गृहस्थजनों में सम्मान के योग्य बन जाता है, उसे 'गृहीशता-क्रिया' कहते हैं।

(21) प्रशान्ति-क्रिया — अपनी सन्तान को गृहस्थी का दायित्व (व्यापार आदि) सौंपकर स्वयं विशेष-धर्माचरण करते हुए शान्त-जीवन बिताने लगना 'प्रशान्ति-क्रिया' है।

(22) गृहत्याग-क्रिया — गृहस्थाश्रम के दायित्व पूर्ण कर लेने के बाद उत्तराधिकारी को सम्पूर्ण घर-गृहस्थी की जिम्मेवारी देकर धर्माचरण के निमित्त घर छोड़ देना 'गृहत्याग-क्रिया' है।

(23) दीक्षाद्य-क्रिया — 'क्षुल्लक' आदि व्रतरूप उत्कृष्ट श्रावक-पद की दीक्षा लेना 'दीक्षाद्य-क्रिया' है।

(24) जिनरूपता-क्रिया — व्रताचरण का अभ्यास-विशेष करके वैराग्यवृत्ति अधिक होने पर क्रमशः दिगम्बर-मुनिदीक्षा अङ्गीकार करना 'जिनरूपता-क्रिया' है।

(25) मौनाध्ययनवृत्ति-क्रिया — निर्ग्रन्थ गुरु की सन्निधि में मौनसाधनपूर्वक शास्त्राध्ययन करना (अर्थात् शास्त्रज्ञान की वाचालता प्रकट नहीं करना) 'मौनाध्ययनवृत्ति-क्रिया' है।

(26) तीर्थकृद्भावना-क्रिया — तीर्थङ्कर-पद की कारणभूत षोडशकारणभावनाओं को चिन्तन करना (उन्हें भाना) 'तीर्थकृद्भावना-क्रिया' है।

(27) गुरुस्थान - अभ्युपगमन क्रिया — जब गुरु उसे योग्य समझकर स्वयं प्रसन्नतापूर्वक 'आचार्य' - पद प्रदान करें, तो

उसे विनयपूर्वक स्वीकार करना 'गुरुस्थान-अभ्युपगमन-क्रिया' है।

(28) गणोपग्रहण-क्रिया — आचार्य-पद पर स्थित होकर संघ के सभी दायित्व-निर्वहन करना 'गणोपग्रहण-क्रिया' है।

(29) स्वगुरूस्थानावाप्ति-क्रिया — वय:विशेष को प्राप्त होने पर अपने गुरू की भाँति किसी योग्य शिष्य को संघ का दायित्व सौंप देना 'स्वगुरूस्थानावाप्ति-क्रिया' है।

(30) नि:संगत्वभावना-क्रिया — संघ का भी आकर्षण छोड़कर सर्वविध-ममत्व त्यागकर उत्कृष्ट चारित्र को अङ्गीकार करना 'नि:सङ्गत्वभावना-क्रिया' है।

(31) योगनिर्वाण-सम्प्राप्ति क्रिया — अन्त-समय निकट जानकर वैराग्य की उत्कर्षतापूर्वक बारहभावनाओं का चिन्तवन करते हुए सल्लेखनापूर्वक शरीर त्यागने के संकल्प लेना और फिर समताभावपूर्वक शरीर को क्रमश: कमजोर (वैज्ञानिक विधि से अनावश्यक चर्बी आदि घटाना)करना (ताकि मरणान्तबेला में वात-पित्त-कफ की बाधा न हो), 'योग-निर्वाण-सम्प्राप्ति-क्रिया' है।

(32) योगनिर्वाण-साधन-क्रिया — अन्त-समय आ गया जानकर साक्षात् समाधि में स्थित हो जाना 'योगनिर्वाण -साधनक्रिया' है।

(33) इन्द्रोपपाद-क्रिया — उक्त श्रेष्ठ तप के प्रभाव से वैमानिक देवों में इन्द्र के रूप में जन्म होना 'इन्द्रोपपाद-क्रिया' है।

(34) इन्द्राभिषेक-क्रिया — उस 'इन्द्र' का देवों द्वारा अभिषेक किया जाना 'इन्द्राभिषेक-क्रिया' है।

(35) विधिदान-क्रिया — 'इन्द्र' बनकर देवों को उनके

पदों पर नियुक्त करना 'विधिदान-क्रिया' है।

(36) सुखोदय-क्रिया — इन्द्र के योग्य सुखों को चिरकाल तक भोगना 'सुखोदय-क्रिया' है।

(37) इन्द्र-त्याग-क्रिया — देवायु पूर्ण होने पर शान्तभाव से दिव्य-वैभव को त्यागकर, देवों को सदुपदेश देकर देवलोक से च्युत होना 'इन्द्र-त्याग-क्रिया' है।

(38) इन्द्रावतार-क्रिया — सिद्धों को प्रणाम करके 16 स्वप्नों द्वारा माता को अपने अवतरण के सूचना देना 'इन्द्रावतार-क्रिया' है।

(39) हिरण्योकृष्ट-जन्मता-क्रिया — गर्भावतरण के छह माह पहिले से दिव्य सुवर्ण-रत्न आदि की वर्षावाले भवन में शुद्धगर्भवाली माता के गर्भ में जन्म लेना 'हिरण्योकृष्ट-जन्मता -क्रिया' है।

(40) मन्दराभिषेक-क्रिया — जन्मते ही नवजात -शिशु का इन्द्र द्वारा सुमेरु-पर्वत पर अभिषेक किया जाना 'मन्दराभिषेक-क्रिया' है।

(41) गुरूपूजन-क्रिया — बिना शिक्षा-ग्रहण किये ही तीनों लोकों के गुरू के रूप में पूजे जाना 'गुरूपूजन-क्रिया' है।

(42) यौवराज्य-क्रिया — जिनेन्द्रपूजन-विधिपूर्वक 'युवराज' के रूप में अभिषेक किया जाना 'यौवराज्य-क्रिया' है।

(43) स्वराज्य-क्रिया — 'राजा' के रूप में अभिषिक्त होना 'स्वराज्य-क्रिया' है।

(44) चक्रलाभ-क्रिया — चक्रवर्ती-पद के प्रतीक चक्ररत्न आदि 14 रत्नों एवं नवविधियों की प्राप्ति होना 'चक्रलाभ

-क्रिया' है।

(45) दिशांजय-क्रिया — षट्खण्ड-विजयपूर्वक चक्रवर्तित्व पूर्ण करना 'दिशांजय-क्रिया' है।

(46) चक्राभिषेक-क्रिया — दिग्विजय पूर्णकर राजधानी लौटने पर नगरजनों द्वारा चक्रवर्ती की वन्दना करना एवं पादाभिषेक करना 'चक्राभिषेक-क्रिया' है।

(47) साम्राज्य-क्रिया — नीतिपूर्वक राज्यकार्य-निर्वहण करना 'साम्राज्य-क्रिया' है।

(48) निष्क्रान्ति-क्रिया — वैराग्यपूर्वक राजपाट त्यागकर लौकान्तिक देवों से अनुमोदित होकर पञ्चमुष्टि-केशलोंचपूर्वक सिद्धसाक्षी दिगम्बर-मुनिदीक्षा अङ्गीकार करना 'निष्क्रान्त-क्रिया' है।

(49) योगसम्मह-क्रिया — विशिष्ट ध्यान-योगपूर्वक केवलज्ञान की प्राप्ति होना 'योगसम्मह-क्रिया' है।

(50) आर्हन्त-क्रिया — अर्हन्तपद प्राप्त होने पर इन्द्र द्वारा 'समवसरण-सभा' रचना होकर शतेन्द्र-पूज्यता प्रकट होना 'आर्हन्त-क्रिया' है।

(51) विहार-क्रिया — धर्मचक्र को अग्रगामी करके भव्यजीवों के पुण्ययोग से समवसरणसहित विहार किया जाना 'विहार-क्रिया' है।

(52) योगत्याग-क्रिया — तीनों योगों का पूर्ण-निरोध कर निश्चल-दशा को प्राप्त होना 'योगत्याग-क्रिया' है।

(53) अग्रनिर्वृत्ति-क्रिया — अघातियाकर्मों का भी नाशकर शरीर-मुक्त होकर अविनाशी सिद्धपद को प्राप्त होना

'अग्रनिर्वृत्ति-क्रिया' है।

इस प्रकार से गर्भान्वय की 53 क्रियायें संक्षिप्तरूप से वर्णित हैं।

दीक्षान्वय की अड़तालीस (48) क्रियायें

व्रत को धारण करने के लिए तत्पर व्यक्ति-विशेष की प्रवृत्ति से सम्बन्धित क्रियाओं को 'दीक्षान्वय-क्रियायें' कहते हैं। इनके 48 प्रकार माने गए हैं। इनके लक्षण निम्नानुसार हैं —

(1) अवतार-क्रिया — समस्त प्रकार मिथ्यात्व छोड़कर जब कोई भव्यजीव ज्ञानीगुरू के पास जाकर धर्मलाभ प्राप्त करता है, तब गुरू ही उसका पिता है एवं तत्त्वज्ञान के संस्कार ही उसकी 'गर्भावस्था' है, जिससे उसके जीवन में भव्यत्व का अवतरण होता है, यही 'अवतार-क्रिया' है।

(2) वृत्तिलाभ-क्रिया — गुरू द्वारा प्रदत्त-व्रतों को अङ्गीकार करना 'वृत्तिलाभ-क्रिया' है।

(3) स्थानलाभ-क्रि या — जिनमन्दिर में 'समवसरणपूजा-विधान' करके गृहस्थाचार्य उसे व्यक्ति के मस्तक का स्पर्श 'पञ्चमुष्टिकेशलोंच' के भावी-भाव करे तथा उसे श्रावक के व्रत विधिवत् अङ्गीकार कराना 'स्थानलाभ-क्रिया' है।

(4) गणग्रहण-क्रिया — मिथ्यात्ववर्धक रागी देवी -देवताओं से चित्त को हटाकर मात्र वीतरागी-देव-गुरु-शास्त्र के प्रति निष्ठा व नियमपूर्वक समर्पित होने का संकल्प जीवनपर्यन्त के लिए लेना 'गणग्रहण-क्रिया' है।

(5) पूजाराध्य-क्रिय — जिनेन्द्रदेव की पूजा करके

ज्ञानीजनों के मुख से जिनवाणी का मर्म सुनना 'पूजाराध्य-क्रिया' है।

(6) पुण्ययज्ञ-क्रिया — साधर्मीजनों से चौदहपूर्वों का स्वाध्याय करना 'पुण्ययज्ञ-क्रिया' है।

(7) दृढ़चर्या-क्रिया — जिनवाणी के अर्थ का अवधारण करके वीतरार्ग-धर्म में दृढ़श्रद्धान बढ़ाना 'दृढ़चर्या-क्रिया' है।

(8) उपयोगिता-क्रिया — पर्व के दिनों (अष्टमी, चतुर्दशी आदि) उपवास करके रात्रि में प्रतिमायोग धारण कर धर्मध्यान करना 'उपयोगिता-क्रिया' है।

ये आठ क्रियायें ही अलग से व्याख्यान-योग्य है। इसके बाद गर्भान्वय की 14वीं क्रिया (उपनीति-क्रिया) से लेकर 25 वीं (मौनाध्ययनवृत्ति-क्रिया) तक ही 12 क्रियायें मिलकर 20 क्रियायें हो जाती हैं। तथा शेष गर्भान्वयक्रियायें (25 से 53 तक) इसमें जोड़कर कुल अड़तालीस (48) दीक्षान्वय-क्रियायें हैं।

कर्त्रन्वय की सात (7) क्रियायें

'कर्त्रन्वय' की क्रियायें वे हैं, जो कि पुण्यशाली जीवों को प्राप्त होती हैं और इन्हें करते हुए वे जीव समीचीन-मोक्षमार्ग में अग्रसर होते हैं। ये क्रियायें सात (7) मानी गयी हैं। इनमें नाम व लक्षण निम्नानुसार हैं —

(1) सज्जाति-क्रिया — रत्नत्रय की प्राप्ति की सहज कारणभूत मनुष्य-गति में उत्तम जैनकुल में जन्म लेकर जैनत्व के संस्कार जन्मतः ही प्राप्त कर पाना 'सज्जाति-क्रिया' है।

(2) सद्गृहित्व-क्रिया — गृहस्थोचित लौकिक एवं धार्मिक ज्ञान को प्राप्त करके सदाचरणपूर्वक गृहस्थजीवन-यापन

करना ‘सद्गृहित्व-क्रिया’ है।

(3) पारिव्राज्य-क्रिया — वैराग्य-प्राप्ति होने पर दिगम्बर-मुनिदीक्षा अङ्गीकार करना ‘पारिव्राज्य-क्रिया’ है।

(4) सुरेन्द्रता-क्रिया — दीक्षापूर्वक तपसाधना के पुण्ययोग से मरणोपरान्त देवेन्द्र-पद को प्राप्त करना ‘सुरेन्द्रता-क्रिया’ है।

(5) साम्राज्य-क्रिया — तदन्तर अगले भव में चक्रवर्ती के साम्राज्य को प्राप्त करना ‘साम्राज्य-क्रिया’ है।

(6) आर्हन्त्य-क्रिया— वैराग्य प्राप्तकर, राजपाट-त्यागकर मुनिधर्म-साधन द्वारा चार घातिया कर्मों को नष्टकर समवसरणपूर्वक ‘अर्हन्त-अवस्था’ प्राप्त होना ‘आर्हन्त्य-क्रिया’ है।

(7) परिनिवृत्ति-क्रिया — अन्ततः सर्वकर्मबन्ध से मुक्त होकर अविनाशी-सिद्धपद को प्राप्त होना ‘परिनिर्वृत्ति-क्रिया’ है।

सम्भवतः इन्हीं की भावना रखते हुए विवाह में सप्त-पदी (सात फेरे) लिए जाते हैं। उक्त विवरण से स्पष्ट है कि इन तीन प्रकार के क्रियाभेदों में वस्तुतः ‘गर्भान्वय’ की क्रियायें ही मौलिक हैं, शेष सभी की पूर्ति इन्हीं से होती है तथा उनमें विवक्षाभेद के अतिरिक्त कोई बड़े तात्त्विक अन्तरवाला प्रतिपादन नहीं है। इसका स्पष्टीकरण ‘समीक्षा’ शीर्षक के अन्तर्गत आगे दिया जाएगा। अभी तो ‘गर्भान्वय की 53 क्रियाओं’ का वर्गीकृत अध्ययन उपेक्षित है।

तीनों प्रकार की क्रियाओं को पुनः वर्गीकरण -

गर्भान्वय की 53 क्रियाओं के दो प्रकार से वर्गीकरण किये जा सकते हैं —

पहले वर्गीकरण में इन्हें तीन जन्मों में वर्गीकृत कर समझा जा सकता है।

(1) प्रथम 'गर्भाधान-क्रिया' से 32वीं 'योग निर्वाणसाधन-क्रिया' तक **प्रथम मनुष्य-जन्म** - (अर्थात् जब से इन क्रियाओं का साधन प्रारम्भ किया गया) सम्बन्धी क्रियाओं का वर्णन है।

(2) तेतीसवीं (33) 'इन्द्रोपपाद-क्रिया' से सैंतीसवी (37) 'इन्द्रत्याग-क्रिया' तक **द्वितीय भव** में देवेन्द्र या वैमानिक स्वर्गों में इन्द्र होने सम्बन्धी क्रियाओं का विवेचन है।

(3) अड़तीसवीं (38) 'इन्द्रावतार-क्रिया' से तिरेपनवीं (53) 'अग्रनिवृत्ति-क्रिया' तक **तृतीय भव** में तीर्थङ्कर के **पञ्चकल्याणक-सम्बन्धी** क्रियाओं का विवरण है, जिसमें चवालीसवीं (44) 'चक्रलाभ-क्रिया' से सैतालीसवीं (47) 'साम्राज्य-क्रिया' तक चक्रवर्तित्व की क्रियायें विशेष हैं।

अन्तिम-क्रिया चूँकि 'सिद्धत्व-पद-प्राप्ति' की है। अतः इसके आगे भव-सन्तति ही नहीं होने से आगे की क्रियाओं का प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं होता है।

द्वितीय वर्गीकरण में विषयगत-दृष्टि से ग्यारह (11) वर्गों में इन तिरेपन (53) क्रियाओं को वर्गीकृत किया जा सकता है। जिनका विवरण इस प्रकार है।

(क) प्रथम 'गर्भाधान-क्रिया' से बारहवीं (12) 'केशवाप-क्रिया' तक वे क्रियायें है, **जो मूलतः माता-पिता करते हैं।**

(ख) तेरहवीं (13) 'लिपिसंख्यात-क्रिया' से पन्द्रहवीं (15) 'व्रतचर्या-क्रिया' तक **शिक्षा-सम्बन्धी क्रियायें हैं।**

(ग) सोलहवीं (16) 'व्रतावतरण-क्रिया' से इक्कीसवीं

(21) 'प्रशान्ति-क्रिया' तक **गृहस्थ-धर्म की क्रियायें हैं।**

(घ) बाइसवीं (22) 'गृहत्याग-क्रिया' से उनतीसवीं (29) 'स्वगुरूस्थानावापित-क्रिया' तक **मुनिधर्म-साधन-सम्बन्धी क्रियायें हैं।**

(ङ) तीसवीं (30) 'निःसङ्गभावना-क्रिया' से बत्तीसवीं (32) 'योगनिर्वाणसाधन-क्रिया' तक **सल्लेखना-सम्बन्धी क्रियायें हैं।**

(च) तेतीसवीं (33) 'इन्द्रोपपाद-क्रिया' से सैतीसवीं (37) 'इन्द्रत्याग-क्रिया' तक **अगले भव में वैमानिक इन्द्र-सम्बन्धी क्रियायें हैं।**

(छ) अड़तीसवीं (38) 'इन्द्रावतार-क्रिया' से तेतालीसवीं (43) 'स्वराज्य-क्रिया' तक **तीर्थङ्कर बालक के भव-सम्बन्धी गर्भ-जन्म एवं राज्याभिषेक-सम्बन्धी क्रियायें हैं।**

(ज) चवालीसवीं (44) 'चक्रलाभ-क्रिया' से सेंतालीसवीं (47) 'साम्राज्य-क्रिया' तक **चक्रवर्तित्व-सम्बन्धी क्रियायें हैं।**

(झ) अड़तालीसवीं (48) 'निष्क्रान्त-क्रिया' में **दीक्षाकल्याण-सम्बन्धी क्रिया का वर्णन है।**

(ञ) उनचासवीं (49) 'योगसम्मह-क्रिया' से बावनवीं (52) 'योगत्याग-क्रिया' तक **ज्ञानकल्याणक व अर्हन्त-अवस्था की क्रियायें हैं।**

(ट) तिरेपनवीं (53) 'अग्रनिर्वृत्ति-क्रिया' में **मोक्ष-कल्याणक-सम्बन्धी वर्णन है।**

इसप्रकार उक्त 53 क्रियायें उपरोक्त कुल 11 वर्गों में वर्गीकृत करके समझी जा सकती हैं।

समीक्षा

इन क्रियाओं में सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर निम्नलिखित-बिन्दु स्पष्ट होते हैं —

(1) ये क्रियायें व्यक्ति को तीर्थंकरपद-प्राप्ति के लक्ष्य से वर्णित की गई हैं। यद्यपि आदर्शरूप में तीर्थङ्करत्व का लक्ष्य बताना ठीक है, परन्तु यह भी ध्यातव्य है कि जीव की साधना का चरम-लक्ष्य 'सिद्धदशा' है और वह दशा सामान्य-केवली होकर ही अधिकांश जीव प्राप्त करते हैं। लोक में धर्मप्रभावना का विशेष-योग 'तीर्थङ्कर' का होता है, और उन क्रियाओं का व इनकी विधि में धर्मप्रभावना का विशेष महत्त्व है, अतः ऐसा प्रतिपादन किया गया प्रतीत होता है।

(2) यद्यपि सभी तीर्थङ्कर चक्रवर्ती नहीं होते हैं, वर्तमान चौबीसी के भी कुछ ही तीर्थङ्कर ऐसे थे, जो उसी भव में चक्रवर्ती भी थे। किन्तु यहाँ पर तीर्थङ्करत्व के साथ-साथ चक्रवर्तित्व को भी लिया गया है। सम्भवतः इसके पीछे इन क्रियाओं के परिणामस्वरूप लोक में उत्कृष्ट सभी पुण्यों के फल प्रदर्शित करने का उद्देश्य निहित है।

(3) इनमें उसी भव में मुनिधर्म-अङ्गीकार करने की अनिवार्यता भी प्रतिपादित है। परन्तु यह भी उतना ही ध्रुव-सत्य है कि मुनिधर्म कोई भी व्यक्ति योजना बनाकर 'कब लेना है?' – ऐसा निर्धारण नहीं कर सकता। इसके पीछे तो वैराग्यवृत्ति एवं उत्कृष्ट-पुरुषार्थ के साथ-साथ श्रेष्ठ आत्मबल भी बाहरीरूप में अपेक्षित है। अन्तरङ्ग में तो तीन-कषाय-चौकड़ी के अभाव के बिना मुनिधर्म हो ही नहीं सकता है। अतः कोई भी क्रिया-साधक

इसी भव में मुनि बन ही जाएगा–ऐसी अनिवार्यता नहीं की जा सकती है। इसको आदर्श बनाकर वह चले–इतना अवश्य समझा जा सकता है।

(4) इसीप्रकार देवपर्याय–सम्बन्धी क्रियायें उसी भव में चरितार्थ होंगी। उन्हें वर्तमानभव की समय–सारिणी (टाइम–टेबिल) में सम्मिलित नहीं किया जा सकता है।

(5) तीर्थङ्करत्व–सम्बन्धी क्रिया भी आगामी तृतीयभव–सम्बन्धी है, न कि वर्तमानभव–सम्बन्धी। क्योंकि तीर्थङ्करपना एवं साक्षात् मोक्षप्राप्ति तो इस पञ्चमकाल में भरतक्षेत्र से सम्भव ही नहीं है। अतः उन्हें भी वर्तमान क्रिया–लक्ष्य में सम्मिलित नहीं किया जा सकता है।

(6) इसप्रकार यदि हम निष्कर्षरूप में देखें, तो गर्भान्वयन–सम्बन्धी 53 क्रियाओं में से मात्र **1 से 21 तक की क्रियायें ही सामान्य जैन–श्रावक के लिए अनिवार्यतः अपनाने योग्य कही जा सकती हैं। इनमें 32वीं तक की सल्लेखना–सम्बन्धी –क्रियाओं को सामान्य गृहस्थ भी भूमिकानुसार यथाशक्ति कर सकता है।** बल्कि मैं तो यह कहूँगा कि सभी को यथाशक्ति अपनाना ही चाहिए। क्योंकि **सल्लेखना–साधन के बिना मुनष्य –जीवन का अन्तिम–अध्याय संस्कारविहीन हो जाएगा।**

अस्तु, उक्त **21 और 3 मिलकर कुल 24 क्रियायें ऐसी रहती हैं, जिन्हें सामान्य गृहस्थ–जीवन में वर्तमान में सभी अपना सकते हैं, और सभी के लिए उपयोगी भी है।**

'गर्भान्वय की क्रियाओं' के अतिरिक्त दो 'दीक्षान्वय' की एवं 'कर्त्रन्वय' की क्रियायें हैं, उनमें से 'दीक्षान्वय' की प्रथम आठ

क्रियायें ही मौलिक हैं, शेष 40 क्रियायें तो 'गर्भान्वय क्रियाओं' में ही समाहित हो जाती हैं। और इनका भी कोई काल निर्धारित नहीं है। वीतराग जैनधर्म के अनुसार मिथ्यात्ववर्धक-साधनों से हटाना एवं सम्यक्त्ववर्धक-साधनों को अपनाना ही 'दीक्षान्वय' की इन आठ क्रियाओं का सार है। तथा 'कर्त्रन्वय' की सात क्रियाओं में से भी मात्र प्रथम दो क्रियायें ही वर्तमान-भव (इसी मनुष्यपर्याय) से सम्बन्ध रखती हैं। उनमें से भी पहली 'सज्जाति-क्रिया' का अर्थ उत्तम जैन-संस्कारी कुल में जन्म प्राप्त करना है, सो यह व्यक्ति के पूर्व जन्मकृत पुण्य-परिणामों के फलस्वरूप होता है, न कि वर्तमान-भव में जीव इसे चुनकर ले पाता है। और दूसरी 'सद्गृहित्व-क्रिया' भी यहाँ संकेतमात्र रूप में ही कही गयी है। क्योंकि वह सामान्य अविरति-गृहस्थ के आदर्श-जीवन का दर्पण है। अलग से किसी समय-विशेष पर की जानेवाली क्रिया नहीं है।

अतः उपर्युक्त तीनों प्रकार की क्रियाओं में से निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि मनुष्य-जीवन को सफल बनाने के लिए मिथ्यात्ववर्धक-क्रियाओं से बचकर, सम्यक्त्ववर्धक-क्रियाओं को अपनाते हुए 'गर्भान्वय' की 21+3= 24 क्रियाओं को विधिपूर्वक अपनाया जाए। तथा सम्भव हो सके तो 22वीं से 29वीं तक की मुनिधर्म-सम्बन्धी क्रियाओं को भी विधिपूर्वक भावलिङ्गी-दिगम्बर-मुनि बनकर अवश्य किया जाए। अन्यथा **इनका लक्ष्य एवं भावना अवश्य रखी जाए।**

इन उपर्युक्त क्रियाओं को मैंने अपनी सुविधानुसार यहाँ वर्गीकृत करके प्रस्तुत किया है। यहाँ 'सुविधा' शब्द से तात्पर्य 'मनमर्जी' जैसा नहीं है, बल्कि आज की पीढ़ी इन बातों के बारे में

कैसे आसानी से समझ सकती है ?- इस दृष्टि से चिन्तन करके जो उचित-विधि मुझे प्रतीत हुई, उसी के अनुसार मैंने वर्गीकरण करके प्रस्तुत किया है। जैसेकि 'गर्भकाल-सम्बन्धी क्रियाओं' को मैंने एकसाथ दे दिया है और जन्म से लेकर विवाह-पूर्व तक की क्रियाओं को मैंने 'जन्म-सम्बन्धी क्रियायें' कहकर उनका एक साथ वर्गीकरण प्रस्तुत किया है।

किन्तु जो क्रियायें धर्मविधि एवं मोक्षमार्ग से किसी न किसी रूप में गहराई से जुड़ी हुई है और जैन-सद्गृहस्थपने की पहिचान जिनसे है, उन्हें अलग-अलग रूप में अपेक्षित विस्तारपूर्वक बनाया गया है; यथा - 'देवदर्शन एवं पूजन-सम्बन्धी संस्कार' और विधि, 'सल्लेखना-सम्बन्धी' विवेचन आदि।

कुछ प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण भी संस्कार-विवेचन के समान ही प्रमुखता से किये गये हैं, क्योंकि इसके बिना आज लोगों में भ्रम की स्थिति बनी हुई है।

कुछ प्रकरण ऐसे भी लिए गए हैं, जिनका शास्त्रों में संस्कारों के अन्तर्गत कहीं कोई उल्लेख भी नहीं है, किन्तु आज समाज में गृहस्थों के बीच वे 'संस्कारों' के समान ही प्रचलित हो रहे हैं। उनका स्वरूप, वास्तविकता, वर्तमान में प्रासङ्गिकता और आडम्बरों से बचाकर सामान्य शुद्ध-विधि न्यूनतम-रूप में दी गयी है।

जो बातें मूल-पुस्तक में लिखने से विषय-विवेचन बाधित होता प्रतीत हुआ, किन्तु इसी पुस्तक में दिए बिना लोगों को यह लगता कि 'उन्हें हम कहाँ से लें ?' — ऐसे आवश्यक-पाठों आदि को सङ्कलित व सम्पादित कर 'द्वितीय-खण्ड' के रूप में दिया गया है। तथा कुछ परम्परागत पारिभाषिक-पदों का विशेष स्पष्टीकरण

अपेक्षित था, उन्हें 'प्रथम-परिशिष्ट' में दिया गया है।

कुछ बातें ऐसी भी थीं, जिन्हें सांकेतिक-शब्दों में लिखा जा सकता है, परन्तु कैसे की जायें- इसे शब्दों से भली-भाँति नहीं समझाया जा सकता था। अतः उन्हें 'द्वितीय-परिशिष्ट' में कुछ रेखाचित्रों आदि के माध्यम से समझाया गया है।

अन्त में सन्दर्भ-स्रोतों की संक्षिप्त-जानकारी देकर इस पुस्तक के वर्ण्य-विषय को यहीं सीमित किया गया है। कुछ सम्बद्ध-विषय जो यहाँ विवेचित नहीं पाए हैं, उनका संकेत 'उपसंहार' में किया गया है।

गर्भपूर्व-क्रिया संस्कार

तीर्थङ्कर का जीव माँ के गर्भ में आनेवाला होता है, तो उसके गर्भावतरण के छः माह पूर्व से इन्द्र की आज्ञा से कुबेर उस भवन-परिसर में (जहाँ उस जीव के भावी माता-पिता हैं) रत्नों की वर्षा प्रारम्भ करता है। यह स्पष्टरूप से सूचित करता है कि हर सम्भव प्रसन्नता के वातावरण उत्साहपूर्वक प्रसन्नचित्त होकर जब दम्पत्ति अपने दाम्पत्य का निर्वाह करते हैं, तो पुण्यात्मा-जीव का सुसंयोग मिलता है।

यद्यपि सबके घर में तीर्थङ्कर अवतरित नहीं होते हैं और पंचमकाल में तो कदापि नहीं होते, फिर भी भावना और आकांक्षा तो श्रेष्ठतम की ही की जाती है; अतः गर्भपूर्व-क्रियाओं के संस्कारों एवं उनकी विधियों का प्ररूपण प्राचीन-ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है।

इसमें दम्पत्ति यह शिक्षा ग्रहण करें कि मात्र विषयभोग और इन्द्रियसुख के लिए ही दाम्पत्य नहीं हैं, अपितु इसमें भी परिणामों

को संस्कारित करना आवश्यक है। मात्र आर्त्त-रौद्रध्यानों की स्थिति में प्रायः आनेवाले जीव की स्थिति भी अधिक अच्छी नहीं हो सकती। जन्म से विविधप्रकार के रोग विकलांगता या परिणामों की क्रूरता आदि स्थितियों वाली सन्तान का जन्म हो जाने पर माता-पिता की जीवनपर्यन्त कष्ट एवं विषादमय स्थिति बन जाती है।

अतः धर्मध्यान को अपनाकर नित्य देवदर्शन, पूजन, दान, स्वाध्याय आदि प्रशस्तकार्य करते हुए बननेवाले दाम्पत्य-सम्बन्धों से होनेवाली सन्तान का जीव भी शुभ आयु, नाम-कर्मों के साथ-साथ सातावेदनीय के उदयवाला होने की प्रबल संभावना होती है। वह जीव अल्पायु न हो, शरीर से विकृत/विकलांग आदि न हो, उसे जन्मतः कोई असाध्य-व्याधि-विशेष न हो और उसके जन्म के बाद घर में दरिद्रता या धनहानि आदि विपरीत-संयोग घटित न हों; प्रसन्नता का वातावरण उत्तरोत्तर बढ़े-यह अभिप्राय इन संस्कारों का होता है।

गर्भक्रिया-संस्कारविधि

प्रतिदिन घर के बड़ेजनों से शुभाशीर्वाद प्राप्त कर दम्पत्ति देवदर्शन-पूजन करने जायें। अपने हाथों से चतुर्विध दान करें। इन्द्रियसंयम एवं प्राणीसंयम का यथायोग्य रीति से पालन करें, आत्महितकारी शास्त्रों का स्वाध्याय करें तथा तत्त्वचिन्तन पूर्वक अपने परिणामों को शान्त (उद्वेगरहित) एवं प्रसन्नचित्त बनायें। सदाचारी व्यक्तियों की सङ्गति में रहें तथा अन्याय-अनीति-अभक्ष्य के सेवन से बचें। इसीप्रकार प्रशस्तकार्यों व प्रशस्त-परिणामों से परिपूर्ण दाम्पत्य-जीवन के परिणामस्वरूप भावी-सन्तति भी पुण्यात्मा-जीव के रूप में होती है।

लौकिक परम्परा की दृष्टि से शुक्लपक्ष के दिनों में द्वितीया, तृतीया, पंचमी, सप्तमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी तिथियों में सोमवार, बुधवार, गुरूवार और शुक्रवार के दिनों में दाम्पत्य –सम्बन्धों से होनेवाली सन्तति श्रेष्ठ मानी गयी है। इन दिनों में भी दिन में सम्बन्ध न कर संयम–पालन करना ही श्रेयस्कर है।

गर्भकाल–क्रिया–संस्कारविधि

जब तीर्थङ्कर की जीव माँ के गर्भ में आता है, तो उसकी पूर्वरात्रि को माँ को सोलह–स्वप्नों का दर्शन होता है। ये सभी स्वप्न उत्तमफलसूचक होते हैं। स्वप्न प्रायः संसारी जीवों के अपने विचारों के प्रतिबिम्ब होते हैं – इस तथ्य को मानें, तो विशेषतः माँ के विचार अत्यन्त उदात्त एवं श्रेष्ठ होने चाहिए, ताकि भावी–सन्तान उतनी ही श्रेष्ठ हो – ऐसा संकेत हमें ग्रहण करना चाहिए।

तीर्थङ्कर–माता के गर्भकाल में इन्द्र की आज्ञा से शची छप्पनकुमारी देवियों को माता की सेवा में नियुक्त करती है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि गर्भिणी–स्त्री को अनावश्यक कार्यभार न रहे और विविध–प्रकार के अच्छे मनोरंजनपूर्ण कार्यों से उसका चित्त–प्रसन्न बना रहे। साथ ही वह विषयभोग से विरक्त रहे, क्योंकि छप्पनकुमारियाँ जब निरन्तर साथ होंगी, तो विषय संसर्ग का अवकाश प्रायः हो ही नहीं सकता। यह गर्भकाल में शिशु के स्वस्थ–संरक्षण व संपोषण के लिए आवश्यक है। आजकल जो गर्भपात आदि की विसङ्गतियाँआम होती जा रही हैं, उनका मुख्य–कारण अति–विषय सेवन, मन का तनावग्रस्त होना और अनावश्यक भागदौड़पूर्ण जीवन –शैली है। गर्भकाल में ऐसा न होने देना तथा चित्त को विशेष

प्रसन्नता प्रदान करने के लिए समय-समय पर संस्कारों को आयोजन करते रहने से स्वस्थ-शिशु का आगमन होता है, जो दम्पत्ति व परिवारजनों के लिए आह्लादकारण होता है।

गर्भकाल-क्रिया-संस्कारविधि

गर्भकाल सामान्यत: नौ माह का होता है। इसके कुल **चार** विशेष-संस्कार माने गये हैं।

(1) प्रथम 'प्रीति-संस्कार' की विधि गर्भाधान से तीसरे माह में की जाती है। इसमें विशेष पूजन-विधान आदि का विधिपूर्वक आयोजन करने के बाद '**त्रैलोक्यनाथो भव, त्रिकालज्ञानी भव, त्रिरत्नस्वामी भव**' का आशीर्वाद गर्भस्थ-शिशु को दिया जाता है। तथा पति-पत्नी के उदर पर गर्भस्थ-शिशु के प्रसन्नतापूर्वक बढ़ने के लिए मङ्गलभावना-पूर्वक जलबिन्दु क्षेपण करता है।

(2) द्वितीय 'सुप्रीति-संस्कार' गर्भाधान के पाँचवें माह में किया जाता है। इसके लिए रविवार, मंगलवार, गुरुवार, शुक्रवार के दिन तथा द्वितीया, तृतीया, पंचमी, सप्तमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी एवं त्रयोदशी तिथियाँ शुभ मानी गयी हैं। इसमें भी विशेष-पूजन आदि का मन्दिरजी में आयोजन करने के बाद बड़े जन गर्भस्थ -शिशु को आशीर्वाद देते हैं - ''अवतार-कल्याणभागी भव, मंदर -इन्द्राभिषेक-कल्याणभागी भव'' इसी दिन 108 श्रेष्ठगुणों की प्रतीक 108 दानों की माला भी पत्नी के गले में पति पहनाता है।

(3) तृतीय 'धृति या सीमान्तोन्नयन-संस्कार' गर्भधान के सातवें माह में की जाती है। इसमें भी पूर्ववत् विशेष पूजन-विधान किए जाते हैं। यह कार्य रविवार, मङ्गलवार, व गुरुवार के दिनों में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, पंचमी, सप्तमी, दशमी, एकादशी एवं

त्रयोदशी तिथियों में करना श्रेष्ठ माना गया है। इस समय के आशीर्वाद -मन्त्र हैं- ''सज्जाति-दातृभागी भव, सद्‌गृहस्थ-दातृभागी भव, मुनीन्द्र-दातृभागी भव, सुरेन्द्र-दातृभागी भव, परमराज्य-दातृभागी भव, आर्हन्त्य-दातृभागी भव, परमनिर्वाण-दातृभागी भव।''

(4) चतुर्थ 'मोद-संस्कार' गर्भाधान के नौंवे माह में किया जाता है। यह गर्भस्थ-शिशु की स्थिति व चिकित्सक की परामर्श-अनुसार अनुकूल दिन पर करना चाहिए। 'इसमें पत्नी ॐ ह्रीं अर्हं अ-सि-आ-उ-सा-नमः' मन्त्र की (माला से) जाप करे। विशेष पूजन-विधान यथाशक्ति पूर्ववत् करें तथा पूजनाविधि के अन्त में पति पत्नी की कलाई में रक्षासूत्र बाँधता हैं।

इसके आशीर्वादमन्त्र हैं - ''सज्जातिकल्याणभागी भव, सद्‌गृहस्थकल्याणभागी भव, मुनीन्द्र-कल्याणभागी भव, सुरेन्द्र -कल्याणभागी भव, मन्दराभिषेक-कल्याणभागी भव, यौवराज्य -कल्याणभागी भव'' आदि।

जन्म-क्रिया-संस्कारविधि

शिशु का जन्म होना संसारीजनों के लिए स्वाभाविकरूप से प्रसन्नता का कारण होता है। अतः प्रसन्न्तापूर्वक अनेक लौकिक विधियाँ की जाती हैं। तीर्थङ्करशिशु के जन्म के समय स्वयं सौधर्मेन्द्र सुमेरू पर्वत पर ले जाकर उसका 1008 कलशों से क्षीरसागर के जल से जन्माभिषेक करता है। ऐरावत हाथी पर भव्य शोभायात्रा निकालता है व हर्षातिरेक में भरकर ताण्डवनृत्य करता है, हजार आँखें बनाकर तीर्थङ्कर-बालक को निहारता है - इत्यादि अनेकों लोकमङ्गल की क्रियायें करता है। अतः हम लोग भी बालक के ऐसे ही धर्मप्रभावक एवं यशस्वी होने के मङ्गलकामनापूर्वक

अनेकों मङ्गलविधियों करते हैं और हर्ष व्यक्त करते हैं। किन्तु लौकिक हर्षसूचक कार्यों (यथा–मङ्गलवाद्य बजवाना, मिठाई बाँटना आदि) के अतिरिक्त कोई धार्मिक संस्कारविधि परिवारजन दस दिनों तक नहीं करते हैं।

जन्म–क्रिया–संस्कारविधि

जन्म से दस दिन के बाद 'प्रियोद्‌भव–संस्कार' नामक प्रथम–संस्कार किया जाता है। इस दिन प्रातःकाल विशेष पूजन–विधान का आयोजन जिनमन्दिर जी में किया जाता है तथा पिता आदि बड़े जन घर जाकर बालक को ''घातिजयी भव, मन्दराभिषेकार्हो भव'' आदि मङ्गल–आशीर्वाद प्रदान करते हैं। यह संस्कार पुत्र हो या पुत्री दोनों को इसी प्रकार हर्षपूर्वक किया जाता है।

नामकरण–संस्कारविधि

इस एक संस्कार के अतिरिक्त द्वितीय 'नामकर्म–संस्कार' भी 'जन्मक्रिया–संस्कारों' में आता है। बालक का क्या नामकरण किया जाये? — यह विचार लोकव्यवहार की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण है ही, उस बालक के सौभाग्य आदि की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। यदि हमने प्रशस्त–नामकरण नहीं किया और उसकी संस्कारविधि नहीं की, तो लौकिकजन यथेच्छा से उसके अनेकविधि नाम रखने लगते हैं, जो प्रायः शुभ नहीं होते। अतएव इनका निषेध करने के लिए ही मानो यह लोकोक्ति की प्रचलित हुई है कि ''क्या नाम धराते (रखाते) घूम रहे हो?'' अतः विधिपूर्वक शुभ–नामकरण करना अत्यन्त आवश्यक है। अच्छा नामकरण उसका उच्चारण

करनेवाले की वाणी एवं मन को भी संस्कार एवं प्रभाव प्रदान करता है तथा बालक को भी नामकरण अच्छा होने पर प्रसन्नता, गौरव अथवा अच्छा न होने पर खेद व दीनता का अनुभव होता है।

नामकरण–संस्कारविधि

जन्म के बारहवें (12वें), सोलहवें (16वें) अथवा बत्तीसवें (32वें) दिन यह संस्कार किया जाता है। चूँकि दस दिन का सूतक होता है, अतः सूतक के समय कोई विधि–विशेष सम्भव न होने से इसके पहिले नहीं किया जाता है।

यहाँ पर विशेष ध्यातव्य है कि भारत में भले ही अनिवार्यता न हो, किन्तु विदेशों में कई जगहों पर तो जन्म के एक घण्टे के भीतर ही नाम बताना होता है। अतः पहिले से 'नाम' – निर्धारण के लिए तो नामकरण हो जाता है, किन्तु उसकी संस्कारविधि उपर्युक्त दिनों में ही की जाती है।

इसमें नामकरण का आधार परम्परागत–रूप से तो 'जिनसहस्रनाम' में से कोई एक नाम रखने को माना गया है। किन्तु आजकल प्रायः ऐसे परम्परागत नाम आकर्षक नहीं माने जाते हैं, अतः अच्छे/प्रशस्त अर्थवाले, अभ्युदयसूचक नाम 'नामकरण–संस्कार' के लिए चुने जाने चाहिए। ऐसे कुछ नाम चुनकर उनकी चिटें (स्लिपें) बनाकर एक बर्तन में रख लें। फिर मन्दिरजी में परिवारजन विशेष पूजन–विधि सम्पन्न करने के बाद घर आकर बालक को शुद्ध नए वस्त्र पहिनाकर एक चौकी या पालने में लिटा लें, फिर उसके मस्तक पर केसर से तिलक करने के बाद "सहस्रनामभागी भव, विजयनामाष्टसहस्रभागी भव, परमनामाष्टसहस्रभागी भव" आदि मङ्गल–वाक्यों से आशीर्वाद देते

हुए एक स्लिप उठावें, तथा हर्षध्वनिपूर्वक उस नाम की घोषणा करें। नाम की घोषणा करते समय यह संकल्प बोलें – ''ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं अर्हं अस्य बालकस्य नामकरणं करोमि। अयं आयुः आरोग्य-ऐश्वर्यवान् भवतु। झौं झौं अ-सि-आ-उ-सा नमः।'' चाहें तो इस संकल्प में मास तिथि, दिवस, स्थान, कुलपरिचयपूर्वक माता-पिता के नामोल्लेख करते हुए 'अस्य बालकस्य की जगह ''इत्यनयोः पुत्रस्य'' कहकर उपर्युक्त-मन्त्र पढ़ें।

बहिर्यान-संस्कार

यह जन्म-सम्बन्धी संस्कारों में तीसरा संस्कार है। इसे जैनेतरों में 'सूर्यदर्शन' या 'कूआँपूजन' भी कहते हैं। यह माना जाता है कि चालीस दिनों तक माँ व शिशु को खुली हवा या धूप में नहीं लाते हैं। सद्यःप्रसूता के एवं नवजात-शिशु के शरीर में खुले वातावरण में अचानक सहन करने के शक्ति नहीं होती, उन्हें अनेक प्रकार के संक्रमण (इन्फेक्शन) होने की सम्भावना रहती है। अतः न्यूनतम इतने दिन का परहेज करें। वैसे भी प्रसूता के लिए 45 दिनों का सूतक माना गया है, जो सम्भवतः इसी कारण से कहा गया प्रतीत होता है।

बहिर्यान-संस्कारविधि

45 दिनों के बिना (यदि परिस्थिति-विशेष हो या स्वास्थ्य आदि की अनुकूलता न हो, तो 2-3 माह बाद भी यह कार्य किया जा सकता है) माँ एवं शिशु को जिनमन्दिरजी ले जाकर विधिपूर्वक देशदर्शन कराया जाता है, गन्धोदक एवं तिलक लगाया जाता है तथा जिनेन्द्रदेव के दर्शन कराते समय ''ॐ नमो अर्हते भगवते जिनभास्कराय जिनेन्द्रप्रतिमादर्शने अस्य बालकस्य दीर्घायुष्यं

आत्मदर्शनं च भूयात्'' मन्त्र पढ़ते हैं और निम्नलिखित आशीर्वाद देते हैं —''वैवाहनिष्क्रान्तभागी भव, मुनीन्द्रनिष्क्रान्तभागी भव, सुरेन्द्रनिष्क्रान्तभागी भव, मन्दराभिषेकनिष्क्रान्तभागी भव, यौवराज्यनिष्क्रान्तभागी भव, महाराज्यनिष्क्रान्तभागी भव, परमराज्यनिष्क्रान्तभागी भव, आर्हन्त्यनिष्क्रान्तभागी भव।''

निषद्या-संस्कार

जन्म-सम्बन्धी संस्कारों में यह चौथा संस्कार है। यह संस्कार बालक को पहली बार बिठाने के रूप में किया जाता है। उसकी जीवन-क्रिया को सचेष्ट व गतिशील बनाने के लिए यह आवश्यक है।

निषद्या-संस्कारविधि

जन्म के पाँचवें माह में यह संस्कार घर के लोग करते हैं। इस प्रक्रिया में बालक को पूर्व-दिशा की ओर मुँह करके सहारा देकर बिठाते हैं तथा निम्नलिखित वाक्य आशीर्वाद रूप में बोलते हैं।

''दिव्यसिंहासनभागी भव, विनयसिंहासनभागी भव, परमसिंहासनभागी भव।''

अन्नप्राशसन-संस्कार

जन्म-सम्बन्धी संस्कारों में यह पाँचवां संस्कार है। जन्म से बालक माँ के दूध पर ही पलता है, वही उसका आहार होता है और वही उसकी औषधि भी होता है। आज विज्ञान भी इस तथ्य को प्रमाणित करता है। किन्तु छह माह के बाद उसका पाचनतन्त्र इतना विकसित होने लगता है कि कुछ ठोस पदार्थ भी पचा सके और उसके शारीरिक विकास के लिए भी अब माँ का दूध पर्याप्त नहीं

रहता, वह उसकी बढ़ती हुई क्षुधा को भी शान्त नहीं कर पाता है। अतः ठोस आहार के रूप में अन्न व फल आदि उसकी आवश्यकता बन जाते हैं। किन्तु 'अन्न' को उस छोटे बालक को किस रूप में दिया जाए? हलवा-पूड़ी-पकवानों के रूप में जैसे हम खाते हैं, वैसे दे दिया जाये या फिर किसी निश्चित प्रक्रिया से दिया जाये? —इसी की सावधानी सिखाने के लिए 'अन्नप्राशन' को भी संस्कार का रूप दिया। विशेषतः प्रथम अन्न अत्यन्त शुद्ध, सात्त्विक एवं पौष्टिक ही होना चाहिए। अन्यथा लीवर की अनेकओं परेशानियाँ हो सकती हैं और जीवनभर के लिए उसका पाचन-तन्त्र प्रभावित हो सकता है।

अन्नप्राशन-संस्कारविधि

भुने हुए गेहूँ या जौ के आटे में हल्का गर्म पानी व थोड़ा-सा नमक या चीनी/गुड़ डालकर सामान्य स्वादिष्ट सत्तू जैसा घोलकर बच्चे को प्रथम अन्नप्राशन कराना चाहिए। घी-चीनी-मेवों के बने पकवान नहीं देने चाहिए। श्रेष्ठ धातु (सोना, चाँदी, गिलट, काँसा या पीतल) की कटोरी में रखकर इसी धातु की चम्मच से प्रथम अन्नप्राशन कराना चाहिए। इनसे खिलाने से सूक्ष्म-अंशरूप में ये धातुयें भी उसके शरीर में पहुँचती है और उसके कायबल को पुष्ट करती हैं। और रोग-प्रतिरोधक-क्षमता भी विकसित करती है।

माँ, दादी, नानी, बुआ, चाची आदि कोई भी बच्चे की सम्बन्धी अन्नप्राशन की सामग्री जब तैयार करें, तो प्रसन्नचित्त होकर करें, इससे स्वाद व पौष्टिकता-दोनों उत्कृष्ट होते हैं। तथा प्रथम-अन्नप्राशन कराते समय इन विशेष आशीर्वचनों का उच्चारण करें —

"दिव्यामृतभागी भव, विजयामृतभागी भव, अक्षीणामृतभागी भव।"

वर्षवर्धन/व्युष्टि संस्कार

जन्म-सम्बन्धी संस्कारों में यह छठवाँ संस्कार है। इसे बालक की प्रथम वर्षगाँठ भी कहते हैं। वर्ष भर के सारे मौसम - सर्दी, गर्मी, बारिश के विभिन्न तापमानों व प्रभावों को अब देख चुका है। यहाँ प्रकृति, पर्यावरण के अनुरूप ढल चुका है। अतः अब वह अतिरिक्त देखरेख व सावधानी की अपेक्षा नहीं रखता। पहली गर्मी, सर्दी, बारिश अतिरिक्तरूप से बालक को प्रभावित करती हैं। अब पूरी देखरेख में उसका शरीर इन सबका अभ्यस्त हो चुका है, अतः माता-पिता अधिक निश्चित व प्रसन्नचित होकर यह संस्कार मनाते हैं।

वर्षवर्धन/व्युष्टि संस्कारविधि

एक वर्ष पूर्ण होने पर बालक को विधिपूर्वक स्नान कराके, शुभ रङ्गों वाले (श्वेत, पीत, हरित, लाल आदि वर्णों वाले, नीले-काले नहीं) मौसम के अनुकूल वस्त्र-परिधान धारण कराके मङ्गलगीत गाते हुए जिनदर्शन कराने ले जाएँ। विशेष पूजन-विधान का आयोजन जिनमन्दिरजी में करें तथा बालक को तिलक, गन्धोदक लगाकर उसके हाथ से मन्दिरजी में दानराशि डलवायें तथा प्रभावना करें। साथ ही इन आशीर्वचनों से उसे सिञ्चित करें —"मुनीन्द्रजन्म -वर्षवर्धनभागी भव, सुरेन्द्रजन्म-वर्षवर्धनभागी भव, मन्दराभिषेक -वर्षवर्धनभागी भव, यौवराज्य-वर्षवर्धनभागी भव, महाराज्य -वर्षवर्धनभागी भव, परमराज्य-वर्षवर्धनभागी भव, आर्हन्त्यराज्य -वर्षवर्धनभागी भव।"

चौल या मुण्डन संस्कार

जन्म-सम्बन्धी संस्कारों में यह सातवाँ संस्कार है। इसका उद्देश्य गर्भ की स्थिति में वहाँ के विविधि रसायनों से सम्पर्कित केशों को उतारना होता है। विशेषतः उस्तरे/रेजर आदि से मुण्डन करने का अभिप्राय यह होता है कि सिर के जो रोम छिद्र अभी तक न खुले हों, वे खुल जायें, ताकि नये व घने स्वस्थ-बाल उसके मस्तक की शोभा बढ़ायें। चूँकि गर्भस्थ-रसायनों का प्रभाव तो बालक की चमड़ी (स्किन/खाल) पर भी होता है, परन्तु जन्म के बाद से निरन्तर किए जा रहे मालिश, लोई लेना आदि कार्यों से वह चमड़ी उतर जाती है व नई स्निग्ध चमकदार चमड़ी आ जाती है। किन्तु बाल बहुत छोटी उम्र में नहीं उतारे जा सकते हैं, क्योंकि तब सिर की चमड़ी उस्तरे या ब्लेड को सहन करने में समर्थ नहीं होती है। इस स्थिति तक आने में उसे दो से तीन वर्ष लग जाते हैं। अतः तभी यह कार्य किया जाता है। इस सामान्य लौकिक क्रिया को संस्कार का रूप इसलिये दिया जाता है कि उसकी अपेक्षित सावधानियों से लोग परिचित हों और साथ ही उसको जैनों की निर्ग्रन्थ मुण्डक-परम्परा को आगे बढ़ाने का आशीर्वाद भी दे सकें।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्रायः तीन-चार माह में बालों का केशलौंचविधि से उतार देने के कारण निर्ग्रन्थ-दिगम्बर जैन-साधु 'मुण्डक' या 'मुण्डी' संज्ञा से जैनेतरों ने भी अभिहित किये गऐ हैं।

मुण्डन-संस्कारविधि

दो-तीन वर्ष की आयु हो जाने पर सोमवार, बुधवार या शुक्रवार के दिन, द्वितीया, तृतीया, पंचमी, सप्तमी, दशमी, एकादशी,

या त्रयोदशी तिथि को पहले औषधीय तेलों से बालक के सिर की मालिश करें, फिर उस्तरे या ब्लेड (रेजर) को बैक्टीरिया-रहित करके सधे हाथों से उसके बाल उतरवायें। बाल उतरवाते समय अपेक्षित लौकिक सावधानियाँ के साथ बड़े लोग उसे निम्नलिखित आशीर्वाद दें —

''निर्ग्रन्थमुण्डभागी भव, निष्क्रान्तिमुण्डभागी भव, परमनिस्तारककेशभागी भव, सुरेन्द्रकेशभागी भव, परमराज्यकेशभागी भव, आर्हन्त्यकेशभागी भव।''

बाल उतर जाने के बाद चोटीवाली जगह पर केसर से स्वास्तिक बनायें। फिर उसे हल्के गर्म औषधीय जल से नहलाकर जिनमन्दिर ले जाकर जिनेन्द्रदेव के दर्शन करायें एवं दानादि प्रभावना करायें।

लिपिसंख्यान-संस्कार

जन्म-सम्बन्धी संस्कारों में यह आठवाँ संस्कार है। बालक की पाँच वर्ष की आयु पूर्ण होने पर यह किया जाता है। वस्तुतः बालक का स्वस्थ मानसिक विकास इस आयु तक ही इतना हो पाता है कि वह शिक्षाग्रहण के योग्य बने। इसके पहिले उस पर ये कार्य थोप देने से उसका मानसिक विकास प्रभावित होता है तथा उसके बाल्यपन का स्वर्णिम सुखद-अध्याय समय से पहिले ही समाप्त हो जाता है।

आज के शिक्षाशास्त्री एवं मनोविज्ञानी भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि विद्याध्ययन का आरम्भ पाँच वर्ष की आयु से पहले न किया जाए।

शिक्षा का आरम्भ बालक का 'दूसरा जन्म' भी कहा जाता

है। संस्कृत में कहावत है —

"जन्मना जायते शूद्रः, शिक्षा-संस्काराद् द्विज उच्यते।"

'द्विज' अर्थात् दूसरे जन्मवाला। अज्ञानी से ज्ञानी बनने की दिशा में यह पहला कदम है, अतः इसे संस्कारविधि से आयोजित किया जाता है।

लिपिसंख्यान-संस्कारविधि

यह कार्य सोमवार, बुधवार, शुक्रवार, या शनिवार के दिनों में द्वितीया, तृतीया, पंचमी, षष्ठी, दशमी, एकादशी या द्वादशी तिथि को किया जाता है। इस दिन पहले नहला-धुलाकर केसरिया पीले वस्त्र पहिनाकर बालक को जिनमन्दिर देवदर्शन-पूजन के लिए ले जाते हैं। इसके बाद उसे विद्यालय ले जाकर सर्वप्रथम उसके कानों में 'णमोकार मन्त्र' बोलकर उसका हाथ पकड़कर "ॐ नमः सिद्धेभ्यः" लिखवाते हैं। यह जैनसंस्कृति का शिक्षा-संस्कार का प्रतीक-वाक्य है। आज भी ग्रामीण-अंचल में बालक 'ओ ना-मा-सीधम्' बोलते मिल जायेंगे।

इसके साथ ही निम्नलिखित आशीर्वाद उसे बड़े लोग एवं शिक्षागुरु (अध्यापक) मिलकर देते हैं —

"शब्दपारगामी भव, अर्थपारगामी भव, शब्दार्थ-सम्बन्धपारगामी भव।"

और फिर लिपिज्ञान की अभ्यास-पुस्तिका देकर उससे लिपि-शिक्षण व अभ्यास कराते हैं।

सम्यक्त्व-अर्हता संस्कार

यह जन्म-सम्बन्धी संस्कारों में नौवाँ संस्कार है। यह बालक के जीवन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्कार है। यह बाल्यावस्था की

पूर्णता एवं कैशोर्य–अवस्था के प्रारम्भ का सन्धिस्थल है। जैन –परम्परा में आठ वर्ष का हो जाने पर ही बालक सम्यग्दर्शन–प्राप्ति का पात्र माना गया है। आठ वर्ष का हो जाने पर वह विधिवत् प्रक्षाल एवं पूजन का अधिकारी होता है। अतः धर्मक्षेत्र के संस्कारों के लिए यह प्रवेश–द्वार है। अतः इसका आयोजन बड़ी धूमधाम से करना चाहिए, ताकि बालक को अहसास रहे कि यह उसके जीवन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण–क्षण है।

सम्यक्त्व–अर्हता–संस्कारविधि

इस दिन ब्राह्ममुहूर्त में अच्छी तरह नहला–धुलाकर धुले हुए धोती–दुपट्टे (मन्दिरजी में) पहिनाकर बालक से प्रथम जिनेन्द्र–अभिषेक (प्रक्षाल) की विधि करायें, पूजन विधान करायें। इसका महत्त्व इसे बतायें। उसे सम्यक्दर्शन के स्वरूप व महत्त्व के बारे में समझायें तथा उसे सम्यग्दृष्टि बनने की प्रेरणा व आर्शीवाद देते समय निम्नलिखित आर्शीवचन बोलें —

"अक्षयसम्यक्त्वभागी भव, रत्नत्रयभागी भव, परमविस्तारक –लिङ्गभागी भव, परमर्षि–लिङ्गभागी भव, परमार्हन्त्य–लिङ्गभागी भव, परमनिवार्ण–लिङ्गभागी भव।"

इसके साथ ही उसे श्रावक के अष्टमूल–गुणों से परिचित कराकर उनके पालन की प्रेरणा देवें। सातों व्यसनों के दोष बताकर आजीवन उनसे दूर रहने की प्रतिज्ञा करावें तथा सम्यग्दर्शन के आठों अङ्गों का स्वरूप व महत्त्व बताकर व्यावहारिक जीवन में उनके यथाशक्ति प्रयोग की प्रेरणा देवें।

यही इसकी जैनविधि है। वैदिकों में इस दिन 'यज्ञोपवीत

संस्कार' किया जाता है व जनेऊ धारण कराया जाता है। **जैनों में यज्ञोपवीत का कोई महत्त्व नहीं माना गया है।**

व्रतचर्या-संस्कार

जन्म-सम्बन्धी संस्कारों में यह दसवाँ और अन्तिम संस्कार है। सामान्य श्रावकोचित-संयमाचरण को अङ्गीकार कराने तथा अध्ययनकाल पूर्ण होते तक विषय-विकारों के चिन्तन तक से बचाने की दृष्टि से यह संस्कार किया जाता है। मनुष्य का जन्म अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और दुर्लभ इसीलिए माना जाता है कि इसमें संयम धारण किया जा सकाता है, जबकि अन्य गतियों में यह सम्भव नहीं है। जीवनरूपी गाड़ी को नैतिक-पतन रूपी गड्ढे में गिरने से बचाने के लिए यह ब्रेक है। नवयौवन के परिवर्तनों को विकार-मार्ग पर जाने से बचाने के लिए तथा शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा के लिए, तेजस्वी व्यक्तित्व के लिए यह मूल-मन्त्र है। अतः यह संस्कार भली-भाँति ज्ञान-विवेकपूर्वक कराया जाना चाहिए।

व्रतचर्या-संस्कारविधि

'सम्यक्त्व-अर्हता संस्कार' के बाद गुरुकुल/होस्टल आदि में अध्ययन के लिए जाने पूर्व यह संस्कार किया जाना चाहिए। इसकी विधि में प्रातःकाल स्नानादि करके मन्दिरजी जाकर प्रक्षाल -पूजनादि करके, स्वाध्याय करके जिनबिम्ब के समक्ष खड़े होकर हाथ जोड़कर संकल्पपूर्वक (संकल्प-मन्त्र बोलते हुए) श्रावकोचित अष्टमूलगुणों को जीवन में धारण करने की प्रतिज्ञा लें तथा आजीवन सप्तव्यसनों का त्याग करें। इसके बिना जैनत्व सार्थक ही नहीं है।

विवाह-संस्कार

'विवाह' को प्रात: विषय-कषाय एवं भोगविलास के वैध-प्रमाणपत्र के रूप में देखा गया है। अत: यह संस्कार कैसे बन गया और इसके लिए कोई माङ्गलिक विधि करने की क्या आवश्यकता है? — ऐसे प्रश्न प्राय: लोगों के बीच इस विषय में चर्चित /चिंतित रहते हैं। किन्तु ये प्रश्न वस्तुत: इस 'विवाह' नामक संस्कार की वास्तविकता से अनभिज्ञ लोगों के विचारों में ही उत्पन्न होते हैं।

'विवाह' का कार्य धर्म एवं सदाचार से गहरा सम्बन्ध रखता है। 'गृहस्थ' को भी 'धर्म' की संज्ञा है, तो गृहस्थी में प्रवेश करानेवाला विवाह अधर्मरूप कैसे हो सकता है? — यह विचारणीय है। इतना ही नहीं, सभी रिश्तों में यदि 'धर्म' शब्दा जोड़ा जाए, तो वह रिश्ता वास्तविक नहीं रह जाता है, जैसे कि धर्मपिता (अर्थात् पिता-तुल्य तो है, पर पिता नहीं), धर्मभाई (भाई-तुल्य है, पर भाई नहीं) आदि। किन्तु 'धर्मपत्नी' शब्द में ऐसा नहीं है, उसे असली माना जाता है। 'धर्म' किसी रिश्ते में असलियत भरता है, तो वह पति-पत्नी का रिश्ता है, जोकि 'विवाह' नामक संस्कार से बनता है। अत: 'विवाह' संस्कार धर्म से गहरा सम्बन्ध रखता है।

इसी प्रकार माता-पिता, भाई-बहिन आदि कोई रिश्ता चुनने से नहीं बनता है, जो होता है, उसे ही स्वीकार करना पड़ता है। अत: उसकी कोई संस्कारविधि नहीं होती है। जबकि पति-पत्नी का रिश्ता अपने विवेक व प्रयत्नपूर्वक होता है; अत: इसमें 'संस्कार-विधि' की जा सकती है। इसलिए इसमें 'धर्म' वास्तविकता का सूचक होता है। 'धर्म', के अनुसार विवाहपूर्वक यदि धर्म की मर्यादा में जीवन बिताया जाए, तो आप अनेक प्रकार की सांसारिक

विपत्तियाँ, अपवादों एवं दुर्घटनाओं से बच सकते हैं। दाम्पत्य-सम्बन्ध की पवित्रता (पतिव्रतता, पत्नीव्रतता) अनेक रोगों की सम्भावनायें तक नष्ट करती है और पारस्परिक प्रेम अनेक समस्याओं से बचाती है।

यदि कहा जाए कि 'विवाह होता तो विकार (इन्द्रिय-विषय) का पोषक ही है?' तो यह भी भ्रम है। आपका जो उपयोग उस विषय की कामना में अनेकों व्यक्तियों में भटकता था, उसे आप एक तक सीमित कर अनन्त भावबन्ध से बच जाते हैं। अन्य के प्रति अब आपका वैसा विकल्प नहीं रह जाता, तो तत्सम्बन्धी पाप से भी आप बच गए। अनन्त-अविरति से बचाने के कारण यह सांसारिक रागमय होने पर भी प्रकारान्तर से 'धर्मरूप' कहा जा सकता है। जिन स्त्रियों को आप 'माता-बहिन-सुता' रूप नहीं पहिचान पाते थे, विषय का केन्द्र सीमित हो जाने के कारण, वह पहिचान आप कर सकते हैं; अतः **यह अब्रह्म के त्यागरूप नहीं होते हुए भी अनन्त-अब्रह्म से बचानेवाला है।**

इस संस्कार की गरिमा तभी है, जब विवाहसंस्कार से दम्पत्ति बननेवाले दोनों जीव, पारस्परिक प्रेम व विश्वास को अटूट बनाए रखते हैं। 'क्षत्रचूड़ामणि' में कहा गया है - '**संसारोऽपि सारो स्यात् दम्पत्त्योः एककण्ठ्योः**'

अर्थात् — जिन पति-पत्नी में आपकी विश्वास इतना है कि दोनों के विचार, आचार व उत्तर एक जैसे हों, तो ऐसे दम्पत्ति 'असार-संसार' में रहते हुए भी, उन्हें वह संसार भी 'सारभूत' कहा गया है।

इस बात को एक सरल दृष्टान्त से समझा जा सकता है :—

1—1 = 0 अर्थात् यदि पत्नी और पति के विचार व विश्वास परस्पर विपरीत हैं, तो इनका दाम्पत्यजीवन शून्य है। तथा पारस्परिक मतभेद होते हुए भी वे किसी तरक एक साथ रह लेते हैं, भले ही झगड़ते रहें, तो 1 x 1 = 1 की तरह होते हैं। अर्थात् जिसकी चल जाती है, वह अपने अहं को सन्तुष्ट करके खुश हो लेता है; जिसकी नहीं चल पाती है, वह खेद-खिन्न होकर मन मसोसकर रह जाता है।

इसी प्रकार यदि वे किसी अन्य व्यक्ति के समझाने बुझाने से आपस में मिलकर रहते हैं, तो 1 +1 = 2 की तरह दो तो हो जाते हैं; परन्तु उनके दाम्पत्य में वैसी गरिमा नहीं आ पाती है, जैसी अन्य किसी के सहयोग के बिना 'विवाह' नामक संस्था और संस्कार की पवित्रता की रक्षा करते हुए आपसी प्रेम व विश्वास के साथ दाम्पत्यजीवन बिताने वाले दम्पत्ति की होती है। ऐसे व्यक्ति तो 11 की तरह होते हैं; अर्थात् एक के दो अङ्कों के बीच यदि कोई अन्य नहीं होता, तो वे 'ग्यारह' होते हैं। यह दाम्पत्यसम्बन्ध की गरिमा का प्रतीक है।

यह 'धर्मविरोधी' नहीं होता, अपितु 'अनन्त-अविरति' का विरोधी होता है। इसलिए इसे प्रकारान्तर से धार्मिकसंस्कार भी माना गया है।

विवाहकार्य में ज्योतिष के प्रयोग, अर्थात् जन्मपत्री-मिलान आदि को आज कई लोग महत्त्वपूर्ण नहीं मानते हैं। वे दो परिवारों की कुलपरम्परा की गरिमा को देखकर रिश्ता करने की बात कहते हैं। लड़का-लड़की आपस में एक-दूसरे को पसन्द कर लेने की बात करते हैं। वे यह भूल रहे हैं कि लड़का-लड़की मात्र दैहिक

सौन्दर्य को देख पायेंगे, और मात्र परिवारजनों की समृद्धि व प्रतिष्ठा का रिश्ता नहीं होना है, बल्कि दो व्यक्तियों के बीच दाम्पत्य निभाया जाना है। अतः उनके वैचारिक व्यावहारिक गुणों आदि का मिलान ज्योतिष आदि से करना अनुचित प्रतीत नहीं होता है; क्योंकि विपरीत गुणवालों का दाम्पत्य या तो निभ नहीं पाता है, या फिर मात्र किसी तरह निभ ही पाता है; उसमें गरिमा व प्रसन्नता नहीं होती है। अतः इस सम्बन्ध की महत्ता व पवित्रता को बनाए रखने के लिए ज्योतिष एवं कुल आदि की परम्परा के ज्ञान की मदद लेना व्यावहारिक प्रतीत होता है। किन्तु इसे किसी कर्मकाण्ड जैसे पराकाष्ठा तक नहीं अपनाना चाहिए।

'विवाहसंस्कार' बालवयः में तो करना ही नहीं चाहिए, किन्तु अतिविलम्ब से भी नहीं करना चाहिए; अन्यथा दोनों के स्वास्थ्य व सन्तति आदि की दृष्टि से वह अधिक सुखद व सफल सिद्ध नहीं होता है। नीतिसम्मत-विधि से वयःनिर्णय करना चाहिए।

बड़ों की भूमिका के विषय में भी यह जान लेना चाहिए कि बड़ों के अनुभव, विवेक व दूरदर्शिता का उपयुक्त कुल एवं पात्र के चुनने में लाभ लेना चाहिए; किन्तु जिनके बीच दाम्पत्य-निर्वाह होना है, उन्हें भी एक दूसरे से वैचारिक सहमति बनाना वर्तमान-सन्दर्भों में युक्तिसङ्गत ही है।

विपरीत आचार-विचार एवं विपरीत कुल-संस्कारों के लड़के-लड़की में 'विवाह-सम्बन्ध' नहीं होना चाहिए। दैहिक आकर्षण के मोहजाल में पहिले सारी मर्यादाएँ तोड़कर ऐसे सम्बन्ध हो जाते हैं, परन्तु प्रायः निभते नहीं हैं; क्योंकि दैहिक आकर्षण स्थायीभाव को प्राप्त नहीं हो पाता है और फिर आचार-विचार

-संस्कारों का विरोध, जीवन को कलहपूर्ण बनाकर अनेक दुःखद घटनाओं का कारण बन जाता है। इसके दुष्परिणाम आगे पीढ़ियों तक भोगना पड़ते हैं।

आर्थिक आकर्षण के आधार पर भी विवाह-सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। स्वस्थ तन, स्वस्थ मन व अच्छे संस्कारों के साथ -साथ स्वाभिमानी विचारधारावाले परिश्रमी व सुशिक्षित दम्पत्ति का दाम्पत्य कभी कष्टमय नहीं होता। 'धन' का स्तर इसमें कोई महत्त्व नहीं रखता है। अतः मात्र धन के आधार पर, विवाह की पात्रता निर्धारित नहीं की जानी चाहिए।

'दहेज' जैसी बुराईयाँ को भी विवाह-सम्बन्ध से अत्यन्त दूर रखना चाहिए। यह पारस्परिक मन-मुटाव व अनेक दुर्घटनाओं को जन्म देता है। बल्कि यह ध्यान रखा जाए कि लड़के-लड़की के माता-पिता भी समान विचारधारावाले होना चाहिए; इसीलिए तो उनको 'समधी' (समान बुद्धि-विवेकवाला) संज्ञा दी जाती है। अतः विचार-विवेक की सम्पत्ति के साथ, गुणी सुशिक्षित कन्या को 'विवाह' संस्कारपूर्वक स्वीकार किया जाए — यही सर्वोत्तम विधि है। 'धन' इसमें साधक या बाधक नहीं होना चाहिए; किन्तु 'धर्म' साधक अवश्य होना चाहिए।

विवाह-संस्कारविधि

'विवाह' की विधि, दिन में ही की जाना चाहिए तथा अनुकूल तिथि, दिवस का निर्णय ज्योतिष व पारस्परिक सुविधा दोनों की दृष्टि से किया जाना चाहिए।

इसकी विधियाँ, जैन परम्परा-सम्मत प्रचलित हैं; किन्तु

उनमें यह विशेष ध्यान रखा जाए कि पटाखों द्वारा जीव; हिंसा न की जाए, अभक्ष्य–पदार्थों की दावत न दी जाए, रात्रि–भोजन न कराया जाए, भौंड़े नृत्य आदि न करायें जायें तथा योग्य गृहस्थाचार्य से ही विधि सम्पन्न करायी जाये। थोड़े बहुत लोकाचार में क्षेत्र, काल व समाज की रूढ़ियों के कारण भिन्नता हो सकती है, परन्तु धर्मविधि समान है।

धर्मविधि में देव–शास्त्र–गुरु पूजन करके, यन्त्र की साक्षी में मन्त्रों द्वारा पीले चावलों (पुष्पों) से हवन करके फिर यन्त्र–वेदिका के सात फेरे लिए/किये जाते हैं। सप्त–संकल्प, दाम्पत्यजीवन की पवित्रता व गरिमा के लिए किए जाते हैं। 'अग्नि' में हवन करके की परिपाटी जैन–परम्परा में नहीं है। यह वैदिक–परम्परा है। इसके बारे में इसी पुस्तक में स्पष्टीकरण दिया गया है। रूढ़िवश जो करते हैं, वे अनुचित कार्य कर रहे हैं; विवेक–सम्मत नहीं है। अतः अग्नि–हवन को छोड़कर, शेष सामान्य जैन–विवाहविधि स्वीकार्य है।

(नोट– विधि के पाठ आदि विवरण, परिशिष्ट में देखें)

मरणोपरान्त–संस्कार की परम्परा

विश्वभर में मनुष्य की मरणोपरान्त संस्कार की मुख्यतः चार विधियाँ प्रचलित हैं। 1–अग्निसंस्कार, 2–भूमि में गाड़ देना, 3–जलप्रवाहन कर देना, 4– पर्वत या चट्टान पर खुला छोड़ देना।

इनमें जैनों की परम्परागत मुख्य प्रचलित–विधि 'अग्नि–संस्कार' करना ही है। छोटे बालक के शवों को भूमि गाड़ देने तथा सल्लेखना–साधक उग्र–तपस्वी श्रमणों के शव को विशेष–परिस्थिति में पर्वत–शिखर पर रख आने का भी प्रावधान है; किन्तु उनकी भी

सामान्य-विधि, अग्निसंस्कार ही है।

आजकल महानगरों मे विद्युत-शवदाहगृह भी बन गए हैं। ये अधिक व्यावहारिक हैं, क्योंकि इनमें लकड़ी आदि के अन्दर विद्यमान जीवों की हिंसा नहीं होती है; प्रकृति-पर्यावरण को हानि नहीं पहुँचती है (क्योंकि लकड़ी नहीं चाहिए); समय कम लगता है तथा धुयें का प्रदूषण भी वैसा नहीं फैलता है। अतः जहाँ यह साधन उपलब्ध हो सकें, तो इनको अपनाना चाहिए। शास्त्रों के लेखन के समय में साधन थे ही नहीं; अतः शास्त्रों में इनका विधान कैसे हो सकता था?

लकड़ी से अग्निसंस्कार करते समय भी यह सावधानी अवश्य रखी जाए कि लकड़ियाँ घुनी (घुन नामक जीवसहित) न हों तथा उनकी छाल में अन्य जीव न छिपे हों। फिर भी चिता बनाते समय लकड़ी को जमीन पर ठक-ठक करके देख लिया जाए, ताकि इनके आश्रित-जीव निकल सकें।

मरणसम्बन्धी संस्कारों की रूढ़ियाँ अनेक हैं; किन्तु अनावश्यकरूप से उनके प्रपंच में न पड़कर, सरल वह संक्षिप्त-विधि से क्रिया निबटानी चाहिए। इसमें शुद्धि का लक्ष्य प्रमुख होना चाहिए, भय के कारण कुछ नहीं करना चाहिए; क्योंकि आयुबन्ध तो उस जीव को मरण के समय तक हो ही चुका होता है। अब आपके कुछ भी करने से उसकी गति नहीं बदल सकती है।

कुछ लोग अल्पायु में या दुर्घटना से मरण को व्यन्तर आदि होने या आत्मा के भटकने का कारण बताते हैं – यह पूर्णतः अज्ञान है। अल्पायुमरण या दुर्घटनामृत्यु का इन बातों से कोई लेना-देना नहीं है। तथा आत्मा अपनी निर्धारित-गति में ही जाता है; कहीं भटकता नहीं है।

इसी प्रकार अन्त–समय में शरीर में भयङ्कर रोग या पीड़ादायक स्थिति होने से भी आगामी–गति का निर्णय नहीं होता है; बल्कि अन्त–समय जीव के परिणाम कैसे थे ? —इससे जीव की गति का मात्र अनुमान लगाया जा सकता है। इसलिए परिवारजनों व इष्टमित्रों का कर्तव्य होता है कि अन्त–समय निकट जानने पर, रोग–मोह बढ़ानेवाली संसार की चर्चाओं की जगह, उस जीव को मात्र तत्त्वज्ञान एवं वैराग्य की चर्चा/ भजन आदि सुनाना चाहिए, ताकि वह शरीर परिवारजनों एवं भोगसामग्री में मोह घटाकर, अपने परिणाम सुधार सकें, एवं आगामी–भव के लिए अच्छे संस्कार ग्रहण कर सके।

मरणोपरान्त देहसंस्कारविधि

इसमें यह सावधानी रखी जाए कि मरण के अन्तर्मुहूर्त (48 मिनट) के अन्दर ही देह का अग्नि–संस्कार कर दिया जाए। विलम्ब करने से असंख्यात त्रसजीव देह में उत्पन्न होने लगते हैं, और फिर अग्निसंस्कार करने में उन सबकी हिंसा का पाप लगता है। साथ ही शरीर से अनेक प्रकार के दुर्गन्ध एवं प्रदूषण के साथ वैक्टीरिया आदि के संक्रमण के कारण, बीमारी आदि की भी आशङ्का रहती है। हाँ! यदि रात्रि में देहान्त हो, तो शव की दाहक्रिया रात्रि में नहीं करते हैं; क्योंकि रात्रि में शमशान में दहनक्रिया करने में अनेक प्रकार असंख्यात कीट–पतंगे अग्नि के प्रकाश से आकर्षित होकर उसमें जल जाते हैं तथा पर्याप्त प्रकाश के अभाव में भूमि–शोधन भी नहीं हो पाने से अनेक प्रकार के क्षुद्र जीव–जन्तुओं के चिता की अग्नि में जल लाने की आशङ्का रहती है। अतः रात्रि में मरण होने पर देह को शीतोपचार (बर्फ आदि में रखकर) पूर्वक प्रातःकाल

होते ही सर्वप्रथम शव की दाहक्रिया सम्पन्न करावें।

रात्रि के लिए बताए गए साधनों का बहाना दिन में नहीं करना चाहिए। किसी भी सम्बन्धी आदि की प्रतीक्षा में भी शव को नहीं रोका जाना चाहिए। मृतदेह के दर्शन, शुभ नहीं माने गये हैं, लोक में भी अशुभरूप में कहते हैं कि 'तुम मेरा मरा मुख देखे'। अत: मृतदेह के दर्शन के लिए भी किसी को उत्सुक नहीं होना चाहिए।

मृतक की देह को स्नान कराकर, नए कोरे वस्त्र में आवेष्टित कर फिर 'अरथी' पर रखकर सफेद या लाल पतले सूती कपड़े से ढ़ँककर मूँज या रस्सी से बाँधकर, घर की ओर पीठ करके सीधे श्मशान की ओर ले जायें; रास्ते में रुकना शुभ नहीं होता। ले जाते समय रोने-धोने का काम न करके, वैराग्यवर्धक गीत गाते तथा 'अरिहन्त नाम सत्य है' का उच्चाररण करते जायें। पैसे व अन्न आदि शवयात्रा में न बिखेरें। यदि महानगर आदि में श्मशान दूर हो और ट्रैफिक आदि के कारण पैदल ले जाना सम्भव नहीं हो, तो शव-वाहन में 'अरथी' को रखकर ले जा सकते हैं। श्मशान के प्रवेशद्वार पर से चितास्थल तक पैदल पूर्वोक्तरीति से ही ले जायें। शव पर कीमती शॉल या अन्य कीमती सामग्री न डाल इसका कोई औचित्य व महत्त्व नहीं होता है।

चिता के लिए लकड़ी लेने हेतु किसी सदस्य को आगे भेज दिया जाये, ताकि वह लकड़ी की व्यवस्था करके रखे। लकड़ी लेते समय यह ध्यान रखा जाये, कि उसमें नमी न हो, नमीवाली लकड़ी में असंख्यात जीव रहते हैं। इसी प्रकार घुनी/कीड़ेवाली लकड़ी भी न ली जाए। इनसे दहनक्रिया करने में असंख्यात त्रसजीवों की हिंसा

का पाप लगता है। यदि कहीं व्यवस्था न हो, तो विद्युत्-शवदाहगृह की व्यवस्था सम्भव हो, तो उसमें दाहक्रिया करना अधिक उचित है। क्योंकि शवदहनक्रिया का प्रदूषण भी इसमें न्यूनतम होता है तथा लकड़ी आदि से तथा चिता-स्थल की भूमि शोधने से जीवों की हिंसा की सम्भावना भी रहती है।

लकड़ी की चिता में शव को दक्षिण, पश्चिम या दक्षिण-पश्चिम (नैऋत्य) की ओर रखकर चिता चयनकर सभी लोग

'अरिहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि,
साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं पव्वज्जामि॥'

बोलकर, परिवार के प्रमुख या मृतक के उत्तराधिकारी से चिता प्रज्वलित करावें। आपातस्थिति में यदि कोई न हो, तो समाज का प्रमुख-व्यक्ति भी इस दायित्व को निभा सकता है।

श्मशान में चितास्थल पर शव को लिटाने के बाद सिर को ओर थोड़ा घी डालते हैं, ताकि अग्नि प्रज्ज्वित होने में आसानी रहे। कुछ लोग प्रदूषण कम करने व शीघ्र-ज्वलनशीलता के लिए कर्पूर का भी प्रयोग करते हैं।

शवदहन-क्रिया में सम्मलित सभी जन यथायोग्य रीति से हाथ-पैर व मुँह धोकर ही श्मशान से बाहर निकलें- यह वहाँ के प्रदूषण को बाहर न ले जाने की दृष्टि से भी अनिवार्य है। तथा घर के बाहर ही अपने ऊपर जल डालकर, फिर स्नानगृह में पूरे वस्त्र धोकर पूर्ण स्नान-शुद्धि करके ही अन्य कोई कार्य करें।

दहनक्रिया के बाद क्रिया में सम्मिलित सभी अपने-अपने घर जाकर वस्त्रशुद्धिपूर्वक पूर्ण-स्नान करके ही अन्य किसी कार्य में प्रवृत्त होते हैं। यह श्मशान-सम्बन्धी प्रदूषण व इन्फैक्शन दूर

करन के लिए भी आवश्यक है तथा शुद्धि के लिए भी। दाहक्रिया के बाद अन्य किसी भी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते हैं। शवदाह के बाद उस दिन सभी सम्मिलित–जन, धर्मग्रन्थ आदि को स्पर्श नहीं करते हैं।

शवदहन के तीसरे दिन, चिता की राख को एकत्रित कर अवशिष्ट अस्थि–चयन करके, वहीं पास में **छोटा गड्ढ़ा खोदकर उसमें दबा देना चाहिए।** जल में प्रवाहित करने से जलकायिक–जीवों की विराधना भी होती है एवं जल–प्रदूषण बढ़ता है। इस कार्य के बाद भी सभी सम्मिलित लोगों को पूर्ववत् पूर्ण–स्नान अवश्य करना चाहिए।

चूँकि मृतक के शरीर के सम्पर्क से तथा लोगों के आने –जाने से अनेक प्रकार के परमाणुओं के संस्पर्शजन्य प्रदूषण व संक्रमण होते हैं, उनकी शुद्धि के लिए देह–संस्कारविधि के तीसरे दिन पूरे घर की वस्त्रादि की शुद्धि करके, अवशिष्ट शोकभाव को उठा देने या दूर कर देने के निमित्त 'उठावनी' या 'शुद्धता' जैसी विधि, सम्बन्धीजन व समाज के लोग मिलकर करते हैं। इस आयोजन में वैराग्यवर्धक बारहभावना आदि का पाठ किया जाता है तथा किसी विद्वान् से या समाज के बुजुर्ग से तत्त्वज्ञानपरक व्याख्यान/सम्बोधन कराया जाता है, ताकि चित्त धर्ममार्ग एवं कर्तव्यमार्ग में दृढ़ हो। इसके बाद देवदर्शन आदि किये जाते हैं, किन्तु परिवारजन धर्मग्रन्थ को स्पर्श नहीं करते हैं व पूजा–सामग्री नहीं चढ़ाते हैं।

संसारवस्था तेरहवें गुणस्थान तक ही मानी गयी है, उसके बाद मुक्त–अवस्था होती है। अतः प्रतीकात्मकरूप से तेरह दिन बाद सभी परिवारजन मिलकर मन्दिरजी में पूजन–सामग्री लेकर

शान्ति-विधि/ शान्ति-विधान करते हैं एवं इसके साथ ही धार्मिक, सामाजिक व पारिवारिक दायित्व पूर्ववत् चलने लगते हैं। इसे 'तेरहवीं' के नाम से लोक में जाना जाता है। इसके बाद परिजन, सूतक-सम्बन्धी नियमों से भी मुक्त हो जाते हैं।

इसी क्रम में 'रस्म-पगड़ी' की भी विधि होती है, जिसमें परिवार के उत्तराधिकारी को परिवार को नेतृत्व प्रदान करने हेतु पगड़ी बाँधी जाती है।

इस कार्य में जो बाहर के रिश्तेदार आदि आते हैं, उनके भोजनादि की व्यवस्था तो नैतिक व सामाजिक दायित्व गृहस्थ का होता है, अतः वह व्यवस्था तो की जाती है; किन्तु जो मृत्युभोज के रूप में स्थानीय समाज व ब्राह्मभोज आदि की रूढ़ियाँ चल पड़ी हैं, वे जैनधर्म की नहीं हैं तथा उनका कोई संस्कारगत औचित्य भी नहीं है। जैन-परम्परा में किसी को भोजन कराने से दिवंगत-आत्मा को शान्ति या सद्गति की कामना भी निरर्थक है। व्यक्ति अपने कर्म से सद्गति को प्राप्त करता है; अन्य किसी के से नहीं तथा समाज या गाँव के लोगों को भोजन कराना तो अपनी समृद्धि के प्रदर्शन की एक लोकरूढ़िमात्र है, जिसके दुष्परिणामस्वरूप कई गरीबों को अपने गहने व घर तक बेचकर यह काम करना पड़ता है। अतः मृत्युभोज की परम्परा हमें नहीं अपनानी चाहिए। बल्कि हमें यह भी दृढ़ता से निर्णय लेना चाहिए कि कहीं मृत्युभोज का आयोजन हो, तो वहाँ हम उस कार्य में कदापि सम्मिलित न हों। हमारे दृढ़-व्यवहार से ही यह कुरीति समाज से दूर हो सकेगी।

फिर तेरहवें दिन समाज के लोग मिलकर, मृतक के परिजनों को अपने साथ ले जाकर जिनमन्दिर दर्शन कराते हैं एवं यथाशक्ति

दान आदि की घोषणा भी परिजनों की ओर से इस निमित्त की जाती है। यदि घर के प्रमुख–पुरुष की मृत्यु हुई हो, तो उसके ज्येष्ठ–पुत्र को 'उत्तराधिकारी' के रूप में समाज के प्रमुखजनों की उपस्थिति में तिलकपूर्वक पगड़ी बाँधी जाती है।

कई जगहों पर महिलाएँ घर में हृदयद्रावक रुदन करती हैं, इससे स्वयं के तथा सुननेवालों के परिणाम आर्तध्यानमय होने से दुर्गति का बन्ध होता है। अतः ऐसा न करके वैराग्यप्रद चर्चा/भजन/प्रवचन आदि सुनकर परिणामों को दृढ़ता प्रदान करनी चाहिए।

'मृत्यु' जीवन का अनिवार्य–अङ्ग है; अतः यह शोक का विषय नहीं है। मोही जीवों को अपने मोहवश 'शोक' होता है, तो भी यह करने योग्य नहीं है। जैसे किसी बीमारी का उपचार किया जाता है; उसी प्रकार इस मानसिक बीमारी का भी उपचार करना चाहिए। इसीलिए समाज के लोग एवं परिवार के सम्बन्धीजन आकर परिवारजनों को धैर्य बाँधते हैं, उन्हें सांत्वना देते हैं तथा विवेकपूर्णरीति से संसार व शरीर की क्षणभङ्गुरता बताकर, वैराग्यभावना की ओर प्रेरित करते हैं।

सम्बन्धियों व समाज का इस स्थिति में आगमन, परिवारजनों का शोक बढ़ाने के लिए नहीं, अपितु शोक की दशा से बाहर निकालने के लिए होता है। यह आगमन, मात्र एक औपचारिकता नहीं होता, अपितु अपने सम्बन्धी व साधर्मी के परिणामों को विचलित होने बचाने व धर्ममार्ग पर दृढ़ करने क लिए होता है। अकेले में शोकभाव प्रबल होते हैं; अतः सम्बन्धी व समाज के लोग उन्हें शोकाकुल नहीं होने देने की दृष्टि से साथ रहकर, नैतिक एवं आध्यात्मिक सम्बल प्रदान करते हैं।

मृत्यु के प्रसङ्ग में शोक से उबरने के लिए आगे विवेचित बिन्दु अत्यन्त उपयोगी हैं।

'मृत्यु' शोक का विषय नहीं है

महाकवि कालिदास ने लिखा है कि 'मरणं प्रकृतिः शरीरिणां' अर्थात शरीरधारी संसारी प्राणियों का स्वभाव है कि वे 'मरण' को प्राप्त हों। 'जन्म' और 'मरण' एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। प्राप्त-शरीर को छोड़ना 'मरण' है, तो पुनः नवीन-शरीर धारण करना 'जन्म' है। अतः ये संसारी जीवों की स्वाभाविकी प्रक्रियायें हैं। जब तक शरीर का साथ है, ये दोनों कार्य चलते रहे हैं। फिर भी हम 'जन्म' को 'हर्ष का प्रतीक' मानते हैं एवं 'मृत्यु' को 'शोक का प्रतीक' मानते हैं – यह मात्र हमारा अज्ञान है। जब दोनों ही समानरूप से स्वाभाविकी प्रक्रियायें हैं, तो उसमें एक 'हर्ष' और दूसरी 'शोक' की प्रतीक कैसे हो सकती हैं? लोक में कहावत है कि 'रुढ़िः शास्त्राद् बलीयसी' अर्थात लोक में प्रचलित रूढ़ियों को सामान्यजन शास्त्र के कथन से अधिक महत्त्व देते हैं। सम्भवतः इसी क्रम में यह रूढ़ि भी प्रचलित हो गयी है कि 'मृत्यु शोक का प्रतीक है'। वस्तुतः यह एक भ्रम एवं अज्ञानता के कारण चल पड़ा एक अन्धविश्वासमात्र है, जिसका समर्थन भारतीय-परम्परा के विचारक तो कदापि करते ही नहीं हैं, युक्ति एवं तर्क भी इसके पक्ष में नहीं हैं।

जहाँ तक इस भ्रामक-मान्यता के प्रचलन के आधार का प्रश्न है तो यह, मात्र व्यक्ति की स्वार्थी मनोवृत्ति एवं आत्मबल की कमी की सूचक है। इष्ट-मित्र एवं सम्बन्धीजन तो प्रायः अपने स्वार्थवश ही व्यक्ति के दीर्घजीवन की कामना करते हैं और यदि

वह स्वार्थ सिद्ध होता नहीं दिखता, तो वे उससे मुँह मोड़ लेने में क्षणभर का भी समय नहीं लगाते। तथा व्यक्ति भी स्वयं जो मरण से भयभीत रहता है, उसके पीछे किसी तरह जोड़े गये संसाधनों एवं सांसारिक अभिलाषाओं का आकर्षण ही प्रायः प्रमुख कारण रहता है। यदि उसे पूर्ण विश्वास हो कि आगामी जन्म, वर्तमान से भी अधिक सुखद एवं अनुकूल होगा, तो उसे यह शरीर छोड़ने में सम्भवतः कोई हिचकिचाहट नहीं होगी। किन्तु आगामी-जन्म का श्रेष्ठ होना तो अपने अच्छे कर्मों पर निर्भर करता है तथा उनके प्रति व्यक्ति आश्वस्त नहीं होता, क्योंकि उसे अपने कर्मों की भलीभाँति ज्ञान होता है कि वे कितने अच्छे रहे हैं और कितने बुरे ? गाँधी के तीन बन्दर 'बुरा मत देखा, बुरा मत सुनो, बुरा मत कहो' का सन्देश देते हैं, परन्तु हमारे शास्त्र कहते हैं कि '**बुरा मत करो**'**।** इसी से तुम्हारा यह जीवन और आगामी-जन्म मङ्गलमय बनेगा।

जैनदर्शन में एक शब्द आता है 'सल्लेखना'। इसमें दो शब्द है — 'सत्' और 'लेखना'। इनका शाब्दिक अर्थ है 'अच्छाई का लेखा-जोखा करना' अर्थात् हमने क्या अच्छे कार्य किये हैं एवं क्या अच्छे कार्य हम कर सकते हैं, उन्हीं का विचार करना। यदि अच्छाई हमारे संकल्प में बस जाएगी, हमारी दिनचर्या और जीवन बन जाएगी, तो फिर हमें पुराने वस्त्रों को बदलकर, नए कपड़े पहनने की भाँति पुराने एवं रोग आदि बुराईयों से दूषित शरीर को छोड़कर, नए शरीर को प्राप्त करने में हिचक या शोक भला क्यों होगा ? ऐसे अच्छे विचारवाले एवं अच्छे कार्यों वाले व्यक्तियों के जीवन में 'मृत्यु' एक महोत्सव की तरह होती है, जिसमें '**वासांसि जीर्णानि यथा विहाय**' की आत्मविश्वास से भरपूर भावना के साथ प्राप्त

जीर्ण–शरीर छोड़ने एवं नवीन–शरीर धारण करने में कदापि कोई संकोच नहीं होता। उन्हें इस बात की उल्टे प्रसन्नता होती है कि 'चलो, अच्छा हुआ।' जैसे कि अपनी गाड़ी गड़बड़ करने पर हम उसे योग्य मिस्त्री से ठीक कराते हैं, झूठी शान दिखाते हुए यों ही नहीं फैंक देते; उसी प्रकार विवेकी मनुष्य इस अतिदुर्लभ मनुष्य–जीवन को प्राप्त कर जरा–सी परेशानी होते ही मृत्यु की कामना नहीं करने लगते, क्योंकि यह तो पलायनवाद है। वे पहले तो यथासम्भव उसकी भली–भाँति उपचार कराते हैं, ताकि वह धर्मसाधन एवं अच्छे कार्यों को करने में सहयोगी–उपयोगी बना रहे। यदि वह कोटि उपाय करने पर भी उपयोगी न रहे, गाड़ी बदल लेने की सहर्ष–चेष्टा की तरह, शरीर त्यागने में उन्हें कोई खेद या शोक नहीं होता है। इसी प्रक्रिया को '**निष्प्रतीकार मरण**' कहा गया है; अर्थात जब किसी सात्त्विक उपचार से शरीर को उपयोगी बनाये रखना सम्भव न हो, तो उसे सहज शान्तभाव से प्रसन्नतापूर्वक मृत्यु के हाथों में सौंपकर नए परिवेश में नए सिरे से जीवन को संवारने के लिए तत्पर हो जाते हैं।

यहाँ एक प्रश्न है कि संसारी प्राणी को मोहवश जो दुःख या शोक, मरण के कारण होता है, उसका निदान क्या है? भारतीय मनीषियों ने उसका एक अत्यन्त सरल एवं संक्षिप्त–उत्तर दिया है — '**शोकं तरति आत्मविद्**' अर्थात आत्मवेत्ता–व्यक्ति ही शोक के सागर को पार कर सकते हैं। अध्यात्मदृष्टि एवं आध्यात्मिक–साधना के बिना व्यक्ति, मृत्यु के भय एवं शोक से बच नहीं सकता। जो मात्र भौतिकवादी है, शरीर ही जिनको सब कुछ है, ऐसे '**भस्मीभूतस्य च देहस्य पुरागमनं कुतः**' की मानसिकतावालों

को मरण का भय एवं शोक सर्वाधिक सताते हैं; क्योंकि उन्होंने नश्वर-पदार्थ (शरीर) को ही अपना सर्वस्व माना है; अविनाशी आत्मतत्त्व की समझ भी जिन्हें प्राप्त नहीं है, वे भला शरीर के नष्ट होने पर क्यों दुःखी नहीं होंगे ? विश्व के इतिहासकारों ने माना है कि हूणों के आगमन से पहिले भारत में किसी के मरने पर रोने की प्रथा ही नहीं थी।

भारतीय संस्कृति ने सदैव आत्मदृष्टि का ही पोषण किया है, इसीलिए उन्होंने 'मृत्यु' या 'मरण' के लिए जितने शब्दों का प्रयोग किया, वे सभी इस बात के जीत-जागते प्रमाण हैं; जैसे - **देहावसान, देहान्त** (अर्थात देह यानी शरीर समाप्त हुआ है; आत्मा नहीं), **दिवंगत; स्वर्गवास** ('दिवं' यानी 'स्वर्ग में गत' यानी चला गया, स्पष्ट है कि शरीर तो स्वर्ग में गया नहीं है; आत्मा ही गया है) इत्यादि। 'मरण' या 'मृत्यु' शब्द भी 'मृङ्' 'प्राणत्यागे' धातु से निष्पन्न है। इनसे स्पष्ट है कि आत्मा ने इस शरीर से सम्बन्धित प्राणों का त्याग कर दिया है। इसी प्रकार एक शब्द है 'वयकुण्ठ' जिसे हमने 'वैकुण्ठ' बना दिया है। इसका अर्थ है 'वय', यानी 'आयु'; कुण्ठित, यानी क्षीण-नष्ट हो जाना। इसी तथ्य को आचार्य कुन्दकुन्द ने 'समयसार' में स्पष्ट लिखा '**आउक्खयेण मरणं**' अर्थात् आयुकर्म के क्षय से मरण होता है। हमने अज्ञानवश इसे स्थानविशेष का वाचन मान लिया है, जबकि यह 'मरण' का सूचक शब्दान्तर है। यही नहीं, मृतशरीर के लिए हमारे यहाँ एक विशिष्ट-शब्द का प्रयोग होता है- '**अरथी**'। भारतीय परम्परा में यह आध्यात्मिक चिन्तन अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा है, जिसमें 'शरीर' को 'रथ' एवं 'आत्मा' को 'रथी' (रथ चलानेवाला या स्वामी) की उपमा दी

गई है। जिस 'रथ' का 'रथी' चला गया, उसे मात्र 'रथ' न कहकर 'अ-रथी' कहना हमारी आत्मदृष्टि का सूचक है। 'रथीविहीन' (अ-रथी) कहने में स्मरण, 'रथी' यानी आत्मा का है 'रथ'। यानी शरीर का हम उल्लेख भी नहीं करना चाहते। हम वास्तव में अपने इन सांस्कृतिक एवं दार्शनिक प्रयोगों के अर्थ को भुला बैठे हैं। हम मात्र शब्द का प्रयोग करना जानते हैं, जबकि 'अर्थ' तो 'शब्द' की 'आत्मा' है। इसीलिए हम 'मरण' से शोक एवं भय का ग्रहण कर लेते हैं। 'अशोक' (शोकरहित) होने के लिए जो आत्मदृष्टि होना अनिवार्य है। यह आश्चर्य का विषय है कि जो आत्मा अजर-अमर है; मरा ही नहीं, तो क्यों रोते हो ? यदि शरीर के लिए रोते हो, तो उसका तो अग्नि-संस्कार तुम सबने ही मिलकर किया है। वह क्यों किया ? - इससे स्पष्ट है कि मृत्यु का शोक अविवेकजन्य है।

'**जातस्य मरणं ध्रुवं**' - यह ध्रुव सत्य है। कोई भी जीव हो, संसार में जिसने देहधारण का 'जन्म' लिया है, उसका देह वियोग (मरण) होना अवश्यम्भावी है। संसार में जीवन को सुरुचिपूर्ण एवं कलात्मक बनाने, उसे आदर्श एवं समुन्नत बनाने के लिए तो सभी प्रयत्न करते हैं; किन्तु पूरी गरिमा से जीकर अत्यन्त गरिमापूर्ण नीति से नश्वर शरीर को त्याग करने की कला विरले जीव ही जानते हैं। परिपूर्ण समताभाव, शान्तिमय परिणाम एवं प्रसन्नचित होकर जीर्ण काय-कुटीर को मृत्यु को हाथों में सौंपकर, आत्मोद्धार के पथ पर अग्रसर होने का गौरव मिल पाना मनुष्यभव में अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसा सौभाग्य उसे ही मिलता है, जो अविरलरूप से यावज्जीवन 'सत' यानी अच्छाई या भलाई के कार्यों, धर्मप्रभावना एवं आत्महित के मार्ग पर निरन्तर अग्रसर रहा हो; अर्थात् जिसने जीवनभर मात्र

'सत' का ही लेखा-जोखा (चिन्तन-मनन-प्रवर्तन) किया हो, वहीं ऐसे आदर्श 'मृत्यु-महोत्सव' को प्राप्त कर सकता है। इसीलिए इस आदर्श देह-त्यागविधि को ज्ञानियों ने 'सल्लेखना' कहा है। जीवन में कदाचित् राग-द्वेष के प्रसङ्ग कितने ही बनें, किन्तु विवेकीजन 'प्राण-प्रयाण-बेला' में मात्र 'सत्' का ही लेखा-जोखा (चिन्तन-मनन-प्रवर्तन) करते हैं; इसीलिए इसकी 'सल्लेखना' संज्ञा अन्वर्थकी है।

चूँकि ऐसा आदर्श-देहत्याग निश्चितरूप से आगामी-भव में सुगति (श्रेष्ठगति) की प्राप्ति का प्रतीक है; अतः जैन-आम्नाय में प्रतिदिन भावना की जाती है- '**बोहिलाहो, सुगदिगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ती होदु मज्झं**' अर्थात् हे भगवन! मुझे बोधि (रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र) की प्राप्ति हो; सुगति में गमन हो (ताकि वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु का एवं आत्मतत्त्व का समागम निरन्तर बना रहे) एवं समाधिपूर्वक मरण हो (अर्थात् मरण के समय किसी पर व्यक्ति या परपदार्थ की मोह-ममता में अटककर, मेरा चित्त संक्लेश को प्राप्त न हो, मैं मरण से भयभीत होकर भोगोच्छिष्ट भौतिक पदार्थों की कामना में आकुलित न होऊँ; वीतरागी देव-गुरु-धर्म में एवं आत्महित में मेरा उपयोग निरन्तर एकाग्र बना रहे) तथा अन्ततः हमें जिनेन्द्रपरमात्मा के समान वीतरागता आदि गुणों की प्राप्ति हो।

चूँकि प्रायः संसारी-मोही-प्राणियों से घिरे रहने पर, छद्मस्थ-प्राणी का मन ही मोह-ममता से ग्रस्त हो सकता है; इसीलिए किसी विवेकी पुरुष ने कहा है कि - '**मरनो भलौ विदेश को, जहाँ न अपना कोय।**' अर्थात् ऐसे स्थान पर प्राणप्रयाण-बेला में चले

जाना चाहिए, जहाँ शरीर एवं सम्बन्धित पदार्थों में मोहभाव जागृत करनेवाला कोई न हो। तभी व्यक्ति अपने परिणामों को एकाग्र कर 'मृत्यु–महोत्सव' को चरितार्थ कर सकता है। अज्ञानी एवं मोही–जीव, मरण से भयभीत रहते हैं; इसीलिए कहा गया है कि **'णत्थि भयं मरणसमं'**। किन्तु आत्मतत्त्व के ध्रुव–नित्य या शाश्वतरूप को पहचाननेवाले, शरीर की ममता में नहीं पड़ते हैं। वे जानते हैं कि यह तो नाशवान है और मैं अविनाशी हूँ; अतः हमारा संयोग स्थायी हो ही नहीं सकता। अतः इसे तो प्रसन्नतापूर्वक **'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय ....'** की उक्ति चरितार्थ करते हुए फटे–पुराने जीर्ण वस्त्र की भाँति बदल लेने में ही विवेकशीलता की परख होती है। ज्ञानियों ने कहा भी है कि – **'मृत्यु केवल प्रशंसनीय ही नहीं, अपितु वह निश्चय से शाश्वत–कल्याण को भी उत्पन्न करनेवाली होती है।'**

'जीवन' और 'मरण' के सन्दर्भ में जैनदर्शन में अत्यन्त वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। उसके अनुसार तब तक शरीर में समागत व्याधि आदि का उपचार सम्भव हो, तब तक उसका उपचार आदि करके निदान करने की चेष्टा करे तथा जब कोई सात्त्विक–साधन सम्भव न हो, तब देह से सर्वविध ममत्व –त्याग करके, आत्मा एवं परमात्मा के चिन्तन–ध्यान में चित्त को एकाग्र कर लेना चाहिए। यही 'सल्लेखना की विधि' है: **'उपसर्ग दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे। धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥'** अर्थात् घोर एवं अनिवार्य उपसर्ग, दुर्भिक्ष, वृद्धावस्था एवं रोग की स्थिति आ जाये एवं इनका कोई प्रतीकार (निदान) सम्भव न हो, तो धर्मसाधन के लिए

सल्लेखनापूर्वक शरीर को छोड़ देने की ज्ञानियों ने प्रेरणा दी है। इसी बात की पुष्टि आचार्य उमास्वामी ने भी की है: '**मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता**' (-तत्त्वार्थसूत्र, 7/22)

वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में इसी को '**योगेनान्ते तनुत्यजाम्**' कहकर बताया गया है। यह हमारी राष्ट्रीय परम्परा रही है। राष्ट्रपिता **महात्मा गाँधी** एवं **आचार्य विनोबा भावे** आदि महापुरुषों ने इसका खुलकर समर्थन किया है। आचार्य विनोबा ने तो 'सल्लेखना' को अपने जीवन में अपनाया भी था। इतना ही नहीं, ईसापूर्व तृतीय शताब्दी के **प्रियदर्शी सम्राट् अशोक** के स्तम्भलेखों में तो भयङ्कर अपराधियों को भी यह प्रक्रिया अपनाने की व्यवस्था प्रशासनिक तौर पर की गयी थी, ऐसा बताया गया है। सम्प्रति दिल्ली के पुराने किले में स्थित सम्राट् अशोक के स्तम्भ के चतुर्थ-लेख में यह विवरण आया है कि 'सम्राट् अशोक मृत्युदण्ड प्राप्त कैदियों को मृत्युदण्ड की तिथि निश्चित हो जाने पर 'तीन दिन' की विशेष मोहलत देता था, ताकि वे अपना परलोक सुधारने के लिए दान दे सकें, उपवास करके आत्मशुद्धि कर सकें एवं धर्मध्यान कर सकें।' वे अपने अपराधबोध से ग्रस्त होकर दुःखी हो शरीर-त्याग न करें, अपितु आत्मा-परमात्मा के बारे में चिन्तन-मनन-ध्यान करते हुए शान्त मन से शोकरहित होकर, शरीर छोड़ें- यही इस प्रावधान के पीछे सम्राट् अशोक का उद्देश्य था। उसने अपने 'अशोक' (शोकरहित) नाम को अपने जीवन में तो धर्मध्यान, परोपकार आदि के द्वारा चरितार्थ किया ही था, अपनी प्रजा, यहाँ तक कि भयङ्कर अपराधियों तक को 'अ-शोक' यानी शोकरहित जीवन एवं शोकरहित मरण की शिक्षा दी थी। यह शिक्षा कोई उसकी निजी

–खोज नहीं थी, अपितु यह चिरन्तन भारतीय–परम्परा थी, जिसे उसने राजकीय कार्यों में प्रशासनिक स्तर पर शामिल किया था।

इस तथ्य का संकेत नारायण श्रीकृष्ण ने वीर अर्जुन को सम्बोधित करते हुए किया था: '**संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।**' (भगवद्गीता 2/34) अर्थात यह जीवन किस काम का, जिसमें आध्यात्मिक सद्‌गुणों का विनाश होता है, ऐसे जीवन से तो मरण अच्छा है तथा जिनका जीवन आत्मविश्वास एवं सदाचार से सुशोभित होता है, उन यशस्वीजनों को जो कभी मरण का भय या शोक नहीं करता होता – '**नास्ति येषां यशःकाये जरा–मरणजं भयम्**' सुखपूर्वक शोकरहित होकर मृत्यु का वरण कौन कर सकता है? इसके बारे में भारतीय परम्परा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निर्देश प्राप्त होता है —

'**येनानृतानि नोक्तानि प्रीतिभेदः कृतो न च।**
आस्तिकः श्रद्‌दधानश्च स सुखं मृत्युमृच्छति॥'

अर्थात् जिसने असत्य–वचन नहीं बोले हों, जिसने दूसरों में झगड़ा नहीं कराया हो, जो आत्मा में विश्वास रखनेवाला 'आस्तिक' (आस्तिक्यमात्मविश्वासः) हो तथा जो अच्छाई एवं अच्छे व्यक्तियों में श्रद्धा–आस्था रखता हो; वह सुखपूर्वक शोकरहित होकर मृत्यु को प्राप्त करता है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि आध्यात्मिक चिन्तन, आत्मविश्वास एवं सद्‌गुणों से रहित मात्र भौतिकवादी दृष्टिकोणवाले, क्षुद्रस्वार्थी–व्यक्ति ही मरण के प्रति भय एवं शोक की भावना रखते हैं, इनके विपरीत उदार–विचारधारावाले, आत्मविश्वास से भरपूर, आध्यात्मिक दृष्टि–सम्पन्न विवेकी मनुष्यों के लिए तो मृत्यु भी

माङ्गलिक है, महोत्सव है। इस प्रसङ्ग में हमें स्मरण रहे कि '**प्राणप्रयाणबेलायां न हि लोके प्रतिक्रिया**' अर्थात् प्राणप्रयाण–बेला यानी मृत्यु के समय हमारी कोई लोकैषणाजन्य लौकिकी प्रतिक्रिया नहीं होनी चाहिए, तभी 'मृत्यु' भय एवं शोक से रहित–मङ्गल–महोत्सव बन सकती है।

देशदर्शन–पूजन–संस्कार

एक प्रचलित लोकोक्ति है कि 'आज न जाने सुबह–सुबह किसका मुँह देखा था, जो पूरा ऐसा जा रहा है।' यह भले ही लोकरूढ़िवश किया हुआ कथन सही, पर यह तथ्य है कि यदि दिन का शुभारम्भ किसी मङ्गलकारी व्यक्तित्त्व के दर्शन से हो, तो दिन अच्छे कार्यों का निदर्शन बन जाता है।

अब प्रश्न यह है कि किसका मुखदर्शन सबसे शुभ हो सकता है? राग–द्वेष–मोह आदि विकारों से रहित प्रशान्तमुद्रावाले जिनबिम्ब/ जिनमुद्रा से श्रेष्ठ एवं मङ्गलकारी तीनों लोकों में कोई अन्य नहीं है; क्योंकि इनकी मुद्रा के दर्शनमात्र से भय, मोह, क्रोध अहंकार, लोभ एवं विषयवासना जैसे विकार स्वतः उपशान्त होते हैं; इसीलिए इनका दर्शन करना मङ्गलमय है और यह कार्य करके हम अपने दिन का शुभारम्भ मङ्गलमय बना सकते हैं।

इसके कई अन्य लाभ भी हैं। दिन की शुरुआत यदि हम जिनेन्द्रदेव के दर्शन से करना चाहते हैं, तो प्रातःकाल शीघ्र बिस्तर छोड़ देना, स्नानादि से समय पर निर्वृत्त हो जाना, व्यर्थ की सांसारिक चर्चाओं व चिन्ताओं से बच जाना आदि कार्य आपकी दिनचर्या को स्वतः एक माङ्गलिक शुभारम्भ देने लगते हैं। जो सुबह के 2–3

घण्टे हम प्राय: प्रमाद या निरर्थक कार्यों में लगाते हैं, कोई निश्चित रूपरेखा नहीं रहती है कि कब क्या करें ? वे पूरी तरह व्यवस्थित एवं रचनात्मक–दिशा में गतिशील हो जाते हैं। तथा देवदर्शनविधि में वास्तव में पूजन करना सम्मिलित है; इसीलिए श्रावक के षट्–आवश्यक–कार्यों में 'देवपूजा' को ही स्थान दिया गया है 'देवदर्शन' को नहीं। 'देवपूजा' में वीतरागी जिनेन्द्रदेव की ही विधिपूर्वक अष्टद्रव्य से पूजा करने का विधान है, अन्य किसी रागी देवी–देवता की नहीं।

देवपूजा की महिमा बताते हुए कविवर पण्डित बनारसीदासजी लिखते हैं —

"देवलोक ताकौ घर–आँगन, राज–रिद्धि सेवै तसु पाय।
ताके तन सौभाग आदि गुन, केलि विलास करें नित आय॥
सो नर तुरत तरै भवसागर, निर्मल होय मोखपद पाय।
द्रव्य–भाव–विधिसहित 'बनारसि', जो जिनवर पूजै मन लाया॥"

–(**बनारसी विलास, पृष्ठ 22**)

अर्थ – जो व्यक्ति द्रव्य से और भाव से दोनों से विधिपूर्वक जिनेन्द्रदेव की पूजन करता है, उसके घर–आँगन में देवलोक जैसा प्रसन्नतामय वातावरण हो जाता है, राज्यश्री भी उसके चरणों की सेवा करती है, उनके शरीर में सौभाग्य आदि गुण प्रगट होते हैं, आनन्द का विलास इसके यहाँ होता है और वह जीव शीघ्र ही संसार–सागर को पार कर मोक्षपद प्राप्त करता है।

इससे स्पष्ट है कि जिनेन्द्र–पूजन, भावों की एकाग्रता से अष्टद्रव्यसहित विधिपूर्वक करनी चाहिए।

घर में 'आला' बनाकर, भगवान की फोटो या यन्त्रादि रखकर

अथवा अप्रतिष्ठित जिनबिम्बादि रखकर कभी देवदर्शन–पूजन की विधि नहीं होती है। घर में ये बनाना ही नहीं चाहिए। क्योंकि मकान 'ममता' का केन्द्र है। इसमें दिन–रात विषय–भोग व प्रमाद के कार्य होते हैं। इसके विपरीत जिनमन्दिर में विषयभोग के कार्यों को निषेध होता है।

इसलिए जिनबिम्ब वहाँ वीतराग की स्थापना एवं उपासना होने से समताभाव जागृत होते हैं। अतः जिनमन्दिरजी में ही वीतराग –जिनबिम्ब की स्थापना होनी चाहिए और वहीं जाकर विधिपूर्वक जिनेन्द्रपूजन करनी चाहिए।

साथ ही यह भी सावधानी रखनी चाहिए कि जिनेन्द्रदेव के दर्शन एवं पूजन के बदले हम सांसारिक कार्यों की सिद्धि एवं भोगों की प्राप्ति की कामना न करें। यह 'निदान' है। इससे पुण्य की जगह पाप का बन्ध होता है। अतः जिनदर्शन–पूजन के समय निरन्तर उनके पवित्र गुणों का ही चिन्तन व स्तवन होना चाहिए। यदि आकांक्षा करनी ही हो, तो "मेरे कर्मों का क्षय हो, मुझे निर्मल–बोधि एवं समाधि की प्राप्ति हो"– ऐसी भावना करनी चाहिए।

यद्यपि जिनेन्द्रदेव के दर्शन–पूजा की विधि लौकिक–आकांक्षा से रहित होकर ही की जाती है, तथापि इसके प्रभाव से भक्तों को अनेकविधि पुण्यबन्ध के कारण बहुत से लौकिक–लाभ भी होते हैं। आचार्य वीरसेनस्वामी ने 'धवला' ग्रन्थ में ऐसे लाभों में 1. विघ्नों का नष्ट होना, 2. भय दूर होना, 3. दुष्ट देवों द्वारा नहीं सताया जाना, 4. अनेकप्रकार की अनुकूल सामग्री का मिलना आदि बताया है। —(द्र. धवला, जीवट्ठाण)

अत्यन्त प्रसन्नचित होकर मात्र वीतरागता का लक्ष्य करके

ही निष्काम–भाव से की गयी जिनेन्द्र–दर्शन–पूजन विधि 'मिथ्यात्व' जैसे महापाप को दूर कर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में निमित्त बनती है। इसका उपयोग जो लौकिक साधनों के लिए करना चाहते हैं, वे जीव जन्मान्ध–व्यक्ति की तरह हैं, जो उत्तम–मणि को कौड़ियों के बदले बेचता है।

'**सव्वपावप्पणासणो**' अर्थात् सभी पापभाव दूर हों – यही जिनेन्द्रदेव के दर्शन एवं पूजन का लक्ष्य होता है।

इस देवदर्शन एवं पूजन की विधिरूप व्यवहारधर्म का पालन करनेवाला व्यक्ति ही 'श्रावक' संज्ञा प्राप्त करता है। जाति, कुल, व सम्प्रदाय से 'श्रावक' संज्ञा नहीं मिलती है।

अतः यह संस्कार हमारी दैनिक जीवनचर्या का सर्वप्रथम एवं अनिवार्य–अङ्ग होना चाहिए। जो यह सोचते हैं कि धन कमाने के लिए तो प्रयत्न करने ही पड़ते हैं, उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि —

'नहिं लहै लक्ष्मी–अधिक छल करि कर्मबन्ध विशेषता'

तुम्हारे प्रयत्नों एवं तिकड़मों से धन–लाभ नहीं होता है, बल्कि पुण्य के उदय से होता है; और वह पुण्य भी तभी बँधता है, जब पुण्य की भी इच्छा किए बिना जिनेन्द्रदेव के दर्शन–पूजन आदि विधिपूर्वक किए जाते हैं।

और फिर देवदर्शन–पूजन का समय तो प्रातःकाल ही प्रमुखता से कहा गया है। दिन में आप कमाई के लिए व्यापार, नौकरी या अन्य न्यायोचित कार्य करें– इसका कहीं निषेध तो है नहीं। जिनदर्शन–पूजनरूपी मङ्गलाचरण करने के बाद अन्य सभी कार्य आसानी से सहज सम्पन्न होंगे– ऐसा अच्छा प्रभाव होता ही है। संसार का

दारिद्र्य तो धन–सम्पत्ति से दूर हो सकता है, किन्तु पापों का मैल धन से नहीं, धर्मसाधन से ही दूर होगा; और धर्मसाधन की पहली प्रयोगशाला है 'देवदर्शन एवं पूजन' का अनिवार्य संस्कार।

जिनेन्द्रदेव के दर्शन–पूजन की विधि करते समय परिणामों की निर्मलता, समताभाव एवं संसार–शरीर–भोगों से वैराग्यभाव की प्रमुखता रखनी चाहिए, जैसाकि निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट होता है –

''मैं वन्दौं जिनदेव को, करि **अति निर्मलभाव**''

(विनयपाठ)

''वन्दत हूँ जिनराज मैं, धर उर **समताभाव**।
तन–धन–जन–जग जालतैं, धर **विरागता–भाव॥**''

(दर्शनपच्चीसी)

''नाम उचारत सुख लहैं, दर्शन सौं **अघ जाय।**
पूजत पावैं देव–पद, ऐसे हैं जिनराय॥'' – **(वही)**

एक बात और समझ लें कि हमारे यहाँ पर धर्मकार्य के फलस्वरूप मुख्यफल 'मोक्षप्राप्ति' तथा आनुषंगिकफल 'देवगति' प्राप्त करना लिखा है; सो इसका कारण यही जानना कि **चारों गतियों में मात्र देवगति ही ऐसी है, जहाँ जिनेन्द्रदेव के दर्शन–पूजन आदि शुभ–संयोग अनिवार्यतः सभी को मिलते ही हैं, और इन कार्यों को धर्मस्थान का अनिवार्य एवं सर्वप्रथम–अङ्ग माना गया है। देवों के भोगों व वैभव को लक्ष्य करके 'देवगति' पाने की बात कभी नहीं लिखी गयी है।**

क्या है प्रक्षाल?

जिनप्रतिमा को 'जिनसारखी' कहकर जिनेन्द्रदेव के समान कहा तो गया है, और इसी प्रकार व्यवहार करना चाहिए; किन्तु तात्त्विक अन्तर यह है कि 'समवसरण' या 'गन्धकुटी' में विराजमान जिनेन्द्रदेव पर धूल आदि का स्पर्श नहीं हो पाता है, जबकि जिनमन्दिरजी में वेदी में विराजमान जिनबिम्ब के साथ यह सब सम्भव रहता है; अतः इन दोषों की शुद्धि के लिए 'प्रक्षाल' या 'प्रक्षालन' का विधान है। इसके लिए जो भी साधर्मी भाई सबसे पहले मन्दिरजी में आते हैं, वे ही जिनबिम्ब का प्रक्षालन करके उनकी निर्मलता कर लेते हैं। इस विधि में **मात्र शुद्ध प्रासुक-जल से ही एक बार जिनबिम्ब का प्रक्षालन कर शुद्ध साफ सूखे सफेद वस्त्र से जिनबिम्ब का मार्जन कर (पोंछकर) उन्हें वेदी में विराजमान कर देते हैं। यह मात्र-सचल जिनबिम्बों का ही किया जाता है, अचल-जिनबिम्बों का नहीं। अचल -जिनबिम्बों का मात्र सूखे वस्त्र से मार्जन किया जाता है।** यह ध्यान रखा जाये कि प्रक्षाल के उपरान्त अङ्गप्रोक्षण का सूखा वस्त्र स्वच्छ एवं मुलायम श्वेतवस्त्र हो, कठोर (कड़क) व अधिक मोटा नहीं। अन्यथा जिनबिम्ब को ऐसे वस्त्र से रगड़ने से जिनबिम्ब के अङ्गोपाङ्ग धीरे-धीरे घिसने लगते हैं। आज देश में कई ऐसे जिनबिम्ब हैं, जो ऐसे प्रयोगों से अङ्गोपाङ्ग घिसे जाने के कारण वन्दनीय नहीं रह गये हैं। **इसके बाद ही जिनेन्द्रपूजन की विधि की जाती है।**

इससे स्पष्ट है कि प्रक्षाल मात्र एक शुद्धता की प्रक्रिया है, जो मन्दिरजी में दिन के प्रारम्भ में सर्वप्रथम आनेवाला/ आनेवाले सज्जन कर लेते हैं। यह पूजन का सभी के लिए अनिवार्य-अङ्ग नहीं है।

देवदर्शन या पूजन इससे पृथक् स्वतन्त्र–प्रक्रिया है। जिन मनीषियों ने इसे देवपूजनविधि का अङ्ग बताया भी है, वह मात्र सर्वप्रथम आनेवाले व पूजन करनेवाले सज्जनों की दृष्टि से बताया गया है। सामान्य–पूजनविधि की दृष्टि से नहीं।

इस से यह भी स्पष्ट हो जाता है। कि जिनबिम्ब का प्रक्षाल देखने के लिए बार–बार प्रक्षाल करना या जिनबिम्ब का प्रक्षाल की थाली में रखे रहना भी शास्त्रसम्मत नहीं है। प्रक्षाल–विधि एक बार पूर्ण करने के बाद जिनबिम्ब, वेदी में विराजमान हो गए–यहीं 'प्रक्षाल' की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। अब वे साक्षात् गन्धकुटी में विराजमान जिनेन्द्रदेव की भाँति निर्मल हो गए हैं; अतः अब पूर्ण भक्ति–भाव से उनकी दर्शन व पूजन की विधि की जा सकती है।

प्रक्षाल–विधि मात्र पुरुष (8 वर्ष से अधिक आयुवान् व शारीरिकरूप से समर्थ) ही कर सकते हैं, छोटे बच्चे, अतिवृद्ध एवं असाध्यरोगग्रस्त व्यक्ति भी प्रक्षाल नहीं कर सकते हैं। **साथ ही मुनि–अवस्था में ही स्त्री के सात हाथ दूर रहने के संकल्प के कारण अरिहन्त–अवस्था में स्त्री–स्पर्श का स्वतः निषेध होने से स्त्री द्वारा प्रक्षाल निषिद्ध है।**

यहाँ प्रश्न सम्भव है कि 'अभिषेक' व 'शान्तिधारा' के बारे में क्या मन्तव्य है ? तो शुद्ध संस्कारविधि के अनुसार 'अभिषेक' (कई–कलशों भरकर जल से अभिषेक करना) का कोई प्रावधान नहीं है। मात्र नगर–रथयात्रा या रथोत्सव जैसे किसी प्रसङ्ग, विशेष पर 'अभिषेक' जैसी प्रक्रिया की जा सकती है। चूँकि उस नगर–परिक्रमा आदि में अनेकविध धूल, प्रदूषण के तत्त्व जिनबिम्ब पर एकत्रित हो सकते हैं; उनको दूर करने के लिए ही ऐसी प्रक्रिया की

जाती है। इसका उद्देश्य भी मात्र शुद्धि–संस्कार ही है; अतिरिक्त जल ढालने में कोई पुण्यलाभ नहीं होता है। तथा शुद्ध प्रासुक निर्मल जल के अतिरिक्त अन्य किसी भी रस आदि (पंचामृत आदि) का प्रयोग शुद्ध जैन–संस्कार विधि में स्वीकृत है ही नहीं; अतः उनकी चर्चा करना ही अतिप्रसङ्ग है। अन्य रसादि प्रयोग से शुद्धि की जगह अनेक प्रकार की अशुद्धि एवं जीवहिंसा के साथ–साथ अनावश्यक आरम्भ–परिग्रह के दोष बढ़ते जाते हैं। मुख्य बात यह है कि वे शुद्ध–आम्नाय में ही नहीं हैं; अतः जो आम्नाय से ही बाहर है, उस पर चर्चा क्यों की जाए?

रही बात 'शान्तिधारा' की, तो जो तथाकथित 'शान्तिधारा' के पाठ आज प्रचलन में हैं, वे न तो प्राचीन हैं, और न जैनसिद्धान्तों के अनुकूल; अतः उनकी प्रामाणिकता भी सन्दिग्ध है। उदाहरण के तौर पर 'छिन्द–छिन्द–भिन्धि–भिन्धि' के प्रयोग को ही लें, इनका सीधा अर्थ है 'छेदो–छेदो, भेदो–भेदो'। 'छहढाला' में हमने तिर्यंच–गति के दुःखों **में** 'छेदन–भेदन, भूख–प्यास' आदि पढ़े हैं। मनुष्य या बड़े आकार के अन्य–तिर्यंच शस्त्र–अस्त्र या सींग, नाखून व पैने दाँतों से छोटे तिर्यंचों को जैसे छेदते–भेदते हैं, उन्हें हम स्पष्ट हिंसक एवं क्रूरतापूर्ण–कृत्य मानते हैं। तब शान्ति की भावना के नाम पर ऐसे क्रूरतापूर्ण शब्दों का वीप्सा (बारम्बार या अतिरेक) रूप में उच्चारण करने से न तो जिनशासन की मर्यादा रहती है, और न ही शान्ति के परिणाम प्रतीत होते हैं। अतः इन तथाकथित शान्तिधारा के साथ यदि किसी विशिष्ट–विधि **मात्र में शान्तिमन्त्र द्वारा** जलधारा की भी जाती है, तो वह भी मात्र यन्त्र (सिद्धयन्त्र या विनायकयन्त्र) पर ही होती है। जिनबिम्ब पर तो शान्तिधारा किसी भी रूप में नहीं

की जा सकती है। पूजनों में भी जहाँ कहीं मोह आदि कर्मों के 'हनन' आदि की बात आती है, वह अपने परिणामों में सुधार के रूप में होती है कि 'विकार दूर हों तथा सद्परिणाम आवें'; किन्तु किसी भी जीव (चाहे वे व्यन्तर आदि ही क्या न हों) और उनकी गतिविधियों को छेदने-भेदने के लिए जिनबिम्ब या यन्त्र का आश्रय लेकर कोई मन्त्र-प्रयोग नहीं किया जा सकता है। मात्र प्रतिष्ठामण्डप आदि की शुद्धि एवं विघ्न-विनाश की भावना से 'रक्षा-मन्त्र' का विधान तो है, किन्तु 'शान्ति' की कामना के नाम पर किसी को 'छेदने-भेदने' का विधान नहीं है।

जिनेन्द्र-पूजन के प्रकार

एक और प्रासङ्गिक प्रश्न है 'पूजनों के प्रकारों' के बारे में। तो पाँच प्रकार की महापूजायें मानी गयीं हैं। (1-नित्यमह, 2-कल्पद्रुम, 3-इन्द्रध्वज, 4-सर्वतोभद्र, 5-सिद्धचक्र)। इनमें भी सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ-स्थान 'नित्य-नियमपूजा' को दिया गया है। अर्थात् यदि कोई व्यक्ति प्रतिदिन विधिपूर्वक श्रीजी का अनिवार्य-पूजन (देव-शास्त्र-गुरुपूजन, वेदी के मूलनायक-तीर्थङ्कर की पूजन) भी करता है, तो कम पूजन करके भी नियमितता एवं समर्पणभावना की अनवरतता के कारण इसे अन्य महापूजाओं से भी श्रेष्ठस्थान दिया गया है, क्योंकि यह एक पावन-संकल्प के रूप में यथाशक्ति यावज्जीवन (जीवनपर्यन्त) चलती रहती है, जबकि अन्य महापूजायें कुछ दिनों में पूरी हो जाती हैं। साथ ही इसको अपनी दिनचर्या का अङ्ग बनाकर सहजतापूर्वक न्यूनतम-संसाधनों से भी किया जा सकता है; परन्तु अन्य महापूजायें दिनचर्या का अङ्ग

भी नहीं बन सकती हैं और न ही इतने कम-संसाधनों में उन्हें विधिपूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है। यहाँ इस कथन के पीछे मेरा अभिप्राय 'कल्पद्रुम' आदि महापूजाओं के निषेध या कम-महत्त्व प्रतिपादित करने का नहीं है; अपितु 'नित्यमहापूजा' के विशिष्ट महत्त्व-प्रतिपादन का है, जो कि अल्प-आरम्भ, अल्प-परिग्रह एवं सीमित समय में स्वाधीन होकर की जा सकती है। न तो इसे विधानाचार्य चाहिए, न ही मण्डलों की रचना अपेक्षित होती है, और न ही अधिक समय अपेक्षित होता है। यदि किसी के पास समय व संसाधन भरपूर हैं, और वह धर्मप्रभावना की पवित्र-भावना से उन्हें करना चाहता है, तो अवश्य करे। इनके शुद्धविधि-विधान से करने में कोई दोष नहीं है। इनके पीछे लौकिक-आकांक्षा आदिरूप 'निदान' की भावना कदापि नहीं हो - इस बात की विशेष-सावधानी याजक रखें।

साथ ही मण्डल-विधानों के बारे में भी यह स्पष्टीकरण जान लें, कि यदि इनके पीछे यदि उद्देश्य अधिक समय तक समर्पित होकर जिनेन्द्र-परमात्मा के गुणार्चन का है, तब तो बिल्कुल ठीक है। यदि इसे मन्त्र-तन्त्र आदि की विशेषता की दृष्टि से किया जा रहा है, और कल्पित-कथाओं के माध्यम से लौकिक प्रयोजनों की पूर्ति का साधन माना जा रहा है, तो वह कदापि समर्थन-योग्य नहीं है। इस बारे में स्व. पण्डित मिलापचन्द्रजी कटारिया के विचार मननीय हैं-

"इस सरल वीतराग स्तोत्र-साहित्य को मन्त्र-तन्त्रादि और कथाओं के जाल से गूँथकर जटिल एवं सराग बना दिया गया है;

इसके निर्माण के सम्बन्ध में भी मनगढ़न्त कथायें रच डालीं हैं।''

– (जैन निबन्ध रत्नावली, पृष्ठ 337)

रागी देवी-देवताओं की पूजा मिथ्यात्वपोषक

इसी क्रम में यी भी स्पष्टरूप से जान लेना चाहिए कि **ऋषिमण्डलस्तोत्र/पूजा, नवग्रह-पूजन, अन्य रागी देवी-देवताओं आदि की पूजनें भी शुद्ध जैन-पूजन-संस्कारविधि की अङ्ग किसी भी रूप में नहीं है। ये सभी गृहीत-मिथ्यात्व की पोषक होने से 'मिथ्यात्ववर्धिनी-क्रियायें' हैं।**

कुछ लोग यह कहते हैं कि पद्मावती आदि शासनदेवी-देवता जिनधर्म के उपकारक है, अतः उनका उपकार मानकर कृतज्ञ होना चाहिए। तो मेरा यह प्रश्न है कि वीतरागधर्म एवं मोक्षमार्ग में 'उपकार' की परिभाषा क्या है? जिन पार्श्वनाथ आदि की रक्षा-हेतु अपने राग की पूर्ति उन्होंने की थी, क्या वह उपकार था? अरे! 'वृज्रवृषभनाराच-संहनन' के धनी, चरमशरीरी पार्श्वनाथ तो स्वयंरक्षित थे, उन पर वे सामान्य देवी-देवता क्या उपकार करते? हाँ! उन्होंने ऐसा राग और प्रयत्न अवश्य किया था, जो कि उनकी बालचेष्टा मात्र थी, विवेकी-बुद्धि का परिचय नहीं था। यदि कोई वास्तविक संकट होता, तो सारे कल्याणकों में निरन्तर उपस्थित रहनेवाला परमभक्त 'सौधर्म-इन्द्र' क्या इस उपसर्ग का निवारण नहीं करता? उसकी सामर्थ्य के समक्ष तो कमठ की सामर्थ्य रत्ती के बराबर भी नहीं थी। इस सौधर्म-इन्द्र की तो पूजा कभी नहीं की गयी, बल्कि वीतरागदेव के पूजकों में सौधर्म आदि इन्द्रों की स्थापना-निक्षेप से स्थापना करके वीतराग की ही पूजा की जाती है, और इन्द्र

'भक्त' के रूप में होता है। ये कैसे भक्त हैं, जो वीतराग की पूजा छुड़ाकर अपनी पूजा करा रहे हैं? अरे! वे क्या करा रहे हैं? हम अपने अज्ञान के कारण कर रहे हैं।

वास्तविक 'उपकार' तो स्वयं को व अन्य-जीवों को मिथ्यात्व के मार्ग से हटाकर 'सम्यग्दर्शन' एवं 'मोक्षमार्ग' की राह पर लाना है; राग से वीतरागता की ओर व भोग से त्याग की ओर ले जाना है। यदि ऐसा नहीं हो रहा है, तो स्पष्टरूप से जान लेना चाहिए कि वह हमें उपकारी ही नहीं है। और 'उपकार' नहीं, 'उपकारी' नहीं, तो कृतज्ञताज्ञापन किसका और क्यों किया जाए? यदि वे सम्यग्दृष्टि व साधर्मी हैं, तो हमारे साथ बैठें, वह भी वीतरागी जिनेन्द्रदेव की शुद्धिविधि से पूजन करें। अतः पाठकवृन्द व विवेकी-समाज से यह स्पष्ट निवेदन है कि वे अपने विवेक से इस विषय में निर्णय करें। इसकी परवाह न करें कि कितने बड़े पद पर आसीन व्यक्ति या कितना पढ़ा-लिखा पण्डित इस बात की महिमा बता रहा है।

रही बात यह कि इन देवी-देवताओं के कई (कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, अकलंकदेव आदि) मुनिराजों के लिए कुछ कार्यों में सहायक होने की, तो पहिली बात तो यह है कि कुछ परवर्ती-कथाग्रन्थों की कहानियों में ये बातें लिखीं हैं। स्वयं इन आचार्यों ने तो ऐसा लिखा नहीं है। और वे कथाग्रन्थ भी बहुत प्रामाणिक आचार्यों/मनीषियों के द्वारा लिखे गये नहीं है; क्योंकि वीतराग जैनधर्म के मूलभूत-सिद्धान्तों के विपरीत बहुत-सी बातें इनमें पायी जाती हैं। अतः जिनकी स्वयं की प्रामाणिकता सन्दिग्ध हो, उनकी बातों को प्रमाण कैसे माना जाए? और यदि कदाचित् ऐसा भी हुआ हो, तो हम उनको उस कार्य के लिए साधर्मी के रूप में 'धन्यवाद' दे

सकते हैं। उन्हें वीतराग के स्थान पर या उनके समतुल्य-पूज्यत्व प्रदान नहीं कर सकते हैं। आखिरकार आज भी अनेकों श्रावक जिनधर्म, जिनमन्दिर आदि आयतनों पर आनेवाले संकटों को दूर करने में अनेकविध सहायक सिद्ध होते हैं, परन्तु हम उन्हें 'धन्यवाद' के अतिरिक्त पूज्यत्व तो प्रदान नहीं करते हैं।

भाई! यह दुर्लभ-मनुष्यजीवन 'मिथ्यात्व' छ़ड़ाने के लिए है, गृहीत-मिथ्यात्व की ऐसी क्रियायें कर (अर्थात् कुदेव, कुगुरु, कुधर्म, कुदेवसेवक, कुगुरुसेवक, कुधर्मसेवक की भक्ति/बहुमान/ पूजा आदि कर) अनन्त संसार बढ़ाने के लिए नहीं है। कविवर पण्डित दौलतरामजी की ये पंक्तियाँ याद रखें –

'यह मानुष-पर्याय, सुकुल सुनिबो जिनवाणी।
इहविधि गए न मिले, सुमणि ज्यों उदधि-समान॥''

भावपूजा और द्रव्यपूजा

अस्तु, पूजन के बारे में एक बात यह भी आती है कि 'भावपूजा' और 'द्रव्यपूजा' का क्या विशेष है? यह स्पष्टरूप से जान लेना चाहिए कि मूल में 'भावपूजा' शब्द ही है। इसका अभिप्राय है कि 'निदान' आदि दोषों से रहित, प्रशस्तभावों से प्रासुक-अष्टद्रव्य लेकर विधिपूर्वक पूजन करना ही 'भावपूजा' है। बिना द्रव्य-साधन के मात्र पाठ-पाठन (पूजा की पक्तियाँ पढ़ लेना) को 'स्तुतिपाठ' तो कहा जा सकता है, 'भावपूजा' नहीं। सच्ची भावपूजा वही है, जिसमें प्रशस्तभावों के साथ शुद्ध-वस्त्रों में प्रासुक अष्टद्रव्य से विधिपूर्वक पूजा की जाए। इस भावशुद्धि के बिना अकेले इस थाली के द्रव्य दूसरी थाली में चढ़ाना 'द्रव्यपूजा' नहीं है। अतः उसका

स्वतन्त्र-उल्लेख मूल-प्रतिक्रमणादि में कहीं नहीं किया गया है।

पूजन के अष्टद्रव्य

पूजा में प्रयुक्त होनेवाले अष्टद्रव्यों के बारे में प्राचीनतम-उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द के 'दसभक्ति-संगहो' की भक्तियों में मिलता है, जिनको क्रम से रखकर इसप्रकार समझा जा सकता है - **दिव्वेण ण्हाणेण** (शुद्धप्रासुक जल), **दिव्वेण गन्धेण** (केसर-चन्दनमिश्रित प्रासुकजल), **दिव्वेण अक्खेण** (अखण्डित अक्षत-सफेद चावल), **दिव्वेण पुप्फेण** (प्रासूक पुष्प-पीले चावल), **दिव्वेण चुण्णेण** (नैवेद्य, सूखे नारियल का सफेद टुकड़ा/चिटक), **दिव्वेण दीवेण** (दीपक-सूखे नारियल की केसर में रङ्गी चिटक), **दिव्वेण धूवेण** (ताजी बनी धूप या लौंग का चूर्ण /टुकड़े), **दिव्वेण वासेण** (प्रासुक फल - बादाम आदि)। इनके साथ जो 'दिव्वेण' पद का प्रयोग है, वह 'देवोपनीत' शब्दार्थ एवं 'अचित्त प्रासुक, छने गर्म-जल से धुले द्रव्य' - इस भावार्थ में हुआ है। सचित्त फल-फूल या अग्निदीपक आदि का प्रयोग जीवहिंसा-कारक होने से पुण्य की जगह पाप का हेतु है; इसलिए शुद्ध जैन-संस्कारों में सचित्त पुष्प, फल आदि का प्रयोग नहीं होता है। प्रतीकरूप में निर्दोष-वस्तुयें स्थापना-निक्षेप-विधि से चढ़ाई जाती हैं; क्योंकि पूरी पूजन-विधि ही स्थापना-निक्षेप से होती है।

प्रश्न- इन अष्टद्रव्यों के चढ़ाने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर- अष्टविधि-कर्मों के नाश के लिए उपर्युक्त अष्टद्रव्य चढ़ाये जाते हैं। इन्हें क्रमशः इसप्रकार समझा जा सकता है —

1-ज्ञानावरण-कर्म-विनाशनाय अनन्तज्ञान-प्राप्ताय- **जलं**

2–दर्शनावरणकर्म–विनाशनाय अनन्तदर्शनप्राप्ताय– **चन्दनं**

3–वेदनीयकर्म–विनाशनाय अव्याबाधसुखप्राप्ताय – **अक्षतान्**

4– मोहनीयकर्म–विनाशनाय क्षायिकसम्यक्त्वप्राप्ताय– **पुष्प**

5–आयुकर्म–विनाशनाय अवगाहनगुणप्राप्ताय– **नैवेद्यं**

6–नामकर्म–विनाशनाय सूक्ष्मत्त्वगुणलाभाय – **दीपं**

7–गोत्रकर्म–विनाशनाय अगुरुलघुत्वगुणप्राप्ताय– **धूपं**

8–अन्तरायकर्म–विनाशनाय अनन्तवीर्यगुणप्राप्ताय–**फलं**

9–अष्टविधिकर्म–विनाशनाय अष्टगुणप्राप्ताय – **अर्घ्यं**

पूजा के मन्त्ररूप में उच्चारण के लिए इनके प्रारम्भ में 'ॐ ह्रीं' तथा अन्त में 'निर्वपामीति स्वाहा' का प्रयोग किया जाता है।

आजकल प्रचलितरूप में इन्हें क्रमशः इस प्रकार पढ़ा जाता है–

1–जन्म–जरा–मृत्यु–विनाशनाय–**जलं**

2– संसारताप–विनाशनाय–**चन्दनं**

3– अक्षयपद–प्राप्ताय–**अक्षतं**

4–कामबाण–विध्वंसनाय–**पुष्पं**

5–क्षुधारोग–विनाशनाय–**नैवेद्यं**

6–मोहान्धकार–विनाशनाय–**दीपं**

7–अष्टकर्म–विनाशनाय–**धूपं**

8–मोक्षफल–प्राप्ताय–**फलं**

9–अनर्घ्यपद–प्राप्ताय–**अर्घ्यं**

पूजन के लिए पात्रता

मन-वचन-काय से एकाग्र होकर, खड़े होकर (इहविधि ठाड़ो होय के....विनयपाठ) (यदि शारीरिक अशक्तता हो, तो बैठकर की जा सकती है, किन्तु प्रमाद के पोषण के लिए बैठकर पूजन करने का विधान नहीं है) प्रसन्नचित्त होकर शुद्ध धुले वस्त्रों में पूजन की जाती है। **पूजन के वस्त्र केसरिया ही माने गये हैं सफेद नहीं।**

इसीप्रकार देवदर्शन के लिए भी स्नानपूर्वक शुद्ध धुले सफेद वस्त्रों में या फिर नीले, काले रङ्ग छोड़कर अन्य रङ्गों के वस्त्रों में विधिपूर्वक धुले अक्षतपुञ्ज लेकर देवदर्शन करना चाहिए।

(**नोट :** इस विषयों को विविध प्रमाणों-सहित विस्तार से जानने के लिए लेखक की अन्य कृति 'नमन और पूजन' को देखना चाहिए।)

देवदर्शन एवं पूजन-संस्कार की विधि

देवदर्शन के लिए अनिवार्य है कि हम भलीभाँति स्नानकर, शुद्ध धुले सूती वस्त्र या अन्य वस्त्र (रेशमी नहीं) पहिनकर अक्षतपुञ्ज, लौंग, बादाम आदि लेकर ही मन्दिरजी जावें। मन्दिरजी में जहाँ सामग्री धुलने की व्यवस्था होती है, वहाँ प्रासुक-जल से अक्षतपुञ्ज-लौंग-बादाम आदि को धोकर ही जिनदर्शन-विधि में चढ़ावें, बिना धुली सामग्री जिनेन्द्र भगवान् को चढ़ाने योग्य नहीं होती है।

प्रात:काल उठकर स्नानादि के बाद सर्वप्रथम देवदर्शन के लिए ही जाना चाहिए। देवदर्शनविधि का प्रारम्भ जिनमन्दिर के देखने से ही हो जाता है, और वहीं से भक्त "दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवताप-हारी......" स्तोत्र पढ़ते हुए मन्दिरजी की ओर जाता है। जिनमन्दिरजी पहुँचते ही जूते-चप्पल आदि उतारकर, छने जल से हाथ-पैर धोकर तीन बार 'ॐ जय-जय-जय नि:सही-नि:सही-नि:सही' बोलते हुए विनयपूर्वक मन्दिरजी में प्रवेश करता है। मन्दिरजी में जिनबिम्ब दिखते ही 'ॐ जय-जय-जय नमोऽस्तु-नमोऽस्तु-नमोऽस्तु' बोलकर भाववन्दनापूर्वक सर्वप्रथम 'णमोकार मन्त्र' एवं 'चत्तारिदण्डक' (चत्तारि मङ्गलपाठ) का सस्वर-उच्चारण करते हुए अक्षतपुञ्ज चढ़ाते हैं।

फिर अष्टाङ्ग या पंचाङ्ग नमस्कार, [अष्टाङ्ग नमस्कार-विधि में दोनों हाथ जोड़कर जिनेन्द्र भगवान् के सम्मुख पूरा लेटकर (पेट के बल) भूमि पर मस्तक लगाकर वन्दन किया जाता है। जब कि पंचाङ्ग नमस्कार-विधि में घुटने के बल बैठकर दोनों हाथ जोड़कर मस्तकसहित भूमि पर लगाकर वन्दन किया जाता है। स्त्रियों को

'गवासन' में बैठकर पंचाङ्ग नमस्कार करने का विधान है।] करके खड़े होकर जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति (यथा – 'अति पुण्य उदय मम आया...') पढ़नी चाहिए। इसके बाद जिनेन्द्र भगवान् की कोई अन्य-स्तुति (यथा- सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि) पढ़ते हुए तीन प्रदक्षिणा देनी चाहिए।

'प्रदक्षिणा' की विधि में हाथों को 'मुक्ताशुक्ति-मुद्रा' (इसमें हथेलियों के किनारे के भाग मात्र स्पर्श करते हैं और अँगुलियों की अगली पोर /शिरोभाग ही स्पर्श करते हैं, शेष हथेली आपस में स्पर्श नहीं करती है,) में जोड़कर दक्षिणावर्त्त (इसप्रकार घूमना कि जिनेन्द्र भगवान हमेशा आपके दाहिनी ओर रहें) रूप से जिनेन्द्र भगवान की ओर देखते हुए चलना चाहिए। इस क्रम में हर दिशा से खड़े होकर तीन बार हाथ (जुड़े हुए) घुमाकर उन पर सिर झुकाना चाहिए। पहिली प्रदक्षिणा में ऐसा करने का अभिप्राय अधोलोक के उस-उस दिशावर्ती समस्त जिनबिम्बों की वन्दना करना है, दूसरी प्रदक्षिणा में ऐसा करने से मध्यलोक के उस-उस दिशावर्ती समस्त जिनबिम्बों की वन्दना होती है तथा तीसरी प्रदक्षिणा में ऐसा करने से ऊर्ध्वलोक के उस दिशावर्ती जिनबिम्बों की वन्दना होती है। इसप्रकार तीन प्रदक्षिणायें करके हम एक ही वेदी के माध्यम से तीनों लोकों के समस्त कृत्रिमाकृत्रिम-जिनबिम्बों की भाववन्दना कर लेते हैं।

इसके बाद विनयपूर्वक गन्धोदक-वन्दन करना चाहिए। इसमें दाहिने हाथ की दो अँगुलियों (अनामिका एवं मध्यमा) को पहिले शुद्धजल से धोकर फिर इन्हीं दो अँगुलियों से गन्धोदक लेकर दोनों नेत्रों की पलकों के ऊपरीभाग पर लगाना चाहिए कि 'हे

भगवन्! आपके दर्शन मुझे हमेशा मिलते रहें, मेरा दर्शनावरणीकर्म कभी जिनदर्शन में बाधा न डाले', और फिर मस्तक पर लगाना चाहिए कि 'हे भगवान्! मेरी बुद्धि जिनेन्द्रकथित तत्त्वज्ञान में सदा प्रवर्तित रहे, कभी भी मिथ्यात्वपोषक कार्यों में न जाये - ऐसा ज्ञानावरणीकर्म का क्षमोपशम बना रहे।' अन्त में शुद्धजल से हाथ धोकर फिर जिनेन्द्र-सम्मुख बैठकर या खड़े होकर (पुरुष खड़े होकर व महिलायें बैठकर) जापमाला लेकर पंचपरमेष्ठी की ('णमोकार मन्त्र' की अथवा 'ॐ ह्रीं अ-सि-आ-उ-सा-नमः') की जाप करें अथवा मूलनायक-तीर्थङ्कर (यथा-महावीर स्वामी) की 'ॐ ह्रीं श्री महावीस्वामीजिनेन्द्राय नमः' का जप करें। जाप्य -विधि में परिणामों को अत्यन्त शान्त करके भावों में जिनेन्द्र भगवान् को स्थापित करके आँखें बन्द करके या नासाग्रदृष्टि से जाप करें तथा इसके बाद आत्मचिन्तन करते हुए आत्मध्यान की चेष्टा करें।

[यह ध्यान रखें कि अँगुलियों पर गणना (गिनती करके) जाप करना 'अँगुलि-गणना' नामक दोष माना गया है। अतः आप जप 'जपमाला' से ही करें, अन्यथा दोनों हाथ जोड़कर जप करें। गिनना अपेक्षित नहीं होता, जिनती देर तक मन लगे, तब तक जप करें। माला भी हाथ लटकाकर नहीं करें, नाभि के पाय बायीं हथेली खोलकर लगाएँ, उस पर रखकर दायीं हथेली हृदय के पास रखकर जप करें। 'कायोत्सर्गमुद्रा' (दोनों हाथ लटकाकर सीधे खड़े होकर एकाग्रचित्त होना) ध्यान की मुद्रा है, जप की नहीं। 'कायोत्सर्ग' का अर्थ ही है 'शरीर के ममत्व-त्याग'; यह कार्य, ध्यान में ही हो सकता है, जप में नहीं।]

अन्त में 'स्वाध्याय' अवश्य करें। जिनवाणी हमें माँ के

समान वात्सल्यपूर्वक अपने हित की बात बताती है, उसका महत्त्व समझें और जितना समय निकाल सकें, स्वाध्याय अवश्य करें। यह देवदर्शनविधि का अङ्ग है।

संक्षपेत: देवदर्शनविधि की चर्चा के बाद अब, 'पूजनविधि' की सरल, संक्षिप्त चर्चा करना चाहता हूँ।

यहाँ पुनः संकेत कर देना चाहता हूँ कि यदि मन्दिरजी में आप पहले पूजने पहुँचे हैं, और श्रीजी का प्रक्षाल नहीं हुआ है, तो श्रीजी को प्रक्षाल के बाद आप पूजन करें–यह अपेक्षित है; क्योंकि जिनबिम्ब की शुद्धि के बिना पूजन नहीं की जाती है तथा यदि प्रक्षाल हो चुका है, तो आप सीधे पूजनविधि कर सकते हैं – इसमें कोई दुविधा नहीं रखना चाहिए।

जिनेन्द्रपूजन की विधि में सर्वप्रथम विनयपाठ पढ़ते हुए थाली में स्वस्तिक आदि बनायें (परिशिष्ट में चित्र देखें), फिर 'णमोकार मन्त्र', 'चत्तारिदण्डक पाठ' (चत्तारिमङ्गलपाठ), 'अपवित्रः–पवित्रो वा' पढ़कर प्रत्येक के अन्त में पुष्पक्षेपण करें। फिर 'उदक–चन्दन.......' आदि श्लोक पढ़ते हुए पञ्चकल्याणक, पञ्चपरमेष्ठी एवं जिनहस्त्रनाम के अर्घ्य चढ़ावें। फिर '' श्रीमज्जिनेन्द्र–मभिवन्द्य.....'' पाठ पढ़ते हुए अन्त में पुष्पांजलि अर्पित करें। फिर अंजलि में पुष्प लेकर निरन्तर पुष्पक्षेपण करते हुए '' श्री वृषभो नः स्वस्ति....'' आदि पाठ पढ़ें। फिर 'नित्याप्रकम्पाद्भुतकेवलौघः' आदि का पाठ पढ़ते हुए प्रत्येक छन्द के अन्य में 'स्वस्तिक्रियासु परमर्षयो नः' पढ़ते हुए पुष्पक्षेपण करें। (इनमें 'णमोकार मन्त्र' एवं 'चत्तारिदण्डक' के अतिरिक्त अन्य संस्कृतपाठों के स्थान पर उनके हिन्दी–अनुवाद भी पढ़े जा सकते हैं।)

इतनी विधि करने के बाद पूजन प्रारम्भ करते हैं। यहाँ एक दुविधा की स्थिति है, वह है 'स्थापना' को लेकर। कुछ विद्वान् 'स्थापना' करना उचित मानते हैं, कुछ इसका 'निषेध' करते हैं। जिनवाणी में दोनों बातों के उल्लेख हैं; किन्तु तथ्यात्मकरूप से देखने पर हम पाते हैं कि वास्तव में 'आह्वान' या 'स्थापना' एवं 'विसर्जन' – ये दोनों ही जैन–परम्परा के मूलतः अङ्ग ही नहीं है। वैदिक–परम्परा के पूजा–पद्धति के 16 उपचारों में ये दोनों पाये जाते हैं। चूँकि वहाँ पूजन रागी देवी–देवताओं की होती है, अतः उन्हें 'आह्वान' करके बुलाना व विसर्जन करके भेजना तर्कसङ्गत प्रतीत होती है; किन्तु वीतरागी भगवान् न तो 'आह्वान' से आते हैं, और न ही उनका 'विसर्जन' होता है। इतना अन्तर अवश्य है कि जो चिह्नसहित तीर्थङ्कर जिनबिम्ब साक्षात् वेदी में विराजमान है, उनकी स्थापना नहीं की जाती है, मात्र अन्य जिनकी पूजा करते हैं; उनकी भावों में स्थापना करने की अपेक्षा से लौंग से स्थापना करते हैं, क्योंकि पूरी पूजाविधि ही स्थापनानिक्षेप के रूप में मानी गयी है। सारे अष्टद्रव्य स्थापनानिक्षेप से ही है। तथा अन्त में विसर्जन का विधान तो है ही नहीं। "आए जो जो देवगण पूजे शक्तिप्रमाण। ते सब जाएँ कृपा कर अपने अपने स्थान॥"–**यह छन्द जैन पूजा–पद्धति का है ही नहीं।** यह रागी देवी–देवताओं पर लागू होता है, वीतरागी पर नहीं। हमारे यहाँ तो अन्त में पूजनविधि में जो कभी रह गयी हो, उसके लिए 'क्षमापन' किया जाता है। इसे ही लोगों ने 'समापन' या 'विसर्जन' समझ लिया है।

इसके बाद अष्टकों के अन्तर्गत क्रमशः जल–चन्दन आदि अष्टद्रव्यों से पूजन की जाती है और फिर आठों द्रव्यों का

सम्मिलितरूप 'अर्घ्य' के अन्तर्गत चढ़ाया जाता है। इसके बाद 'जयमाला' एवं उस पूजा-सम्बन्धी अर्घ्य समर्पित किया जाता है। (ध्यातव्य है कि यह पूजन 'देव-शास्त्र-गुरु' की ही सर्वप्रथम होती है। कुछ लोग इसके स्थान पर 'समुच्चय पूजन' भी करते हैं।)

तदुपरान्त कृत्रिमाकृत्रिम-चैत्यालयों एवं कृत्रिमाकृत्रिम-जिनबिम्बों के लिए अर्घ्य समर्पित कर 'विहरमान बीस तीर्थङ्करों' एवं 'सिद्धपरमेष्ठी' के लिए अर्घ्य चढ़ाया जाता है।

अब उपर्युक्त-विधि से ही मूलनायक-तीर्थङ्कर की पूजा की जाती है। इसके बाद अन्य कोई पूजन करने का भी भाव हो, तो कोई बन्धन नहीं है, कर सकते हैं। तथा 'आष्टाह्निका-पर्व हो' तो 'नन्दीश्वर-पूजन' एवं 'दशलक्षण-पर्व' में 'दशलक्षणधर्म-पूजन' इकसे बाद अवश्य करनी चाहिए। अन्य कोई व्रत या पर्व मनायें, तो उसकी पूजन भी इसी प्रकार करनी चाहिए।

पूजन का क्रम पूरा होने पर समुच्चय महार्घ्य (मैं देवश्री अर्हन्त....), पढ़कर शेष जो-जो पूजायें आप नहीं कर सकें, उन सभी के लिए एकसाथ अर्घ्य चढ़ाया जाता है। इसके बाद 'शान्तिपाठ' ('शान्तिनाथ मुख शशि-उनहारी' अथवा 'शास्त्रोक्तविधि पूजा-महोत्सव') पढ़ें। अन्त में 'बिन जाने वा जानके....' की स्तुतिपाठ अथवा 'सम्पूर्ण विधि कर वीनऊँ.....' की स्तुतिपाठवाला 'क्षमापान' करके पूजनविधि पूर्ण करें तथा 'जाप्यमाला' से यथानिर्देश जाप्य करें।

वीतराग की पूजनविधि से अवश्य ही परिणामों में राग-द्वेष की वृत्ति घटकर समताभाव जागृत होता है, उसे पुष्ट करने के लिए 'सामयिक' करें।

देवदर्शन के ध्यातव्य बिन्दु

1–किसी भी प्रकार का सेण्ट/इत्र आदि तेज गन्धवाली वस्तु लगाकर मन्दिरजी न जायें, इससे अन्य दर्शनार्थियों के परिणाम विचलित होते हैं तथा किसी को दमा/अस्थमा/श्वासरोग हो या गन्ध से एलर्जी हो, तो उन्हें परेशानी हो सकती है। तथा यह भक्त के स्वरूप–विरुद्ध है।

2–वेशभूषा सात्त्विक, सौम्य हो,। श्रृंगार किया जाए, परन्तु ड्रेस एवं मेकअप इतने भड़कीले/उत्तेजक न हों कि अन्यजनों के परिणामों को बाधित कर सकें। कीमती वस्त्र व आभूषणों का निषेध नहीं है, किन्तु यथासम्भव सौम्यता का ध्यान रखा जाए।

3– जिनदर्शन करते समय ऐसे खड़ें हों कि अन्य दर्शनार्थियों को दर्शन में बाधा उत्पन्न न हो। यह सावधानी प्रदक्षिणा करते समय भी रखें कि आपके गमन से दूसरों को दर्शन या वन्दन (ढोक देना/पंचाङ्ग या साष्टाङ्ग नमस्कार करना) में व्यवधान न हो।

4–घण्टा बजाते समय भी ध्यान रखा जाए कि इतनी जोर से न बजायें कि पूजन करनेवाले, स्तुति पढ़नेवाले या स्वाध्याय करनेवाले विचलित हों। विशेषतः सामूहिक–स्वाध्याय जब चल रहा हो, तब तो घण्टानाद कदापि न करें।

5–आजकल मोबाइल फोन हर जेब की शोभा बन गए हैं। किन्तु मन्दिरजी में इन्हें न ही ले जायें, तो अधिक अच्छा है। आपका चित्त भी इसके कारण विचलित नहीं होगा और अन्य लोगों का उपयोग भी इनकी घण्टी/रिंगटोन से नहीं बँटेगा। फिर भी यदि ले जाना ही पड़े, तो मन्दिरजी में प्रवेश से पूर्व इन्हें 'स्विचऑफ' अवश्य कर लें। यह भी न कर सकें तो 'साइलेंट–मोड' पर तो

अनिवार्यतः कर दें।

6–मन्दिरजी में सांसारिक चर्चा या अन्य किसी भी प्रकार की बातचीत न करें। यदि आवश्यक हो, तो बाहर निकलकर कर लें। मन्दिरजी में सांसारिक चर्चा करने से 'दर्शनमोहनीयकर्म' का बन्ध होता है, क्योंकि यह जिनेन्द्रदेव की विराधना है।

7–स्तुति/पाठ आदि धीमे/मध्यम स्वर में बोलें। जोर–जोर से बोलकर हम क्या प्रदर्शित करना चाहते हैं कि हमें स्तुति/पाठ याद है व अन्य लोगों को नहीं ? यह अभिमान का सूचक हो सकता है तथा अविवेकपूर्ण तो है ही, क्योंकि इससे अन्य दर्शनार्थियों को स्तुति/पाठ पढ़ने में असुविधा होती है।

8–देवदर्शन करते समय जिनेन्द्र–देव के समक्ष अन्य लोगों से 'जय जिनेन्द्र' आदि भी नहीं करें। तथा लोकशिष्टाचारवश बड़े लोगों के चरणस्पर्श आदि भी न करें। इससे जिनेन्द्र–देव की विराधना का दोष लगता है। यहाँ तक कि अन्य मुनि/आर्यिका/त्यागी–व्रती/विद्वान् की भी वन्दना देवदर्शन बीच में नहीं की जाती है। जिनेन्द्रदेव सर्वश्रेष्ठ हैं, उनकी दर्शनविधि के बीच में अन्य किसी की वन्दना नहीं होती है। बाद में की जा सकती है, किन्तु इतना ध्यान रहे कि जिनेन्द्रदेव के समक्ष ऐसा न किया जाये।

9–जिनवाणी एवं जाप्यमाला उठाने के बाद उसे यथास्थान विधिपूर्वक विराजमान करें, चौकी पर रखी छोड़कर न जायें।

10–मन्दिरजी के माली, पुजारी, सेवक आदि के साथ सामन्ती–व्यवहार न करें। उन्हें भी सौम्य/शिष्ट वचन बोलें, ताकि उनका प्राणपीड़न न हो।

11- मन्दिरजी में लाइट, पंखा आदि अनाश्यक न चलायें। इससे अग्निकायिक एवं वायुकायिक जीवों की विराधना/प्राणपीड़न का दोष लगता है। यदि हो सके, तो इनके बिना ही दिन के सहज प्रकाश में विधिपूर्वक जिनेन्द्रदर्शन करें।

जिनेन्द्र-पूजन में ध्यातव्य बिन्दु

1-पुरुषवर्ग विशेषतः यह ध्यान रखें कि शुद्ध पूजा-वस्त्रों से पूजन करने के लिए गीली टावल/गमछा लपेटकर पूरे वस्त्र उतारकर (अण्डर गारमेंट्स भी) ही पूजा के धोती-दुपट्टे पहिनें। सांसारिक कपड़ों के ऊपर पूजावस्त्र धारण नहीं किए जाते हैं। ऐसा करने से वे शुद्ध नहीं रहते हैं। धोती-दुपट्टे से अपने शरीर को ढँकें, दुपट्टे की तरह गले में न डालें।

2-कई लोग कलावा, राखी, अँगूठी में धाना आदि लपेटे रहते हैं, या जनेऊ (यज्ञोपवीत) पहने रहते हैं और इन्हें गीला करके शुद्ध मानकर पूजा-वस्त्र पहिन लेते हैं तथा जिनेन्द्रदेव का प्रक्षाल-पूजन करने लगते हैं। ये सभी सांसारिक वस्त्रों की तरह त्याज्य हैं। अन्यथा आपके पूजा-वस्त्र भी अशुद्ध माने जायेंगे और इन वस्त्रों के जिनबिम्ब-प्रक्षाल की अनुमति नहीं है। अतः पुराना कलावा (मौलि), राखी एवं अँगूठी के धागे आदि उतारकर ही पूजावस्त्र धारण करें।

3-यदि हथेली में कोई चोट आदि का जख्म हो तो, जिनबिम्ब को स्पर्श एवं प्रक्षाल आदि न करें। 'बैण्ड-एड' लगाकर भी नहीं, भले ही वह वाटरप्रूफ क्यों न हो।

ऐसा करने से गन्धोदक में संक्रमिक तत्त्व नहीं जायेंगे और गन्धोदक-वन्दन करनेवाले भक्तजन उस संक्रमण से बच सकेंगे।

4–चर्मरोग से पीड़ित व्यक्ति भी जिनबिम्ब स्पर्श व प्रक्षाल न करें। विशेषत: संचारी (छूत का) चर्मरोग हो, तो कदापि न करें।

5–जिनबिम्ब को मात्र प्रक्षाल के समय ही स्पर्श किया जा सकता है, इसके अलावा नहीं। कई लोग जिनबिम्ब के हाथ–पैर दबाना, उनके चरणों में मस्तक रखना या उनके चरणस्पर्श करने की चेष्टा करते हैं, वह उचित नहीं है। यहाँ तक कि कठोरतापूर्वक या सूखे/सख्त कपड़े से जिनबिम्ब का मार्जन करना भी 'अविनय' के अन्तर्गत आता है।

6– प्रक्षाल का जल विधिपूर्वक छना हुआ एवं गर्म करके प्रासुक किया हुआ होना चाहिए। यदि गर्म करना सम्भव न हो, तो इतनी लौंग पीसकर उसमें डाली जायें कि उसका रङ्ग बदल जाए, तभी वह प्रासुक माना जाएगा। लौंग आदि से प्रासुकजल की मर्यादा अधिकतम चार घण्टे तक रह सकती है।

7–पूजन करते समय शरीर के अन्य अङ्गों को स्पर्श करना, खुजलाना आदि नहीं करना चाहिये। यदि ऐसा हो जाये, तो करने पर हाथ धोकर पोंछने के बाद ही पूजाद्रव्यों को स्पर्श करें/ चढ़ावें।

8– प्रक्षाल या पूजन करते समय पहिले पंचाग–तिलक (मस्तक, दोनों कर्ण–लव, कण्ठ एवं वक्षस्थल) करना चाहिए। यह लघुतम–इन्द्रप्रतिष्ठा है।

9–वेदी से श्रीजी को उठाने से पूर्व सविनय नौ बार णमोकार–मन्त्र का जाप करें। फिर श्रीजी को प्रक्षाल की थाली में विराजमान करें।

10–प्रक्षालविधि में अधिक जल नहीं डालें, क्योंकि अधिक गन्धोदक बचने पर ही उसकी अविनय का सम्भावना अधिक

होती है।

11–अधिक प्रक्षाल करनेवाले हों, तो पंक्तिक्रम से प्रक्षाल करें, हड़बड़ी न करें और प्रक्षाल करते समय जल इधर–उधर न गिरे–इसकी सावधानी रखें।

12–प्रक्षालपाठ के समय मुख पर दुपट्टा कस लें, ताकि जिनबिम्ब पर कोई अशुद्धि की बिन्दु गिरने की आशङ्का न रहे।

13–मार्जन करते समय श्रीजी, यन्त्रजी को एवं पंचमेरु आदि को आड़ा–तिरछा या उल्टा कदापि न करें। सावधानी से स्वच्छ मुलायम कपड़े से मार्जन करें।

14–एक हाथ से न तो अभिषेक करें, न ही पूजा–द्रव्य चढ़ावें। दायें हाथ को दूसरा (बायाँ) हाथ लगाकर विनयपूर्वक ही करें। सामग्री फेंककर या छिटककर न चढ़ावें।

15–जिस कलश से अभिषेक करना है, उसके जल से हाथ धोने का कार्य न करें।

16–प्रक्षाल के समय 'जन्माभिषेक–पाठ' न पढ़ें, प्रक्षालपाठ ही पढ़ें। या माघनन्दि आचार्य–विरचित 'अभिषेकविधि' पढ़ें।

पूजा–संस्कारों के महत्त्वपूर्ण प्रश्न

आज पूजनादि संस्कारों के दो बड़े प्रश्न समाज के सामने हैं।

प्रश्न– 1–पूजनें पुरानी की जायें या नये विद्वानों के द्वारा रचित की जायें?

प्रश्न– 2–मूलपाठ–संस्कृत के ही बोले जायें या उनके हिन्दी–अनुवाद बोलने का भी वही महत्त्व होगा?

इनका स्पष्टीकरण इसप्रकार है —

उत्तर- 1-पूजनें पुरानी की जायें या नयी, यह महत्त्वपूर्ण बात नहीं है, महत्त्व की बात यह है कि उनमें जैन-सिद्धान्तों के अनुरूप बातें हैं या विरुद्ध-प्रतिपादन है। इस बात को कसौटी बनाए जाए कि 'अहिंसक एवं अल्प-आरम्भ-परिग्रह-साधन के साथ परिणामों की विशुद्धि/सात्त्विकता की बात जिनमें हो, वे ही जैन-सिद्धान्तों के अनुरूप हैं।' अतः वे ही आदर्श हैं। अब वे पूजन-पाठ नए हों या पुराने कवि कालिदास ने लिखा है ''पुराणमित्येव न साधु सर्वम्, न चापि शास्त्रं नवमित्यवद्यम्।'' अर्थात्-'पुराना है' - इतने मात्र से सबकुछ अच्छा/श्रेष्ठ नहीं हो जाता है और 'नया है' - इतना होने मात्र से कोई शास्त्र महत्त्वहीन नहीं हो जाता है। सत्य व तथ्य जिसमें हों, वे सभी अनुकरणीय/ अपनाने योग्य हैं।

कई पूजनों में लड्डू-कचौड़ी आदि भोज्य-पदार्थों आदि सांसारिक वस्तुओं का ही विस्तार से उल्लेख आता है, तथा भगवान से 'पुत्र-पौत्र, धन्य-धान्य-सम्पदा' आदि मिलने की बातें लिखी हैं, तो यह विचार करें कि इनके पढ़ने से मन में क्या विचार/संस्कार उत्पन्न होंगे ? हमारा मन खाने-पीने की चीजों पर भटकेगा तथा भोगसामग्री की प्राप्ति की आकांक्षा हमारे मन में घर करेगी। अतः अच्छा है कि इनकी जगह आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान प्रदान करनेवाले भावपूर्ण पूजन-पाठों को वरीयता दी जाए। पुरानी पूजनों में भी ऐसी पूजनें हैं व नयी में भी हैं। अतः नये-पुराने के झगड़े में न पड़कर हित-अहित को ध्यान में रखते हुए जैन-सिद्धान्त सम्मत-पूजन-पाठों को चुना व अपनाया जाना चाहिए। अन्य का तिरस्कार नहीं कर रहे हैं, किन्तु उनमें यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि उनमें लड्डू-कचौड़ी आदि भोग-सामग्री का उल्लेख इनके चिन्तन के

लिए नहीं, बल्कि इन चीजों के त्याग की भावना जगाने के लिए किया गया है। इनका आकर्षण छोड़कर भगवान् के गुणों का आकर्षण जगाने का उद्देश्य वहाँ है।

इसीप्रकार 'जिनेन्द्र के भक्तों को भौतिक सुख-साधन, पुण्य के उदय से मिलते हैं' —ऐसा वहाँ कथन है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि जिनेन्द्र के भक्त इन भौतिक सुख-साधनों को पूजा के बदले में माँगते या चाहते हैं। वे तो इनका त्यागकर आध्यात्मिक-उन्नति ही चाहते हैं - ऐसा अभिप्राय समझकर अन्य पूजन-पाठ भी किए जा सकते हैं।

परन्तु यदि हमारा उपयोग इतना सावधान व विवेकपूर्ण न रहे और विषयान्तरों में भटक सकता हो, तो तत्त्वचिन्तन व जिनेन्द्र के गुणानुवाद-प्रधान पूजनपाठों को चुनने व अपनाने में कोई भय या आशङ्का नहीं करनी चाहिए। निश्चिन्त होकर ऐसा पूजा-पाठ करें - कोई दोष नहीं, बल्कि गुण ही है।

यदि कोई कहे कि जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति करके आये हो या उन्हें उपदेश देने, तत्त्वज्ञान सुनाने? तो भी चिन्ता की बात नहीं है। जो जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है, वहीं तो सविनय बता रहे हैं कि हे भगवान्! आपकी वाणी से हमने ये सीखा है। इसीलिए कृतज्ञतापूर्वक हम आपकी पूजन-स्तुति कर रहे हैं। इसमें कोई अविनय नहीं है, अपितु विवेकपूर्ण-विनय ही है।

उत्तर-2-भाषा का जैन-परम्परा में कोई विशेष-मुद्दा नहीं है। कुछ मूल-मन्त्रों व पाठों (जैसे णमोकार मन्त्र, चत्तारिदण्डक आदि) को मूलरूप में प्राकृत या संस्कृत भाषाओं में रखा जाए तथा अन्य सभी पाठों के हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़ आदि अनुवाद

(यदि वे शुद्ध, मूलानुगामी किये गये हों) भी पढ़े जायें, तो कोई दोष नहीं है। बल्कि मैं तो अच्छा मानता हूँ, क्योंकि अपनी-अपनी भाषा में पढ़ने पर वे कुछ समझ में भी आयेंगे व अपेक्षाकृत शुद्ध पढ़े जायेंगे। जबकि जिन्हें संस्कृत-प्राकृत आदि नहीं आती है, वे उन्हें अशुद्ध पढ़ते हैं व कुछ अर्थ भी समझ में नहीं आने से उनका उपयोग भी नहीं लगेगा। यदि संस्कृत-प्राकृत के पाठों का शुद्ध-उच्चारण व अर्थ सीखकर विवेकपूर्वक उन्हें पढ़ा जाए, तो मूल-पाठों की रक्षा की दृष्टि से इसे महत्त्वपूर्ण अवश्य माना जाना चाहिए। परन्तु मात्र रूढ़ि से इसका पक्ष लेना विवेकपूर्ण नहीं है।

हवन-संस्कार

जैन-परम्परा में कुछ विशिष्ट -संस्कारों की विधि में 'हवन' करने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। तथा यह शब्द आते ही हमें 'अग्नि' के कुण्डों में कुछ सामग्री मन्त्रोच्चारपूर्वक डालने का स्मरण आ जाता है। यह मूलतः वैदिक-परम्परा में होता है, जहाँ माना जाता है कि 'अग्निदेव' हमारे द्वारा दी गयी आहुति-सामग्री को ले जाकर ऊपर अन्य देवों तक पहुँचाते हैं और उनसे सन्तुष्ट होकर वे देवगण हमें अनेक प्रकार की भोगसामग्री प्रदान करते हैं।

इसके विपरीत जैन-परम्परा में जो सिद्धान्त माने गये हैं उनका ज्ञान व चिन्तन अपेक्षित है। यथा —

1- जैन-परम्परा में 'अग्निकुमार' जाति के देव तो माने गये हैं, परन्तु भौतिक-अग्नि को एकेन्द्रिय-जीव माना गया है, और इसमें डालकर जलायी हुई सामग्री किसी भी प्रकार से 'पुण्य' को उत्पन्न करती है- ऐसा कहीं नहीं माना गया।

2–साथ ही यही भी विचारणीय है कि जैन–परम्परा असंयमी देवों की पूजा कभी नहीं करती है। उसमें मात्र वीतरागी ही पूज्य हैं। अतः 'अग्निकुमार' जाति के देव भी जैन–परम्परा में पूज्य नहीं हैं।

3–सामग्री का समर्पण जैन–परम्परा में **त्याग का प्रतीक है,** न कि किसी को खिलाने या तृप्त करने का।

4–साथ ही जैन–परम्परा में 'निष्काम–भक्ति' मानी गयी है अर्थात् किसी भी प्रकार के सांसारिक भोगों, सुख–साधनों की प्राप्ति या विघ्न–बाधाओं के निवारण की कामनारूपी 'निदान' से कभी भी भक्त, जिनेन्द्र भगवान् की पूजा–अर्चना नहीं करता है।

इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह भली–भाँति स्पष्ट हो जाता है कि अग्नि में सामग्री–क्षेपण करके 'हवन' करना मूलतः जैन–विधि है ही नहीं।

यदि कोई कहे कि इतने विद्वानों व पण्डितों ने ऐसा करने को लिखा है तथा वे इस बारे में शास्त्रों के प्रमाण भी देते हैं, तो मेरा यह कहना है कि ऐसे सारे प्रमाणों का सटीक उत्तर विद्वान् पण्डित रतनलालजी कटारिया, केकड़ी (राजस्थान) वालों ने 'जैन निबन्ध रत्नावली' में लगभग 45 पृष्ठों के विशाल लेख में भली–भाँति दिया है तथा उन प्रमाणों की वास्तविकता भी स्पष्ट की है। अतः 'बड़े पण्डितों ने अग्नि में हवन की बात को माना है' – ऐसा भय दिखाने का कोई औचित्य नहीं है। कटारिया साहब भी प्राचीन–परम्परा के प्रतिष्ठित विद्वान् थे तथा आगमनिष्ठ व्यक्ति थे। उन्होंने तर्क–युक्ति और आगम–तीनों प्रमाणों से भली–भाँति स्पष्ट किया है कि जैन–परम्परा में 'अग्नि' में सामग्री–क्षेपण पर हवन करने का कहीं कोई विधान नहीं है।

कुछ जगह जो ऐसे उल्लेख मिलते भी हैं, वे मूलसंघ के आम्नाय के नहीं है, और जैन-परम्परा में पूजा-विधि 'मूलसंघ' के सिद्धान्तों व आम्नाय के अनुरूप ही शुद्ध मानी गयी है। हम पूजा की प्रारम्भ-विधि में पढ़ते भी हैं -

"श्री मूलसंघसुदृशां सुकृतैकहेतुः जैनेन्द्रयज्ञविधिरेष मयाऽभ्यधायि।"

अतः यह भ्रम पूरी तरह निकाल देना चाहिए कि जैन-परम्परा में अग्नि में हवन होता है।

जैन-परम्परा-सम्मत 'हवन-विधि' में थाली में केसर 'ह्रीं' मन्त्र को केन्द्र में रखकर उसके चारों ओर नौ कर्णिकायें बनाकर उनके सन्धि-स्थलों पर बिन्दु रखकर उसे चौकी पर विराजमान कर, फिर उन्हीं 'जाति' आदि मन्त्रों से पुष्प (पीले चावल) क्षेपण करते हुए हवन की विधि है। इनमें मुख्य-महत्त्व उन मन्त्रों के शुद्ध -उच्चारण का है, भक्तिभाव से पुष्प-समर्पण का है।

इसके अतिरिक्त अग्नि-कुण्ड जलाना व उसमें अनेकप्रकार की द्रव्य-सामग्री डालकर जलाना वैदिक-परम्परा की यज्ञविधि है, जैन पूजाविधि में ऐसा विधान कहीं नहीं है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि चाहे पञ्च कल्याणक हों, बड़े मण्डल-विधान हों, विवाहविधि हो, गृहप्रवेश हो या अन्य ऐसे धार्मिक, सामाजिक या पारिवारिक आयोजन हो, जिनमें 'संस्कारविधि' के अन्तर्गत 'हवन' का विधान किया गया है, उन सब जगह पीले चावलों रूपी पुष्पों से ही थाली में क्षेपण कर हवन करना ही जैनपरम्परासम्मत है - ऐसा निर्विवादरूप से मानना चाहिए।

जो अन्य विद्वानों ने कहा, लिखा व कराया है - वह सभी

मात्र इस कारण से है कि पहिले हमारे यहाँ भी ये कर्मकाण्ड ब्राह्मण -पण्डित कराते थे, उनकी देखा-देखी हमारे विद्वानों ने भी ऐसा किया है। किन्तु अब निर्णय की घड़ी है कि हम भय, आशङ्का या लोभ में जैन-सिद्धान्तों के विपरीत रूढ़िवश चली आयी बातों का अन्धानुकरण करें या विवेकपूर्वक जैन-सिद्धान्तसम्मत विधि को अपनायें। आज की विवेकी-पीढ़ी को इस विषय में दो-टूक निर्णय करना ही होगा।

इसी क्रम में यह भी समझ लेना चाहिए कि अग्नि में धूप देना भी जैन-परम्परा की बात नहीं है। इसमें असंख्यातजीवों की हिंसा होती है, 'धर्म' तो दूर, 'पुण्यबन्ध' भी नहीं होता, मात्र पापबन्ध ही होता है। अहिंसा 'परम-धर्म' है और हिंसा, 'महापाप' है। जैनदर्शन के इस मूल-सिद्धान्त को जानने व माननेवालों को पूजाविधि के नाम पर हिंसाप्रधान 'अग्नि में धूप खेना' जैसी प्रवृत्तियों को विवेकपूर्वक तत्काल बन्द कर देना चाहिए तथा अन्य धूप आदि की जगह शुद्ध प्रासुक तत्काल बनाया गया चन्दनचूर्ण या लौंगचूर्ण को उसी थाली में चढ़ाना चाहिए, जिसमें अक्षत-पुष्प आदि चढ़ाते हैं।

आपद्-धर्म-संस्कार विधि

पहले तो यह जानना आवश्यक है कि 'आपद्-धर्म' है क्या? 'आपद्' का सामान्यतः अर्थ 'आपत्ति' लिया जाता है। किन्तु अनायास, अनपेक्षितरूप से जो कोई भी घटनाक्रम अनुकूल या प्रतिकूल बन जाए, जिसकी सम्भावना करके आप प्रवृत्ति नहीं कर रहे हैं, वह सभी 'आपत्' है तथा उस स्थिति में हर्ष या विषाद के अतिरेक से बचकर 'धर्मसाधन' को कैसे बनाये रखा जाये - सही 'आपद्-धर्म-संस्कारविधि' का मुख्य-प्रतिपाद्य है।

इसके विकल्प एवं सम्भावनायें अनन्त हैं, अतः उन सभी का विवेचन एवं समावेश यहाँ कर सकना सम्भव नहीं है, तथापि स्थूलरूप से समग्रतः लेकर यहाँ विवेचन करूँगा।

पहले तो यह भली-भाँति जान लिया जाये कि स्थिति कुछ भी हो, हमें अपनी धर्मचर्या की रक्षा करनी ही करनी है। सावधानी मात्र इतनी ही रखनी है कि श्रद्धापरक-क्रिया आत्मधीन होकर अनवरत बनी रहे, तथा आचरणपरक-क्रिया लोकव्यवहार की मर्यादा के साथ यथायोग्य सामंजस्यपूर्वक विवेक से की जावे। यह श्लोक इसमें बड़ा पथप्रदर्शक हो सकता है-

''सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिकी विधिः।
न यत्र सम्यक्त्वहानिर्न च व्रतदूषणम्॥''

अर्थ - जैनों की लोकाचरण-सम्बन्धी विधि की प्रामाणिकता यही है कि सच्ची श्रद्धा से भी विचलित न हुआ जाये और व्रतों में भी दोष न लग पायें - इसका ध्यान रखा जाये।

यह ध्यातव्य है कि व्रतों से यहाँ सामान्यतः अभिप्राय भूमिका के अनुरूप हिंसा आदि पाँच पापों से बचने रूप यत्नाचार-क्रिया है। ताकि हमारे जीवन में अमर्यादितरूप से पापचरण न बने।

सल्लेखना-संस्कार

विश्वभर के सभी धर्मों व दर्शनों ने इसे आदर्श माना है, भले ही इस विषय पर उनके चिन्तन एवं प्रयोगविधि में अन्तर रहा हो, परन्तु यह सत्य है कि 'मरणान्त-बेला में इष्टदेव के स्मरणपूर्वक-शान्त-परिणामों से देहत्याग' रूप क्रिया सभी ने अनुकरणीय मानी है। इसे ही जैनदर्शन में 'सल्लेखना' कहा गया है। परम्परा की दृष्टि

से यह दर्शन एवं आचारशास्त्र – दोनों का इतना महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है कि प्राचीनतम–ग्रन्थों में भी इसका वर्णन प्राप्त होता है; अतः इसका प्रारम्भ जैनदर्शन के अन्य सिद्धान्तों से अलग नहीं माना जा सकता है।

लक्षण की दृष्टि से "मरणान्त–बेला में जब कोई सात्त्विक–प्रतीकार सम्भव न हो, तब धर्मसाधना करते हुए मृत्यु को अपना काम करने देना ही 'सल्लेखना' है।" इसके चार प्रसङ्ग आचार्यों ने बताए हैं। 1–उपसर्ग की अवस्था में, 2–दुर्भिक्ष आ पड़ने पर, 3–वृद्धावस्था में, 4–असाध्य रोग होने पर। इन चारों में ही जब कोई इलाज सम्भव न लगे (निःप्रतीकारे) और मृत्यु अवश्यंभावी हो, तभी सल्लेखना ग्रहण करने का निर्देश है। (द्रष्टव्य, भगवती आराधना 1/68, तत्त्वार्थसूत्र 7/22, राजवार्तिक 7/22/3, श्लोकवार्तिक 7/22, रत्नकरण्डश्रावकाचार 5/1, चारित्रसार पृ. 23, वरांगचरित 15/125, हरिवंशपुराण 58/160–161, धम्मरसायण 156, अनगारधर्मामृत टीका 7/98, सागारधर्मामृत टीका 1/12 एवं 7/57, लाटी संहिता 6/234–235, उपासकाध्ययन 45/896, सर्वार्थसिद्धि 7/22 इत्यादि।)

इसकी अनिवार्यता मुनियों एवं गृहस्थों – दोनों के लिए बताई गई है। यह मजबूरी से विवश होकर करने की विधि नहीं है, बल्कि प्रसन्नतापूर्वक स्वयं अङ्गीकार करने की विधि है। तथा यह मृत्यु को इष्ट मानकर (आकांक्षा से) नहीं की जाती है; अपितु जीवन के अनिवार्य– सत्य मृत्यु के सम्मुख आ जाने पर संक्लेश, भय आदिरूप बुरे परिणामों से अपने को बचाने के लिए की जाती है, अतः इसे 'आत्मघात' भी नहीं का जा सकता है।

इसके कई भेद या स्तर जैन–परम्परा में प्राप्त होते हैं, यथा – 1. प्रायोपगमन (इसे पादोपगमनमरण एवं प्रायोग्यगमन–मरण भी कहा गया है), 2– इंगिनी–संन्यास, 3–भक्तप्रत्याख्यान–संन्यास।

इनमें से इसकाल के जीवों के लिए अन्तिम 'भक्तप्रत्याख्यान-संन्यास' ही धारण करना सम्भव है। इसमें अपने एवं दूसरे दोनों के सहयोग की अपेक्षा रहती है। इसे अङ्गीकार करने का समय भी अचानक मृत्यु की स्थिति उपस्थित होने पर जो 'भक्तप्रत्याख्यान-संन्यास' ग्रहण किया जाता है, उसे 'अविचार (अर्थात् पूर्व तैयारी के बिना अचानक) भक्तप्रत्याख्यान' कहते हैं तथा जो पहिले से आभास हो जाने पर सुविचारित-रीति से विधिपूर्वक लिया जाता है, उसे 'सविचार-भक्तप्रत्याख्यान' कहते हैं।

विशेष - यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि जैन-समाज ने धर्माराधना के साधनों के रूप में जिनमन्दिर, धर्मशालायें, औषधालय, पाठशालायें आदि तो बहुत बनवाये; किन्तु एक भी 'सल्लेखना-केन्द्र' नहीं बनवाया, जहाँ सल्लेखना-साधना के लिए पूरी जानकारी व संसाधन उपलब्ध हों।

सल्लेखना-संस्कारविधि

सल्लेखना की विधि में आन्तरिक एवं बाह्य - दोनों प्रकार के त्याग करने का विधान है। साधक पहिले आन्तरिक-भावना के रूप में प्रतिज्ञा करता है कि "मैं हिंसादि पाँचों पापों की त्याग करता हूँ, प्राणीमात्र के प्रति मोह या वैर-विरोध का त्यागकर समताभाव धारण करता हूँ। भोजन, पञ्चेन्द्रिय के भोगों की आकांक्षा का त्याग करता हूँ, दूसरों से सांसारिक-पदार्थों व कार्यों की आशा का त्याग करता हूँ, सभी क्रोधादि कषायों का त्याग करता हूँ और सभी पदार्थों के प्रति ममत्व का त्याग करता हूँ।"

इसके साथ ही बाह्य में वह प्रिय-वचनों से अपने परिजनों

एवं नौकर–चाकरों तक से क्षमाभाव करे, शोक–भय–विषाद–अरति आदि को छोड़कर वैराग्यवर्धक–शास्त्रों को श्रवण करे, धार्मिक पाठ व वैराग्य–भावनायें सुने, इनसे मन को प्रसन्न करता हुआ वस्त्रमात्र परिग्रह रखकर शेष–परिग्रह छोड़कर सल्लेखनाविधि के ज्ञाता गुरुजनों/ज्ञानीजनों के सान्निध्य में रहता हुआ क्रमशः पहिले ठोस–आहार का त्यागकर छाँछ व दूध लेता रहे, फिर वह भी छोड़कर मात्र कांजी व गर्म–पानी ही ले और अन्ततः उसे भी छोड़कर समस्त आहार का त्याग कर पञ्च–नमस्कारमन्त्र का स्मरण करते हुए शरीर छूट जाने दे। सल्लेखना–ग्रहण करते समय पलंग पर सोना, मुलायम बिस्तर पर लेटना आदि का भी त्यागकर तख्ते पर या जमीन पर चटाई बिछाकर लेटे एवं शरीर से ममत्व त्यागकर आत्महितकारी चिन्तवन करे।

'काँजी' या 'आचाम्ल' से सेवन से कफ नष्ट होता है, पित्त शान्त होता है, और वायु का प्रकोप भी नहीं होता है। अतः इसे अधिक उपयोगी माना गया है। इसके अलावा भी साधक के शरीर को ध्यान में रखते हुए योग्य वैद्य या सल्लेखना–निर्देशक के अनुसार मध्यम–रसों का आहार साधक को दिया जाना चाहिए।

अन्य सहयोगी–जनों को साधक के लिए 'विक्षेपणी कथा' (चित्त को विक्षोभ उत्पन्न करनेवाली कथा) को छोड़कर आक्षेपिणी (मन को आश्वस्त करनेवाली कथा), संवेजनी (तत्त्वज्ञान–वर्धन करनेवाली कथा) एवं निर्वेजनी (वैराग्य बढ़ानेवाली कथा) – ये तीन कथायें कहनी/सुनानी चाहिए।

अन्य विस्तृत–विधि शास्त्रों से ज्ञातव्य है।

सूतक-पातक की परम्परा

पहले तो यह जान लें कि मूलत: 'सूतक' शब्द ही जन्म एवं मृत्यु-दोनों से सम्बन्धी दोष का काल-निर्धारण एवं इस दोष से बचने की विधि के रूप में प्रचलित हुआ। आजकल 'सूति' अथवा 'जन्म' से 'सूतक' एवं 'पतन' या 'मृत्यु' से 'पातक' की संज्ञा रूढ़िवश प्रचलित हो गयी है।

मूल धर्म-दर्शन के सिद्धान्तों में इसका कहीं कोई प्राचीन उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। स्वयं 'सूतक' के पक्षकार भी कहते हैं कि "राजा, संयमी-व्यक्ति या गृहत्यागी के कोई सूतक-दोष नहीं लगता है।" आजकल भी यह प्रचलित है कि यदि कोई विधिपूर्वक किसी धार्मिक अनुष्ठान में सम्मिलित हो चुका है, तो उस पर भी कोई सूतक-दोष लागू नहीं होता है। – इससे यह प्रतीत होता है कि यह न तो कोई प्राकृतिक वैज्ञानिक विधि है, न ही कोई धार्मिकविधि है।

हाँ! इसे भौतिक दोष-शुद्धि एवं मनोवैज्ञानिकरूप से कुछ सहयोगी-प्रक्रिया अवश्य कह सकते हैं। जब पहले प्राय: घर में ही जन्म एवं मृत्यु हुआ करते थे, तो अनेक प्रकार की अशुद्धियाँ एवं इन्फेक्शन का खतरा स्वाभाविक था, और उन्हें साफ-शुद्ध करने में कुछ समय की अपेक्षा थी; अत: 'इतने दिन का सूतक' जैसे विधान तार्किक प्रतीत होते हैं, किन्तु अब ये कार्य घर में नहीं, 99 प्रतिशत हॉस्पीटल आदि में होने लगे हैं; अत: इनके कारण घर, वस्त्र आदि की अशुद्धि जैसे दोष भी वैसे नहीं लगते हैं। तब 'सूतक-शुद्धि' का पुराना मानदण्ड आज की परिस्थितियों में कैसे तर्कसङ्गत माना जाए? इसका प्रभाव समाज अपना भी चुका है। आजकल मृत्यु-

के एक-दो दिन में ही उठावनी, तेरहवीं आदि सारी विधियाँ की जाने लगी हैं।

पहले कार्यों का फैलाव इतना नहीं था, पारस्परिक मोह-ममता भी घनिष्ठता के कारण अधिक थी। अतः मनोवैज्ञानिक रूप से कोई जन्म या मृत्यु की घटना से व्यक्ति को मानसिकरूप से उबरपाने में कोई न्यूनतम-समय अपेक्षित था, अतः उतने दिन का सूतक-विधान करके एक मनोवैज्ञानिक प्रयोग किया गया था। अब वे स्थितियाँ मानसिकरूप से भी नहीं रहीं। अतः मात्र रूढ़ि से इस परम्परा को अपनाने का निर्देश कितना नीतिसङ्गत है? - यह विचारणीय है।

फिर भी लोकप्रचलित कहावत है कि "रूढ़ि शास्त्राद् बलीयसी" अर्थात् 'रूढ़ि' शास्त्र से बलवती होती है। जो लोकप्रचलित परम्परा है, उसे क्षेत्र-काल के अनुसार मानना ही पड़ता है। अतः क्षेत्रविशेष में जहाँ सूतक की काल-मर्यादा प्रचलित है, उसे लौकिकविधि के रूप में माना जाये। इसका सम्यग्दर्शन या मिथ्यात्व से कोई लेना-देना नहीं है। अतः धार्मिकरूप से इसका भयादोहन नहीं किया जाना चाहिए।

सूतक के बारे में एक बात विशेष-उल्लेखनीय है। यदि कोई व्यक्ति आत्महत्या करके मरता है, तो उसके परिवारजनों को छह माह का सूतक पालने का निर्देश दिया गया है। इसका मुख्य-उद्देश्य परिस्थितियों एवं परेशानियों से घबराकर इस दुर्लभ मनुष्यभव को भावावेश में स्वयं नष्ट करना, अर्थात् आत्महत्या जैसे प्रवृत्ति को सामाजिक स्तर पर तिरस्कृत करता है। जब छह माह तक घर-परिवार के लोग मन्दिर की सामग्री, पूजा की पुस्तक, स्वाध्याय के

ग्रन्थ, गन्धोदक आदि नहीं छू सकते - इत्यादि कई कठोर-प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं, तो उनका स्पष्ट-संकेत है कि व्यक्ति आत्महत्या जैसी प्रवृत्ति के प्रति अत्यन्त निरुत्साहित हो, कोशिश करने की भी हिम्मत न करे और उसे घोर-पाप समझे। उदाहरणस्वरूप—जब कोई देश अन्तर्राष्ट्रीय-नियमों के विरूद्ध परमाणु-हथियारों के लिए परीक्षण आदि करता है, तो संयुक्त राष्ट्रसंघ उस पर व्याापारिक से लेकर उस देश में लोगों के भ्रमणार्थ जाने आदि पर प्रतिबन्ध जैसे अनेकों प्रतिबन्ध लगाता है, तो उसका अर्थ यह नहीं होता कि 'अब उस देश की वस्तुयें घटिया हो गयी हैं, अतः उससे व्यापार नहीं करना चाहिए।' बल्कि उस देश को विश्वसमुदाय की भावनाओं के विरुद्ध ऐसे घातक-हथियारों के विकास के प्रति निरुत्साहित करना होता है, ताकि वह इन घातक-हथियारों के बारे में सोचना तक बन्द कर दें।

इसीप्रकार पालतू जानवरों में दूध, खेती के लिए आवश्यक गाय-भैंस व बैल के अतिरिक्त शौकिया रूप से कुत्ता, बिल्ली आदि हिंसक-जानवरों एवं मात्र दिखावा के लिए पक्षियों आदि को पालने की प्रवृत्ति को हतोत्साहित करने के लिए इनके भी जन्म एवं मरण-सम्बन्धी सूतक का विधान किया है।

क्योंकि इन पशु-पक्षियों को हम अपने शौक एवं दिखावा के लिए उनकी प्राकृतिक आजादी से वंचित कर अपने पास बन्धन में बाँधकर रखते हैं। उनके खान-पान भी हिंसक होते हैं तथा उसे हिंसा के आप भी सहभागी माने जाते हैं। जैसे कोई आतंकवादी को अपने पास प्रश्रय दें, तो सरकार उसे भी आतंकवाद जैसे अपराध में बराबर दोषी मानती है एवं कानून उसे भी भरपूर सजा का प्रावधान

करता है।

इसी प्रकार वेश्यागमन एवं परस्त्रीसेवन/परपुरुष सेवन जैसी अनैतिक प्रवृत्तियों को रोकने के लिए ऐसा कार्य करनेवालों को नित्य-सूतक-दोष बताया है। अर्थात् ऐसे कुकृत्य करनेवाले मन्दिर की चटाई तक पर बैठने के अधिकारी नहीं बताए हैं।

इससे स्पष्ट है कि मनुष्य ऐसी खोटी-आदतों से बचें। ऐसी सूतकविधि सातों व्यसनों (जुआ खेलना, माँस खाना, शराब पीना या किसी प्रकार का नशा करना, शिकार खेलना, चोरी करना आदि) के सेवन पर भी होनी चाहिए, क्योंकि जैनपरम्परा में सामान्य श्रावक को भी सातों व्यसनों का त्याग अनिवार्य बताया गया है।

किन्तु ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि के जातिभेद से सूतक में जो कालभेद (किसी को कम, किसी को ज्यादा दिन का सूतक) बताया गया है, वह नितान्त अतार्किक एवं भेदभावपूर्ण प्रतीत होता है।

प्रचलित सूतकविधि

लोकप्रचलित सूतकविधि के मुख्यबिन्दु निम्नानुसार हैं-

1- व्यक्ति को स्नानादिपूर्वक धुले वस्त्र वस्त्र पहिनकर मन्दिर जाना, देवदर्शन करना, शास्त्र-स्वाध्याय सुनना आदि का कहीं निषेध नहीं है। अतः ये कार्य नहीं छुड़वाने चाहिए।

2-मात्र धर्मग्रन्थ छूना, पूजनसामग्री चढ़ाना, मन्दिर के उपकरण (चौकी, बिछात आदि) का उपयोग करना ही निषिद्ध है। सो इन्हें नहीं करते हुए भी धर्मसाधन किया जा सकता है।

3-सूतकवाला व्यक्ति यदि सामान्य स्नानादि एवं वस्त्रादि की शुद्धियुक्त है, तो उसके साथ अन्य साधर्मियों को छुआछूत जैसी

कोई दोष नहीं माना जाता है। अतः इस दृष्टि से उसका तिरस्कार या भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए।

4- लोकपरम्परा के अनुसार सूतक-विधान इस प्रकार है-

(क) मृत्यु का सूतक तीन पीढ़ी तक 12 दिन का, चौथी पीढ़ी में 6 दिन का, पाँचवीं-छठी पीढ़ी से 4 दिन का, सातवीं पीढ़ी में 3 दिन का तथा आठवीं पीढ़ी में 24 घण्टे का माना जाता है। नौंवी पीढ़ी में जन्म व मरण दोनों का मात्र 2 प्रहर (6 घण्टे) का सूतक माना जाता है।

(ख) बालकों की आयु के अनुसार तीन दिन तक के बालक की मृत्यु हो तो 1 दिन का, आठ वर्ष तक के बालक की मृत्यु का 3 दिन का सूतक माना जाता है। इसीप्रकार गर्भपात में भी 3 माह तक के गर्भपात का 3 दिन का, तथा इससे अधिक के गर्भपात में जितने माह का गर्भपात हो, उतने दिन का सूतक माना जाता है।

(ग) यदि नौकर, चाकर आदि की सन्तान आपके घर में मर जाये, तो 3 दिन का सूतक माना गया है। और आपके घर से बाहर मरे, तो कोई सूतक नहीं माना जाता है।

(घ) अपने घर में पालतू-गाय-भैंस आदि के मरण का एक दिन का सूतक माना गया है।

(ङ) अपने कुल-गोत्र का व्यक्ति यदि सन्यासी (गृहत्यागी) होकर मरे, तो मात्र एक दिन का सूतक माना जाता है।

(च) **दुराचारी स्त्री व पुरुष को सदाकाल सूतक माना जाता है।**

(छ) आत्महत्या करनेवालों के परिवारजनों को छह माह का सूतक है।

(ज) **अन्य व्यक्ति की हत्या करनेवालों को आजीवन सूतक है और उनके पाप का जब भी पता चले, तब से इस व्यक्ति के परिवारजनों को छह माह का सूतक होता है।**

(झ) जिस वंश का व्यक्ति जिनबिम्ब–प्रतिष्ठा जैसे बड़े पुण्य–कार्य में विधिवत् संलग्न हो चुका हो, उसे व उसके वंश के लोगों को **जब तक वह कार्य चले,** कोई सूतक नहीं लागू होता है।

स्त्रीधर्म–विशेष संस्कार–परम्परा

एक परम्परा चली आ रही है कि स्त्रियों के मासिक–स्राव होने पर उन्हें लगभग अस्पृश्य मान लिया जाए। उन्हें न तो देवदर्शन–पूजन में सम्मिलित होने दिया जाये, ना ही भोजन बनाने आदि में योगदान करने दिया जाये। यह एक प्राकृतिक–क्रिया है और यह सत्य है कि इसके माध्यम से स्त्री के शरीर के अनेकों विकार बाहर निकल जाते हैं। यदि उनका स्राव किसी भी कार्य में प्रवृत्ति या चिन्ता आदि से बाधित होता है, तो यह उनके स्वास्थ्य पर व्यापक प्रतिकूल–असर डालता है। चूँकि निरन्तर–अशुचिता बनी रहने से धर्मग्रन्थ या पूजन–सामग्री छूना, मन्दिरजी में प्रवेश करना या तीर्थयात्रा करना आदि धर्मकार्यों में अपेक्षित शरीर–शुद्धि एवं वस्त्र–शुद्धि सम्भव नहीं होने से निषेध करना पूर्णतः न्यायसङ्गत है। यदि ऐसी किसी भी अशुद्धि से युक्त पुरुष भी हो, तो उस पर भी ये ही पाबन्दियाँ लागू होंगी। अतः यह स्त्रियों के साथ अन्याय या पक्षपात का व्यवहार नहीं है और न ही पुरुषप्रधान समाज की मनमानी है।

इन दिनों में विश्राम व न्यूनतम क्रियाकलाप उस स्राव को निर्बाधरूप से होने देने में वैज्ञानिकरीति से भी अनुकूल व्यवहार है।

हाँ! यदि कोई इसे तिरस्कार के रूप में लेता है, तो यह उसकी सीमित-सोच का परिणाम है। इसका धर्मविधि से मात्र सामान्य शरीरशुद्धि एवं वस्त्रशुद्धि जितना ही सम्बन्ध है। बाकी इसका धर्म से कोई लेना-देना नहीं है।

इस दृष्टि से समझकर स्त्रियों को भी इसमें नियमों को अपने अनुकूल जानकर सहजभाव से लेना चाहिए, न कि इसे तिरस्कार मानना चाहिए। इन दिनों स्त्रियाँ धर्म के पाठ/स्तुतियाँ/प्रवचन आदि घर में ही टेप/सीडी आदि के द्वारा सुन सकती हैं तथा तत्त्वचिन्तन करके अपने परिणामों को शान्त व उन्नत बना सकती हैं। इन धर्मकार्यों को करने में कोई बाधा नहीं है, बल्कि ये अवश्य किए जाने चाहिए। तत्त्वज्ञान का चिन्तन कर ऐसे उत्कृष्ट-परिणाम करने चाहिए, ताकि आगामीभवों में पुनः स्त्रीपर्याय के बन्धनों को न भोगना पड़े और पूर्ण-संयम को अङ्गीकार करने में सक्षम-अवस्था प्राप्त हो सके। परम्परा की दृष्टि से विश्व के लगभग सभी धर्मों में इनके प्रति एक जैसा दृष्टिकोण एवं विधान इस तथ्य की पुष्टि करता है कि यह निर्णय किसी धर्मविशेष ने किसी पूर्वाग्रह से नहीं लिए हैं। हाँ! यदि इनमें तिरस्कार जैसे कोई भावना या बात आती है, तो उसका अवश्य निषेध किया जाना चाहिए।

स्त्रीधर्म-विशेष संस्कारविधि

स्त्रीधर्म के मासिक-स्राव को सामान्यतः पाँच दिनों का माना जाता है। इसके प्रथम दिन तीन दिनों में स्राव की अधिकता के कारण पूर्णतः विश्रान्ति का प्रावधान है। चौथे दिन पूर्ण-स्नान कर वस्त्रशुद्धिपूर्वक रसोईघर के कार्य कर सकती है। पाँचवें दिन से

यदि किसी तरह की कोई आशङ्का की गुञ्जाइश भी न हो, तो विधिपूर्वक देवदर्शन, व्रतीदान आदि कार्यों में प्रवृत्त हो सकती है।

यदि किसी के शारीरिक अस्वस्थता के कारण स्राव अधिक दिनों तक रहता है, तो स्राव पूर्णतः बन्द होने के बाद ही पूर्वोक्त रीति से कार्य किए जाने चाहिए, दिनों की गिनती से नहीं।

यह प्रक्रिया शुद्धि की रक्षा भी करती है एवं वैज्ञानिकरीति से स्त्री के स्वास्थ्य की संरक्षण एवं पोषण भी करती है।

यदि कोई कहे कि पहले आजकल जैसे बचाव के संसाधन नहीं थे, अतः धार्मिक कार्यों का निषेध उचित था, किन्तु अब संसाधन आविष्कृत हो गए हैं, तो वस्त्रादि दूषित भी नहीं होते हैं। तब इन कार्यों का निषेध क्यों? इसका सहज एवं वैज्ञानिक समाधान यही है कि वे संसाधन वस्त्रों से पूर्णतः स्पर्शित रहते हैं, अतः जैसे एक दिन वस्त्र बिना धुला पहिनकर उसके ऊपर धुले वस्त्र पहिने लेने से भी दर्शन–पूजन का अधिकारी व्यक्ति नहीं होता; बल्कि इस अशुद्ध–वस्त्र के सम्पर्क से वे धुले–वस्त्र भी अशुद्ध ही माने जाते हैं। अतः इस संसाधनों से सुविधा भले ही बढ़ी हो; किन्तु शुद्धि नहीं बढ़ी है। इसलिए इन संसाधनों को अपनाने के बाद भी पूर्वोक्त –विधि ही लागू होगी।

स्वाध्याय–संस्कारविधि

वर्तमानकाल की परिस्थितियों में मात्र 'स्वाध्याय' ही सर्वाधिक सुगम एवं प्रभावी साधन है, धर्म के सच्चे संस्कारों के निर्माण तथा प्रसार के लिए। यह 'प्रदर्शन' नहीं, अपितु 'दर्शन' है।

'स्वाध्याय' में कौन–से ग्रन्थ या पुस्तकें चुनी जायें? इसका सरल समाधान यही है, जिससे आप अपने परिणामों की विशुद्धि व

आत्महित अधिक प्रभावी ढंग से कर सकें, वे ही चुनी जायें।

इसकी विधि क्या हो ? शास्त्रों में तो बड़ी कठिन-प्रक्रियायें बताई गई हैं ? इसका सहज-समाधान है कि वे नियम मूल आगम-ग्रन्थों के स्वाध्याय के लिए हैं, आगमानुसारी इतर-ग्रन्थों के स्वाध्याय के लिए नहीं। यथायोग्य शुद्धि एवं विनय का ध्यान रखते हुए अधिक से अधिक उपयोग 'स्वाध्याय' में रमे —ऐसी विधि अपनानी चाहिए।

स्वाध्याय के पाँचों अङ्गों - 1- वाचना (पढ़ना), 2- पृच्छना (पढ़ा विषय यदि स्पष्ट न हो, तो उसके विशेष जानकर से उसका स्पष्टीकरण समझना), 3-अनुप्रेक्षा (जो बात अपने हित की समझ में आयी हो, उसका बारम्बार चिन्तन करना), 4- आम्नाय (दृढ़-संस्कार बनाने के लिए उसको अनवरत उपयोग में बनाए रखना) एवं 5-धर्मोपदेश (अपने परिणामों की एवं वचन की विशुद्धि के लिए उसी तत्त्वज्ञान की चर्चा करना) - को जैसा, जहाँ जितना सम्भव हो अपनाना चाहिए।

सामूहिक स्वाध्याय में व्याख्यानकर्त्ता को विनय व वाणी की मर्यादा (उचित शब्द एवं दृष्टान्त-चयन) का विशेष ध्यान रखना चाहिए। मात्र लोक की रुचि के अनुसार बोलने वाले 'वावदूक' (व्यर्थ ही बहुत बोलनेवाले या प्रलापी) कहे जाकर उपहास के पात्र होते हैं। ज्ञानियों के शास्त्रों को उनकी मर्यादा में रहकर सरल व सुबोधगम्य भाषा-शैली में लोगों को समझाना आवश्यक है। वाणी की प्रभावोत्पादकता की जहाँ तक बात है, तो यदि उसका तत्त्वचिन्तन ने आपके परिणामों को प्रभावित वास्तव में किया होगा, तब उसकी चर्चा करने में आपकी वाणी में प्रभावोत्पादकता स्वयमेव आ जाएगी।

अधिक दृष्टान्तों (यहाँ तक कि चुटकुलों, शेरों–शायरी आदि) की जरूरत मात्र उन्हें होती है, जो उस तत्त्व से स्वयं ही प्रभावित नहीं हैं और उसकी चर्चा करके दुनिया को प्रभावित करना चाहते हैं।

स्मरण रहे कि स्वाध्याय का मूल–लक्ष्य है –

''आत्मानं स्नापयेन्नित्यं ज्ञानवारिणा चारुणा।
येन निर्मलतां याति जनो जन्मान्तरेष्वपि॥''

अर्थ – ज्ञानरूपी पवित्र–जल से आत्म–परिणामों का नित्य –प्रक्षालन करते रहना चाहिए, जिससे प्राप्त संस्कारों के बल से व्यक्ति अन्य जन्म में भी निर्मलता की वृद्धि करता रहता है।

वीतरागी–वाणी का स्वाध्याय मुख्यतः स्व–पर भेदविज्ञान के लिए किया जाता है, क्षयोपशम के प्रदर्शन के लिए नहीं। **स्मरण रहे कि 'प्रज्ञा' (अधिक क्षयोपशम से उत्पन्न अहंभाव) को जिनवाणी में 'परीषह' (कष्ट) का रूप माना है।**

'स्वाध्याय' में 'मङ्गलाचरण' (कोई मङ्गलश्लोक बोलना) का जो भी महत्त्व हो, किन्तु 'मङ्गल+आचरण' (पवित्र आचरण/ आत्महितकारी व्यवहार) का अवश्य ही बड़ा महत्त्व है। इससे अद्भुत प्रभावना–योग बनता है। जिस धर्म का आप उपदेश देते हैं, उसकी यथाशक्ति व भूमिका के अनुरूप सत्ता आपके परिणामों व जीवन में भी झलकनी चाहिए। इससे उत्तम 'मङ्गलाचरण' अन्य कोई नहीं हो सकता है। शब्दात्मक मङ्गलाचरण तो प्रारम्भ–मध्य–अन्त में करने का विधान है; किन्तु व्यावहारिक मङ्गलाचरण तो 'वाचना' व 'धर्मोपदेश' के समय भी तथा इसके अलावा भी निरन्तर चलता रहता है, अपने को एवं दूसरों को प्रभावित करता रहता है।

धर्मप्रभावना-कार्य संस्कारविधि

सम्यग्दृष्टि के आठ अङ्गों में 'प्रभावना' नामक अङ्ग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किन्तु आज इसके लिए जो प्रयोग किये जाने लगे हैं, वे अवश्य गम्भीरतापूर्वक विचारणीय हैं। उदाहरण के तौर पर धार्मिक कार्यक्रमों में भोजन/नाश्ता आदि के आयोजन को ही लें। अनेकत्र इनमें अभक्ष्य-पदार्थों, बाजार के डिब्बाबन्द ज़ंक-फूड आदि को दिया जाने लगा है। इनसे जैनधर्म की विराधना होती है, गलत-सन्देश लोगों के बीच जाता है। धार्मिक आयोजन में नियमतः सामान्यशुद्ध, अभक्ष्यपदार्थ रहित भोजन/नाश्ता ही दिया जाना चाहिए।

ऐसा ही एक अन्य प्रसङ्ग है पञ्चकल्याणकों आदि में बारात आदि का शहर में भ्रमण कराना, उनमें भौंडे डाँस, आदि कराना। इन्हें जिम्मेवार लोगों की दृढ़ता से बन्द कराना चाहिए। बोलियों व पैसों के आकर्षण में फँसकर तथा एक और जुलूस निकालने का बहाना मानकर इनके चक्कर में कभी भी नहीं पड़ता चाहिए। **पञ्चकल्याणक पूरी शुद्धि-विधि से संस्कारी-प्रतिष्ठाचार्य द्वारा ही कराये जाने चाहिए।** बच्चों के जन्मदिन आदि पर उन्हें तीर्थयात्रा कराना, कोई अच्छे संस्कार की प्रेरणा देना आदि भी महत्त्वपूर्ण है। इससे उनमें धर्म के सही स्वरूप के प्रति समझ बढ़ेगी। पर्यटन में धार्मिकक्षेत्रों को अवश्य सम्मिलित किया जाए। विशेषतः समस्त सिद्धक्षेत्रों का अवश्य ही जीवन में एक बार तो दर्शन किया जाए।

तीर्थक्षेत्रों पर प्रभावना के लिए आधुनिक सुविधायुक्त आवासीय परिसरों में होनेवाले सप्तव्यसनों के अबाध प्रसार को प्रबन्धकगण दृढ़तापूर्वक रोकें। कहीं ऐसा न हो कि कोई स्टिंग-

आपरेशन या कोई काण्ड हमारे तीर्थों को इनके कारण बदनाम कर सके। तीर्थों पर शुद्ध भोजन, अच्छे आवास की व्यवस्था इसलिए होनी चाहिए, ताकि लोग शान्तभाव से वहाँ रहकर धर्मध्यान कर सकें। तीर्थों पर सब सुविधायें जुटाई जा रही हैं, परन्तु **नियमित-स्वाध्याय की व्यवस्था प्रायः कहीं दृष्टिगत नहीं होती है। जबकि धार्मिक संस्कारों के लिए यह अपरिहार्य है। अतः तीर्थों पर नियमित स्वाध्याय (प्रवचन) को भी व्यवस्था अवश्य की जानी चाहिये।**

एक अन्य बात मैं थोड़े संकोच से लिख रहा हूँ, क्योंकि बहुत से लोग इससे असहमत हो सकते हैं, विशेषतः कार्यक्रमों व सामाजिक संगठनों के पदाधिकारी व संयोजकगण। परन्तु सत्य को भय/आशङ्का से तिरोहित करना भी अनुचित है। वह बात है धार्मिक कार्यों व अनुष्ठानों के पदों की बोली लगाना। ऐसा लगता है कि मानों इन्हें नीलाम किया जा रहा हो। तीन लोक के नाथ के माङ्गलिक कार्यों को करने का आधार भावों की विशुद्धि होनी चाहिए या परिग्रह या अधिक पैसा देने की सामर्थ्य। इनकी शुद्धता क्या कैसे भी अर्जित किए गए पैसे से तय हो सकती है?-यह व्यापारवृत्ति मुझे वीतरागधर्म में आज तक समझ में नहीं आयी। इससे भी अधिक विडम्बना तब लगती है, जब धार्मिक संस्कारों का समय काटकर घण्टों तक बोलियाँ होती हैं तथा पैसे देकर सम्मान खरीदा जाता है। क्या इस धर्म की प्रभावना का पुण्य इतना क्षीण हो चुका है कि उसे बेचकर धार्मिक आयोजन करने पड़ें? पाठक क्षमा करें। मैं इस प्रक्रिया से कतई सहमत नहीं हूँ। यदि कोई कहे कि ऐसे बिना बोली के तो कोई भी पद लेने को तैयार हो जाएगा, एक-एक पद

के कई–कई प्रत्याशी बन जाऐंगे। तब व्यवस्था कैसे बन सकेगी ?– यह प्रश्न एक निर्मूल–आशङ्का मात्र है।

इसका सरल–समाधान यह है कि जो व्यक्ति धार्मिक संस्कारों को अधिक दृढ़ता व समर्पणवृत्ति का संकल्प लेकर करने का साहस करे, उसे ही उस संस्कारविधि करने का पात्र माना जाए। इसके लिए बोलियों में समय बर्बाद करने की भी आवश्यकता नहीं होगी। मात्र पात्रता के आधार–बिन्दु तय करके सबको प्रचारित कर दिए जायें, संस्कारी अपने आप आगे आ जायेंगे ?

कोई कहे कि ''तब धन का प्रबन्ध कैसे होगा ?'' यह एक कोरी डरानेवाली बात है। पवित्र–लक्ष्यवाले प्रशस्तकार्यों के लिए धन का अभाव बाधक बने– यह सम्भव ही नहीं है। जो पद लेगें, वे स्वेच्छा हर्षपूर्वक ''दान देय मन हरष विशेखै'' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए कभी धन की कमी नहीं आने देंगे। तीर्थङ्करों के कल्याणकों में कुबेर (धनपति) किंकर (दास) की तरह विनम्रभाव से उपस्थित होते हैं, कोई तीर्थङ्करों के कल्याणक जैसी परिणामविशुद्धि से कार्य करे तो सही ?

अधिक क्यों कहे ? युगानुसारी–धर्म की जगह धर्मानुसारी–युग को बनाने के लिए संस्कार–विधि अपनायी जायें – यह भावना हो, तो पवित्रता एवं प्रभावना – दोनों को सुयोग सहज ही हो जाएगा।

वाहन/मशीनरी आदि की शुद्धि संस्कारविधि

आज के तकनीकिप्रधान युग में परिवहन के साधनों से लेकर दैनन्दिन के जीवनोपयोगी साधनों में मशीनों व उपकरणों की भरमार होती जा रही है। आए दिन कुछ न कुछ घर में खरीदा जाता

है। नई चीजें घर में आने पर उनकी सकुशल-संचालनता बनी रहे, इस दृष्टि से लोग विविधप्रकार के टोने-टोटके, पूजाविधि आदि करते-कराते हैं। इनके पीछे उनकी आस्थामूलक भारतीय संस्कृति की प्रधानता रहती है।

जैनशास्त्रों में वाहनों, मशीनों व उपकरणों की शुद्धि या संस्कारविधि का कोई उल्लेख या निर्देश नहीं मिलता है; किन्तु समय की माँग के अनुसार कोई विधि इस लिए भी अपेक्षित हो जाती है, कि यदि हम अपने धर्म के अनुसार विधि नहीं बताते हैं, तो लोग अन्य-रागी देवी-देवताओं की मिथ्यात्ववर्धक-क्रियायें इस निमित्ति को करने लगते हैं।

अतः इसकी संक्षिप्त-विधि में 'मङ्गलाष्टक' पढ़कर पीली सरसों क्षेपण करें तथा रोली या केसर से 'स्वस्तिक' बनाकर तथा इसके संचालनस्थल (यथा - स्टेयरिंग व्हील) पर तीन बार कलावा लपेटकर तीन गाँठ बाँध दें। इसके अतिरिक्त अन्य किसी धार्मिकविधि की इस कार्य मे अपेक्षा नहीं है।

पारस्परिक शिष्टाचार-सम्बन्धी संस्कारविधि

सामान्य श्रावकों में आपस में मिलने पर 'जय जिनेन्द्र' का उच्चारण करते हुए प्रीतिपूर्वक अभिवादन अवश्य होना चाहिये। कोई यदि आपको किसी कषायादिवश ऐसा न भी करें, तो भी आपको अपनी शिष्टता व सभ्यता के संस्कारों को पुष्ट करते हुए उक्त अभिवादन अवश्य करना चाहिये। इसे अपनी पहिचान बनानी चाहिये।

गिरे हुए को उठाना मानव-मात्र का कर्त्तव्य है। अतः यदि आपका कोई साधर्मी कामादिक के कारण पतन की ओर जा रहा है, तो उसे साधर्मी-वात्सल्यपूर्वक प्रेम से, समझा-बुझाकर सन्मार्ग

पर लाने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये। साथ ही उसकी बुराइयों की चर्चा न करके, अच्छाइयों की चर्चा करनी चाहिये। इससे आपके चित्त की शुद्धि होगी व उसकी कषाय घटेगी। सम्राट् अशोक ने लिखा है कि ऐसा कोई दान या उपकार नहीं है, जो किसी पतित-व्यक्ति को धर्ममार्ग पर लगाने की बराबरी कर सके।

इसके साथ ही यह भी महत्त्वपूर्ण है कि हम साधर्मीजन को विशेष-प्रश्रय व अपनत्व दें। सामान्यतः अन्य धर्मानुयायियों में यह देखा जाता है कि वे अपने साधर्मी को विशेष-प्रश्रय देते हैं; किन्तु जैनों में प्रायः इसके विपरीत देखने को आजकल मिलने लगा है, कि जैन अपने साधर्मीभाई के कामों को वरीयता नहीं देता हैं। यह शोचनीय बात है, परन्तु इस प्रकरण में यह ध्यातव्य है कि हम साधर्मी के मोह में अन्याय, अनीति व अभक्ष्यसेवन का पोषण न करें, किन्तु **नीति व न्यायसङ्गत कार्य में साधर्मीजनों को वरीयता अवश्य दें।** इसे हम अपना शिष्टाचार व नैतिक कर्त्तव्य-दोनों बनायें। इससे अच्छे संस्कारों के प्रसार में मदद मिलेगी।

माता-पिता आदि के प्रति व्यवहार

संसार में सबका ऋण चुकाया जा सकता है, किन्तु माता-पिता के रहते हुए भी उनका उपकार का ऋण कभी नहीं चुकाया जा सकता। संसार का कोई भी कीमती पदार्थ न तो पिता के वात्सल्य की और न ही माँ की ममता की कीमत चुका सकता है; अतः सन्तान को किसी भी स्थिति में माता-पिता से विमुख नहीं होना चाहिए।

संसार के सबसे निर्धन व्यक्ति वे हैं, जिन्हें कभी माता-पिता का स्नेहपूर्ण आशीर्वाद नहीं मिला हो। अतः प्रतिदिन प्रातःकाल

उनकी चरण वन्दना करके आशीर्वाद अवश्य लेना चाहिए। उनकी तन–मन–धन से सेवा करनी चाहिए तथा उनसे बड़ा हितैषी कोई नहीं हो सकता, इसलिए उनसे सदैव मार्गदर्शन भी लेते रहना चाहिए।

विशेषत: वृद्धावस्था में उनकी सेवा–सुश्रूषा अवश्य करते रहना चाहिए। उनका धर्मध्यान एवं जीवन–यापन शान्तिपूर्वक हो, इस निमित्त सबको हरसम्भव ध्यान रखना चाहिए। किसी प्रकार का संकोच नहीं करना चाहिए। यहाँ तक कि उनकी मल–मूत्र–स्नानादि की शुद्धि करानी पड़े, तो निर्विकारभाव से करायें। विचार करें कि आपकी बाल्यावस्था में उन्होंने आपके साथ क्या–क्या आपकी सुविधा के लिए नहीं किया था?

यदि अन्तसमय निकट जानें, तो उनकी सल्लेखना के प्रति भी हरसम्भव प्रयत्न करना योग्य–सन्तान का अनिवार्य कर्त्तव्य है।

यदि कभी भी माता–पिता की कोई स्थिति अरुचिकर लगे, और आपके मन में उपेक्षा का भाव आने लगे, तो उस क्षण की कल्पना करना कि यदि आपकी भी ऐसी स्थिति हुई, तो क्या आप अपनी सन्तान से अपनी उपेक्षा बर्दाश्त कर पायेंगे? वस्तुत: माता–पिता की वृद्धावस्था उनकी सन्तान को वह सब करने का अवसर प्रदान करती है, जो उन्होंने आपकी बाल्यावस्था में आपके प्रति किया था। अत: इसे अपना सौभाग्य मानकर विनम्रता और प्रीतिपूर्वक करना चाहिए। चरणस्पर्श के बाद माता–पिता जो आपके सिर के पिछले भाग व पीठ पर स्नेहपूर्वक हाथ फेरते हैं, वह आपके इन अङ्गों की स्पर्श–चिकित्सा का काम करती हैं। वह स्पर्श इन अङ्गों में सात्त्विक विद्युत–तरङ्गों का प्रवाहकर इनको निर्दोष व सक्रिय बनाता है। अनेकों उपचार एवं योग–क्रियायें भी जो काम नहीं कर

सकती हैं, वह मात्र इस स्नेहिल-स्पर्श से हो जाता है। अतः इसको पाने में कभी संकोच या दुविधा का भाव नहीं लाना चाहिए।

जैन-परम्परा में वास्तु

जैन-परम्परा में 'वास्तु' के नाम कोई धार्मिक विधान नहीं है। जो कुछ नामोल्लेख या संकेत मिलता भी है, वह मूलतः जिन-मन्दिर के सम्बन्ध में मिलता है कि 'जिनमन्दिर में कहाँ-क्या-कैसे व किस अनुपात में बनाया जाए?' 'क्रियाविशाल' नामक पूर्व में वर्णित-विषयों की सूची में 'शिल्पानि' शब्द का प्रयोग आया है, इसे ही हम मूल-आगमों में 'वास्तु' का सम्बन्ध-तत्त्व मान सकते हैं। आचार्य वीरसेन स्वामी के अनुसार वास्तु-सम्बन्धी विद्या भूमि एवं भवननिर्माण आदि से सम्बन्धित शुभाशुभ का एवं उसके कारणों का विवेचन करती है। 'प्रतिष्ठासारोद्धार' में इसकी उपयोगिता बताते हुए लिखा है - "अपना एवं राज्य/राजा आदि का भला चाहनेवालों को जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा आदि का निर्माण कराते समय इनके विषय में वास्तुशास्त्र में निर्दिष्ट-नियमों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।" (पद्य-10)

इसके अतिरिक्त दार्शनिक दृष्टि से वास्तुशास्त्र का जैन -परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं है। दार्शनिक दृष्टि से जैनदर्शन अकर्त्तावादी है, तद्नुसार एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी भला -बुरा नहीं कर सकता है। जो दो द्रव्यों की पर्यायों में परस्पर सम्बन्धमात्र कहा भी जाता है, वह निमित्त और नैमित्तिक का है, न कि कर्त्ता -कर्म का। वास्तु-सम्बन्धी निर्देश निमित्तरूप हो सकते हैं, उपादान -कारणरूप या कर्त्तारूप कभी नहीं। जैसे दवाई की गोली से सिरदर्द में आराम आना सामान्य निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हैं, न कि दवाई

की गोली सिरदर्द को ठीक करनेवाली है। यदि वह कर्त्ता हो, तो किसी के भी, कैसे भी सिरदर्द को वह ठीक कर दे; परन्तु ऐसा सर्वथा नहीं होता है। यही स्थिति वास्तु की भी है। वास्तविक निमित्त-नैमित्तिकपना तो अपने कर्मों के उदय का है।

अतः वास्तु-सम्बन्धी नियमों को **लौकिक-उपयोगीविधि** मानकर अपनाने में कोई बाधा नहीं है, परन्तु उसे धर्मविधि मानना मिथ्यात्व का पोषण करना है। विशेषतः जिनमन्दिर आदि का निर्माण वास्तुसम्बन्धी नियमों से कराने में अवश्य सावधानी रखनी चाहिए, क्योंकि इनका निर्देश प्रतिष्ठाग्रन्थों में अनिवार्य बताकर किया गया है, परन्तु वहाँ भी वह भौतिकपक्ष ही है।

परम्परागत वास्तु-सम्बन्धी निर्देशों में जो बातें हैं, वे धर्म से नहीं, बल्कि विज्ञान से अधिक सम्बन्ध रखती हैं। अतः जैसे विज्ञान के साधनों को हमें सही उपयोग करना चाहिए, उसीप्रकार लौकिक दृष्टि से वास्तु के नियमों को यथासम्भव अपनाने में कोई हानि नहीं है; परन्तु इसे कर्त्ता मानकर या वास्तु-सम्बन्धी रागी देवी-देवताओं की पूजा आदि का विधान करना तो स्पष्टरूप से गृहीत-मिथ्यात्व ही है। ऐसे टोने-टोटकों के लिए वीतरागी जैनधर्म में कोई स्थान कहीं भी नहीं है।

वास्तु किसी सीमा तक एक वैज्ञानिक-परामर्श है, धार्मिक संस्कार-विधि नहीं है। वास्तु के निमित्त जो यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र आदि को अनिवार्य बता रहे हैं, वे लोग धर्म के नाम पर धोखा दे रहे हैं।

वास्तु-संस्कार विधि

जैसाकि कहा गया है कि वास्तु की कोई धार्मिक संस्कारविधि नहीं है, तथापि वास्तु-सम्बन्धी कार्यों जैसे- शिलान्यास एवं गृहप्रवेश

आदि के लिए कुछ धर्म-विधियाँ भी प्रचलित हैं। यद्यपि मूलग्रन्थों में इनका कोई उल्लेख या निर्देश नहीं है, फिर भी व्यक्ति को मानसिक दृढ़ता प्रदान करने के लिए तथा उत्साहवर्धन के साथ-साथ धार्मिक निष्ठा बनाए रखने के लिए इनकी जो शुद्ध-विधियाँ प्रचलित हैं, उनका संक्षिप्त-परिचय निम्नानुसार हैं :-

खात-विधि

जब भवन-निर्माण के लिए नींव आदि के निमित्त भूमि को खोदना प्रारम्भ करना हो, तो उसे 'खात-विधि' या 'भूमि-पूजन' कहते है। इसमें वास्तव में भूमि या मिट्टी की पूजा नहीं की जाती है, बल्कि उसको खोदने में अनेकविधि जीव-हिंसा आदि पाप सम्भव है, उनका दोष-निवारण एवं संकल्पशुद्धि की दृष्टि से यह धर्म-विधि की जाती है।

इसके अन्तर्गत जिस दिशा में (सामान्यतः ईशानकोण अर्थात् उत्तरपूर्व या North-East से यह कार्य प्रारम्भ किया जाता है।) यह कार्य करना हो, वहाँ लगभग 3' x 3' की जगह में चारों कोनों पर खैर (कत्थे) वाली लकड़ी की चार खूटियाँ गाड़कर उसके बीचों बीच केन्द्र-स्थान पर कुमकुम से स्वस्तिक बनाकर उत्तर या पूर्व की ओर मुख करके यन्त्र की स्थापना उच्चासन पर करें। फिर मङ्गलाष्टक पढ़कर मङ्गलकलश चौकी पर स्थापित करें व यन्त्रपूजा (पंचपरमेष्ठी पूजा) करें। फिर स्वस्तिक वाले स्थान पर गृहस्वामी 5 बार गेंती (कुदाली) या फावड़े से 5 बार खोदकर मिट्टी निकालें। इसके बाद पुण्याहवाचन, शान्तिपाठ एवं क्षमापन करके यह विधि पूर्ण होती है। इसके बाद मजदूरों से खुदाई का काम कराया जाता है। इसमें प्रायः नये औजार लेकर उन पर कलावा बाँधकर ही उन्हें

उपयोग में लिया जाता है।

शिलान्यास-विधि

भूमिपूजन के लगभग 2 दिन बाद (अपेक्षित खुदाई के लिए इतना समय तो चाहिए ही) जहाँ शिलान्यास का गड्ढा बना है, उसके पास पहिले 'मङ्गलाष्टक' पढ़ें, कलश-स्थापन करें (वही कलश, जो भूमिपूजन के समय बनाया था)। गृह-निर्माण में यथासम्भव जीवदया, द्रव्यशुद्धि आदि का संकल्प लें, यन्त्र-पूजा (पंचपरमेष्ठी-पूजा) करके फिर पत्थर या मार्बल की लगभग सवा फीट लम्बी-चौड़ी शिला लेकर उस पर केसर से स्वस्तिक लिखें। फिर एक ताँबे के लोटे में घी का दीपक जलाकर इस शिला पर रखें, उसके ऊपर उसी आकार की दूसरी शिला रख दें। आस-पास सुपारी, पारद (मरकरी) कुमकुम आदि मङ्गलद्रव्य चढ़ाकर 'ॐ ह्राँ ह्रीं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा नमः' का जाप कर उसी दिन की तिथि उस जगह का पता बोलते हुए 'अत्र शिलान्यासविधि करोमि' बोलें तथा ईंटों व सीमेंट मसाले से उस जगह के चारों ओर से चिनवा दें। इसके बाद पुण्याहवाचन, शान्तिपाठ एवं क्षमापन करें। जिनमन्दिर के शिलान्यास में विनायक-यन्त्र (नया) लेकर उसके पीछेवाले भाग पर मन्दिर की शिलान्यास-प्रशस्ति खुदवाकर शिलाओं के बीच में स्थापित करते हैं। घर, ऑफिस, फैक्ट्री आदि के शिलान्यास में इसकी अपेक्षा नहीं होती है। शिलान्यास में नाग-नागिन (चाँदी या ताँबे के) जैनविधि में नहीं रखे जाते हैं।

गृहप्रवेशविधि-

गृहप्रवेश के दो दिन पहिले उस भवन में शुभमुहूर्त में शान्तिमन्त्र (ॐ ह्राँ ह्रूँ ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा नमः) का 51 या 101 मालाओं,

प्रमाण जाप करावें। यह कार्य घर का ही व्यक्ति शुद्धिपूर्वक करे, तो उत्तम है। यह कार्य पूर्व या उत्तरदिशा की ओर मुँह करके बैठकर शुद्धवस्त्रों में किया जाता है। मङ्गलकलश बनाकर सामने चौकी पर विराजमान करें तथा चटाई पर बैठकर शान्तिचित्त होकर जाप करें। इसका मुख्य–उद्देश्य भवननिर्माण में हुए दोषों को प्रायश्चित्त करना है।

फिर गृहप्रवेश के दिन जिनमन्दिरजी में गृहस्वामी सपत्नीक सम्बन्धियों व इष्टमित्रों सहित विशेषतः पूजन करके विधिपूर्वक बनाया गया मङ्गलकलश लेकर जोड़े से घर में प्रवेश करें तथा घर के ईशानकोण (North-East कोण) में उच्चासन पर चावल व कुमकुम का स्वस्तिक बनाकर उस पर वह 'मङ्गलकलश' णमोकारमन्त्र पढ़कर स्थापित करें। मङ्गलगीत गाते हुए गृहप्रवेश होना चाहिए। भोजनशाला में जल का भरा कलश/मटका रखें। तथा चूल्हे पर सबसे पहले दूध गरम करना लोकाचार में अच्छा माना जाता है। अन्त में पुण्याहवाचन, शान्तिपाठ व क्षमापन कर गृहप्रवेश की विधि पूर्ण करें।

लोकाचार के अन्तर्गत परिजनों, इष्टमित्रों व पड़ोसियों में मिठाई बँटवाना भी इस अवसर पर किया जाता है।

वास्तु के कुछ ध्यातव्य–बिन्दु

1– भवन के उत्तरपूर्व कोई (ईशानकोण) में कभी भी शौचालय, स्टोर रूम या रसोई घर न बनवायें। इसे अपेक्षाकृत हल्का रखें तथा घर में पानी की सप्लाई इस कोण से करें। बोरिंग भी इसी कोण में की जाती है।

2–आग्नेय कोण (दक्षिणपूर्व या South-East) में रसोईघर

बने, खाना बनाने की स्लैब पूर्व या उत्तरदिशा में बने, ताकि भोजन–निर्माण पूर्वमुख या उत्तरमुख होकर किया जाये। उसमें ताजी हवा, रोशनी की उचित व्यवस्था हो तथा धुँआ निकलने का भी उचित–प्रबन्ध किया जाये। इन्वर्टर आदि के लिए भी यही दिशा उचित है।

3–मुख्य–शयनकक्ष (Master Bedroom) दक्षिण–पश्चिम कोण में हो तथा पलंग का सिरहना दक्षिणदिशा या पश्चिमदिशा की ओर हो। घर का स्टोर आदि भी इसी दिशा में हो। भवननिर्माण में ध्यान रखें कि भवन का भार इसी दिशा में अधिक रहे।

4–सीढ़ियाँ दक्षिणावर्त्त (Clockwise) बनायी जायें उत्तरावर्त्त (Anti-Clockwise) नहीं। तथा एक बार में उसकी संख्या सदैव विषम (Odd-3-5-7-9 आदि) होनी चाहिए। सीढ़ियाँ दक्षिण या उत्तर–पश्चिम या पश्चिमदिशा में होना अच्छा माना जाता है।

5–भवन के केन्द्र–स्थान में कभी भी खम्भा (पिलर) या गड्ढा (बोरिंग आदि भी) नहीं करना चाहिये। उसे समतल रखना चाहिये।

6–फर्श का (छत के फर्श का भी)ढ़ाल हमेशा दक्षिण–पश्चिम से उत्तर–पूर्व की ओर होना चाहिये। अर्थात् दक्षिण व पश्चिम हिस्सा ऊँचा हो तथा उत्तरपूर्व नीचा, ताकि पानी का बहाव उत्तर व पूर्व की ओर रहे।

7–घरों/ऑफिसों में मन्दिर नहीं बनाने चाहिये, यदि बनाने ही पड़ें, तो विशाल–भूखण्डवाले भवनों पर आवासीय परिसर से

अलग ईशानकोण में बनाना चाहिये। मन्दिरवाले भवन में शयन, भोजन, शौचादि व सांसारिक चर्चा आदि कार्यों का निषेध होता है। सामान्य घरों में ईशान-कोण में सामायिक एवं स्वाध्याय का कक्ष बनाना चाहिये। बच्चों का अध्ययन-कक्ष या गृह-कार्यालय (Home Office) के लिए भी ईशान कोण अच्छा माना जाता है।

8-कोई भी रचनात्मक कार्य करने के लिए पूर्व या उत्तरदिशा की ओर मुख करके बैठना शुभ माना जाता है, किन्तु देवदर्शन करते समय यह निमय नहीं है। मन्दिर में तो जिनबिम्ब को ही पूर्व या उत्तरमुख स्थापित किया जाता है। अतः हमारा मुँह जिनबिम्ब की ओर होता है। इसमें दिशा का चिन्तन नहीं किया जाता है।

9-शौचालय/स्नानगृह सदैव उत्तर पश्चिम (वायव्यकोण) पश्चिम या दक्षिण दिशाओं में ही बनायें, अन्यत्र नहीं। घर के प्रवेशद्वार के साथ तो शौचालय कभी भी नहीं होने चाहिये।

10-घर के लिए पूर्व, उत्तर या उत्तरपूर्व-मुखवाले भूखण्ड हमेशा उत्तम माने गये हैं। परन्तु यदि दक्षिण या पश्चिमुख (फेसिंग) वाले भूखण्ड लेना पड़ें, तो उसका प्रवेश-द्वार हमेशा दक्षिणपूर्व या उत्तरपश्चिमवाले कोण में हो। घर के लिए 'गोमुख' (आगे ज्यादा चौड़ा, पीछे कम चौड़ा) भूखण्ड ठीक माने गये हैं, जबकि व्यापार-स्थल के लिए 'सिंहमुख' (आगे चौड़े, पीछे छोटे) भूखण्ड भी अच्छे माने जाते हैं।

सामान्यतः समकोण-वाले भूखण्ड सर्वश्रेष्ठ होते हैं। मन्दिरजी के लिए तो समकोण प्लॉट ही लेना चाहिए, कभी भी बदगुनिया (अर्थात् जिसके चारों कोण 90^0 के न हों, भले ही एक कोण गलत हो) नहीं लेना चाहिए। रोड से नीचा प्लॉट भी नहीं लिया जाये।

यदि लेना भी पड़े, तो उसे मलबे से नहीं भरा जाये, बल्कि शुद्ध साफ मिट्टी से भरा जाये।

जैन-परम्परा में 'ज्योतिष'

'वास्तु' की ही तरह कर्त्ता-कर्म की दृष्टि से ज्योतिष को भी जैनदर्शन ने कदापि स्वीकार नहीं किया है। ग्रह-नक्षत्र आदि जड़-पदार्थ हैं, ये चेतन के भाग्यविधाता कैसे बन सकते हैं ? जैनग्रन्थों में जहाँ इनका किसी प्रसङ्ग में वर्णन भी आया है, तो वह 'ज्ञापक' या 'सूचक' के रूप में आया है, न कि 'कारक' (करनेवाला) के रूप में। अर्थात् दो ग्रहों की चाल किसी घटना के निमित्त-नैमित्तिक या संयोगमात्र के सम्बन्ध की सूचक तो हो सकती है, परन्तु वह घटना को घटित करानेवाली कतई नहीं हो सकती है।

जैनपरम्परा में ज्योतिष का उपयोग मुख्यतः मुहूर्त्तशोधन के लिए माना गया है। मुहूर्त्तनिर्णय में ज्योतिष की मुख्यभूमिका उसे क्षेत्र के प्रकृति, पर्यावरण आदि की अनुकूलता की सूचना देने की है। पञ्चकल्याणक आदि सामाजिक-धार्मिक महोत्सवों में कोई प्राकृतिक-विघ्न की स्थिति उत्पन्न न हो – इसीलिए मुहूर्त्तनिर्णय करने के लिए ज्योतिषशास्त्र की मदद ली जाती है।

आत्मकल्याणकारी कार्यों के करने में परिणामों की विशुद्धि एवं पुरुषार्थ की गति ही निर्णायक है, यह स्थिति जब भी घटित हो, वही प्रशस्त/शुभ मुहूर्त्त है। तीर्थङ्करों ने दीक्षा-ज्ञान-मोक्ष जैसे कार्य मुहूर्त्त-शोधन कराके नहीं किये थे, अपितु वैराग्य एवं पुरुषार्थ-साधन के द्वारा सम्पन्न किये थे। अतः लौकिक, सामाजिक कार्यों में ज्योतिष का सामान्य मुहूर्त्तनिर्णय आदि के लिए उपयोग किया

जाना अनुचित नहीं है; किन्तु इसकी पराधीनता कदापि नीतिसङ्गत नहीं है, और न ही इसके लिए कोई संस्कारविधि जैन-परम्परा में कहीं बताई गयी है।

जैनपर्व-संस्कारविधि

जैन-परम्परा में दो प्रकार के पर्व मनाये जाते हैं, 1 लौकिक महत्त्व के पर्व और 2. आध्यात्मिक महत्त्व के पर्व यथा-अष्टाह्निका पर्व, दशलक्षण पर्व, षोडशकारण पर्व एवं रत्नत्रय पर्व आदि हैं। इन पर्वों की विशेष पूजनविधि करते हैं तथा संयमित-जीवनपूर्वक हरित आदि का त्यागकर और अधिक शुद्ध वा मर्यादित भोजन करते हैं। साथ ही सांसारिक कार्यों से विरक्त होकर अधिक से अधिक समय स्वाध्याय, तत्त्व-चिन्तन, सामायिक, धर्मध्यान आदि में लगाते हैं। ये चारों पर्व वर्ष भर में तीन-तीन बार आते हैं, और हर बार उन्हें इसी प्रकार मनाया जाना चाहिये।

लौकिक महत्त्व के धार्मिक पर्वों में श्रुतपंचमी-पर्व, वीरशासन-जयन्ती पर्व, रक्षाबन्धनपर्व, धन्य-त्रयोदशीपर्व (धनतेरस), महावीर- निर्वाणोत्सव एवं दीपावली-पर्व आदि प्रमुख हैं। इसका अतिसंक्षिप्त-परिचय एवं संस्कारविधि निम्नानुसार हैं-

1. श्रुतपंचमी पर्व - ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी को यह पर्व मनाया जाता है। इस दिन दिगम्बर जैन-आम्नाय के अनुसार आगमग्रन्थ (षट्खण्डागम) का लेखन पूर्ण हुआ था, तब 'जयदु सुददेवदा' के मङ्गलनादपूर्वक 'श्रुत' की पूजा की गयी थी। आजकल भी इस दिन नित्य-नियम-पूजन के साथ श्रुतपंचमीपर्व की विशेष-पूजन की जाती है। मन्दिरजी में विराजमान जिनवाणी की साज-सम्भाल की जाती है, उन पर नये वेष्टन चढ़ाये जाते हैं तथा आगमग्रन्थों का

स्वाध्याय किया जाता है।

2. वीरशासन-जयन्ती पर्व - 'श्रावण' के माह के 'कृष्ण-पक्ष' की 'प्रतिपदा' तिथि के दिन भगवान् महावीर स्वामी की केवलज्ञान-प्राप्ति के 66 दिन बाद प्रथम दिव्यध्वनि खिरी थी; अतः 'शासन' यानि 'दिव्यध्वनि' के अभिप्राय से इसे 'वीरशासन जयन्ती' कहा जाता है। इस दिन नित्य-नियम-पूजन के साथ-साथ 'वीरशासन जयन्ती-पर्व' की विशेष पूजन की जाती है। साथ ही जिनवाणी को धारण करनेवालों का सम्मान किया जाता है। विशेष स्वाध्याय -विधि कर भगवान् महावीर की वाणी को आत्मसात करने का प्रयत्न-लोग करते हैं।

3. रक्षाबन्धन-पर्व - 'श्रावण' मास के 'शुक्ल' पक्ष की 'पूर्णमासी' के दिन यह पर्व मनाया जाता है। पौराणिक कथा के अनुसार इस दिन अकंपनाचार्य आदि 700 मुनिराजों के उपसर्ग का निवारण करके उनकी रक्षा की गयी थी तथा उपसर्ग करनेवाले बलि, नमुचि आदि चारों मन्त्रियों का बन्धन हुआ था, अतः इसकी 'रक्षाबन्धन' संज्ञा अन्वर्थक है। इस दिन विशेषरूप से मन्दिरजी में रक्षाबन्धन पर्व-पूजन करके इस पर्व की कथा सुनकर जिनधर्म एवं जिनायतनों की रक्षा का संकल्प लिया जाता है। सच्चे भावलिङ्गी सन्तों के दर्शनकर उनसे मङ्गल-उद्बोधन प्राप्त करते हैं और बुराई को दूरकर अच्छाई की रक्षा के प्रति निष्ठा रखी जाती है।

4. धन्य-त्रयोदशी पर्व - 'कार्तिक' मास के 'कृष्ण' पक्ष की 'त्रयोदशी' को 'धन्य-त्रयोदशी' (धनतेरस) पर्व मनाया जाता है। यह पर्व भगवान् महावीरस्वामी की 'अन्तिम-देशना' की तिथि के रूप में मनाया जाता है। इस दिन भगवान् का अन्तिम-उपदेश

हुआ था, जिसे लोगों ने अपनी पात्रता के अनुरूप हृदय में संजोया था। इसी के प्रतीकरूप में रूढ़िवश 'पात्र' यानि बर्तन खरीदने की इस दिन परम्परा चल पड़ी है, जबकि **यह पर्व तो पात्रता प्रकट करने का पर्व है।** इस दिन नित्य-नियम-दर्शन-पूजन आदि के साथ-साथ अधिकतम स्वाध्यायपूर्वक तत्त्व को जीवन में उतारने का अभ्यास किया जाता है।

5. महावीर निर्वाणोत्सव - 'कार्तिक' मास के 'कृष्ण' पक्ष की 'अमावस्या' तिथि को प्रातःकाल प्रत्यूषबेला में पावापुरी के पद्मसरोवर में स्थित महामणि-शिलातल से भगवान् महावीर को निर्वाण हुआ था; अतः निर्वाण का प्रतीक लड्डू (वास्तव में छिला हुआ गोला केसर से रङ्गकर) चढ़ाते हैं, 'निर्वाणकाण्ड' पढ़कर सभी निर्वाणक्षेत्रों की भाववन्दना करते है तथा अनन्तता का प्रतीक गोल-गोल मधुर लड्डू या गोला चढ़ाते हैं। इस दिन निर्वाणक्षेत्रों की विशेष-पूजा भी की जाती है।

6. दीपावली - 'कार्तिक कृष्ण अमावस्या' के ही दिन सायंकाल भगवान् महावीर के प्रधान-शिष्य इन्द्रभूति गौतम (गौतम गणधर) को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी, अतः ज्ञान के प्रतीक प्रकाश से हर घर-मन्दिर को प्रकाशित करते हैं तथा अपने अन्तस् के अन्धकार को दूर करने का भी संकल्पपूर्ण प्रयत्न करते हैं। घर -घर में गौतमस्वामी की पूजा, केवलज्ञान की पूजा एवं सरस्वती -पूजन (जिनवाणी की पूजा) की जाती है और प्रकाश किया जाता है। कुछ लोग, विशेषतः व्यापारीवर्ग इस दिन से नववर्ष के शुभारम्भ के रूप में नये बही-खाते भी प्रारम्भ करते हैं।

यद्यपि बही-खातों के लिखने के शुभारम्भ जैसे प्रसङ्ग पर

कोई धार्मिक विधि की प्रासङ्गिकता नहीं लगती है; किन्तु जैन-श्रावक इस भावना से करते हैं कि **इसके लेखन में मेरे द्वारा राष्ट्र की करचोरी, अन्य के द्रव्य का अपहरण आदि 'अचौर्याणुव्रत' के अतिचारों (दोषों) की प्रसक्ति न हो अर्थात् वे लागू न पड़े- ऐसी सावधानी से व ईमानदारी से मैं लिखूँ।** इसीलिए वे इसके शुभारम्भ में पूजा-विधि करते हैं। इस पूजा का उद्‌देश्य अधिक से अधिक धनलाभ हो-यही नहीं होता है।

इस पूजाविधि में सामान्यतः दीपावली-पूजन के अङ्गोपाङ्ग यथा-

दिग्बन्धन, रक्षामन्त्र, शान्तिमन्त्र पूर्वक मङ्गलकलश स्थापित करके गौतमस्वामी की पूजा, महावीराष्टकस्तोत्र पढ़कर फिर कलम पर कलावा बाँधें तथा बही-खातों के प्रथमपृष्ठ पर केसर से इस प्रकार लिखें-

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

॥ श्री महावीराय नमः ॥

॥ श्री गौतमगणधराय नमः ॥

ॐ

श्री

श्री श्री

श्री श्री श्री

श्री श्री श्री श्री

श्री श्री श्री श्री श्री

और इसके बाद प्रथमपृष्ठ पर कुछ धनराशि जमा के रूप में लिखते हैं, नामे (खर्च) के रूप नहीं। फिर धर्मायतनों व धर्मकार्यों के लिए दानराशि देते हैं तथा वर्षभर की आय का एक निश्चित प्रतिशत धन (जैसेकि 5 या 6 प्रतिशत) दानादि धर्मकार्यों में लगाने का निष्ठापूर्वक संकल्प लेते हैं।

उपसंहार

इस कृति में दैनंदिन–उपयोग के तथा स्वयं व परिवारजनों के साथ किए जा सकरनेवाले संस्कारों की अल्प– आरम्भ, अल्प – परिग्रहपूर्वक अहिंसाप्रधान, यथा– बड़े मण्डलविधानों, वेदीशुद्धि, पञ्चकल्याणक महोत्सव आदि का, जिनमें विधानाचार्यों या प्रतिष्ठाचार्यों की अपेक्षा होती है तथा जो दैनंदिन के जीवन में सहज नहीं करने पड़ते हैं, उनका परिचय एवं विधि–विवरण नहीं किया गया है। इसका मूल–उद्देश्य यही था कि सामान्य जैन–श्रावकों को अपने जीवनोपयोगी–संस्कारों की परम्परा एवं विधि की जानकारी मिले तथा उनके शुद्धपाठ भी मिल जायें। जिससे उनकी सार्थकता आदि का तार्किक परिचय तो मिले ही, उनकी उपयोगिता भी जान सकें। साथ ही स्वावलम्बनपूर्वक उनको किया जा सके।

प्राय: घर–गृहस्थी एवं दैनिक जीवन के इन संस्कारों के लिए लोग जैन–पण्डितों को बुलाते हैं और प्राय: वे भी उपलब्ध न होने पर ब्राह्मणों को बुलाते हैं। इससे इन संस्कारों को करने के लिए पराधीनता भी बढ़ती है और दक्षिणा आदि में धन खर्च भी बढ़ता है। कई लोग आर्थिक संकोच में और कई लागे पराधीनता के संकोच में इन संस्कारों की विधि ही नहीं करते हैं। – ऐसी स्थितियाँ न बनें, इसी भावना से इस पुस्तक का निर्माण किया गया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि अनिवार्य धर्मविधि के अलावा कोई लौकिक–संस्कार की विधि आप किसी कारणवश नहीं कर पाये हैं, तो उसका कोई अनर्थ नहीं होनेवाला है। जैसे जन्मदिवस आदि के संस्कार नहीं कर पाते हैं, तो न तो बच्चे को कोई अनिष्ट होनेवाला है और न आपको कोई मन में कुण्ठा करने की आवश्यकता है। यह तो मात्र इसलिए है कि इन लौकिक संस्कारों को महत्त्व व उपयोगिता को समझ सकें तथा उसे स्वाधीन होकर विधिपूर्वक स्वयं कर सकें।

हाँ! इन संस्कारों को विधिपूर्वक किए जाने का जीवन में महत्त्व अवश्य है। इससे लौकिक कार्य तो विधिवत् होते ही हैं, हमें धर्मविधि करने का व धर्म में श्रद्धा बढ़ाने का निरन्तर अवसर मिलता है। साथ ही अज्ञानवश या पराधीनता के कारण इन संस्कारों के नाम पर कुदेवादि की पूजन आदि से होनेवाले गृहीतमिथ्यात्व के बन्ध से भी आप बच जाते हैं। मेरा विचार है कि मण्डल–विधानों, वेदीप्रतिष्ठा या वेदीशुद्धि, पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा–महोत्सव आदि बड़े अनुष्ठानों के संस्कारों के बारे में भी एक अलग स्वतन्त्र पुस्तक लिखी जाये; ताकि समाज में प्रतिष्ठाचार्यों एवं विधानाचार्यों की मनमर्जी पर समाज को विवशता में आश्रित न रहना पड़े। इनकी

शुद्धविधि का समाज को ज्ञान हो, ताकि विधि प्रतिष्ठाचार्य भले ही करें/करायें; किन्तु समाज के लोग उस विधि के शुद्ध व प्रामाणिकरूप को जाने व निर्णय कर सकें कि विधानाचार्य/प्रतिष्ठाचार्य उसे शास्त्रसम्मतविधि से करा रहा है अथवा उसमें वीतरागी जैनधर्म की आम्नाय के विरुद्ध कुछ जोड़ रहा है।इस दिशा में अनुसन्धानपूर्वक ही कुछ लिखा जा सकता है, क्योंकि ज्यादातर प्रतिष्ठाचार्य/विधानाचार्य अपनी लिखी डायरी से ये कार्य कराते हैं। पाठ तो वे पुस्तक से पढ़ लेते हैं, किन्तु मन्त्रविधि और अनुष्ठान अपनी डायरी में लिखे संकेतों के अनुसार कराते हैं। उनकी सत्यात्मकता एवं तथ्यात्मकता के लिए मूल एवं प्रामाणिक ग्रन्थों का अन्वेषण करना होगा तथा उन्हें शुद्धाम्नाय की कसौटी पर परखकर-वर्तमान-सन्दर्भों की व्यावहारिकता से सामंजस्यपूर्वक शुद्धविधि का निर्देश करना होगा।

अस्तु, जब जैसा योग होगा, तब यह कार्य भी हो सकेगा। विचारपूर्वक प्रयत्न करना ही मेरा उद्देश्य है। अन्त में सुधी-पाठकों से यही अनुराध है कि अपनी-अपनी जाति व समाजों की प्रचलित रूढ़ियों के अतिरिक्त यदि कोई धार्मिक तथ्य इसमें छूटा हो, तो उससे मुझे अवगत करायें। मैं न केवल आपका कृतज्ञ होऊँगा, अपितु आगमी संस्करण में आपके सुझाव की व्यावहारिक उपयोगिता एवं आगमसम्मतता विचारकर उसको सम्मिलित करने की चेष्टा भी करूँगा। मैं जिनदर्शन का एक जिज्ञासु-विद्यार्थी मात्र हूँ, कोई विधानाचार्य या पण्डित नहीं हूँ; अतः पाण्डित्यपूर्ण भाषा-शैली इस कृति में अनुष्ठित नहीं हो पायी हो, तो आश्चर्य न करें- यह स्वाभाविक है, किन्तु आगम-युक्तिसम्मत व्यावहारिक उपयोगी कार्यों की जानकारी इसमें संक्षिप्त-रीति से संजोने की सीमित चेष्टा, की है। सम्भवतः यह आपको उपयोगी बन सकेगी।

द्वितीय - खण्ड (क)

अपेक्षित स्तुति, पाठ एवं पूजनें

दृष्टाष्टक-स्तोत्र

(वसन्ततिलका)

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवतापहारि, भव्यात्मनां विभव-सम्भव-भूरिहेतु।
दुग्धाब्धि-फेन-धवलोज्ज्वल-कूटकोटी-नद्ध-ध्वज-प्रकट-राजि-विराजमानम्॥1॥

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भुवनैकलक्ष्मी-धामर्द्धिवर्द्धित-महामुनि-सेव्यमानम्।
विद्याधरामर-वधूजन-मुक्तदिव्य-पुष्पाञ्जलि-प्रकर-शोभित-भूमिभागम्॥2॥

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवादिवास-विख्यात-नाटक-गणिका-गण-गीयमानम्।
नानामणि-प्रचय-भासुर-रश्मिजाल-व्यालीढ-निर्मल-विशाल-गवाक्षजालम्॥3॥

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं सुर-सिद्ध-यक्ष-गन्धर्व-किन्नर-करार्पित-वेणु-वीणा।
सङ्गीत-मिश्रित-नमस्कृत-धीरनादै-रापूरिताम्बर-तलोरु-दिगन्तरालम्॥ 4॥

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं विलसद्विलोल-मालाकुलालि-ललितालक-विभ्रमाणाम्।
माधुर्यवाद्य-लय-नृत्य-विलासिनीनां लीला-चलद्वलय-नूपुर-नाद-रम्यम्॥ 5॥

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं मणि-रत्न-हेम-सरोज्ज्वलैः कलश-चामर-दर्पणाद्यैः।
सन्मङ्गलैः सततमष्टशत-प्रभेदै-र्विभ्राजितं विमल-मौक्तिक-दामशोभम्॥ 6॥

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं वर-देवदारु-कूर्पर-चन्दन-तुरुष्क-सुगन्धिधूपैः।
मेघायमान-गगनं पवनाभिघात-चञ्चच्चलद्विमल-केतन-तुङ्ग-शालम्॥7॥

दृष्टं जिनेनद्रभवनं धवलातपत्र-च्छाया-निमग्न-तनु-यक्षकुमार-वृन्दैः।
दोधूयमान-सित-चामर-पङक्तिभासं, भामण्डल-द्युतियुत-प्रतिमाभिराम॥ 8॥

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं विविधप्रकार-पुष्पोपहार-रमणीय-सुरत्नभूमिम्।
नित्यं वसन्ततिलकश्रियमाद्धानं, सन्मङ्गल-सकल-चन्द्रमुनीन्द्र-वन्द्यम्॥ 9॥

दृष्टं मयाद्य काञ्चन-चित्र-तुंग-सिंहासनादि-जिनबिम्ब-विभूतियुक्तम्।
चैत्यालयं यदतुलं परिकीर्तितं मे, सन्मङ्गलमं सकल-चन्द्रमुनीन्द्र-वन्द्यम्॥ 10॥

दर्शन-पाठ

– कविवर 'युगलजी' जी

दर्शन श्री देवाधिदेव का, दर्शन पाप-विनाशन है।
दर्शन है सोपान स्वर्ग का, और मोक्ष का साधन है॥ 1॥

श्री जिनेन्द्र के दर्शन औ', निर्ग्रन्थ-साधु के वंदन से।
अधिक देर अघ नहीं रहैं, जल छिद्रसहित-कर मैं जैसे॥ 2॥

वीतराग-मुख के दर्शन की, पद्मरागसम शांतप्रभा।
जन्म-जन्म के पातक क्षण में, दर्शन से हों शांत विदा॥ 3॥

दर्शन श्रीजिनदेव सूर्य का संसार-तिमिर का करता नाश।
बोधि-प्रदाता चित्त-पद्म को, सकल-अर्थ का करे प्रकाश॥ 4॥

दर्शन श्री जिनेन्द्रचन्द्र का, सद्धर्मामृत बरसाता।
जन्मदाह को करे शांत औ', सुख-वारिधि को विकसाता॥ 5॥

सकलतत्त्व के प्रतिपादक, सम्यक्त्व आदि गुण के सागर।
शांत दिगम्बररूप नमूँ, देवाधिदेव तुमको जिनवर॥ 6॥

चिदानन्दमय एकरूप, वंदन जिनेन्द्र परमात्मा को।
हो प्रकाश परमात्म नित्य, मम नमस्कार सिद्धात्मा को॥ 7॥

अन्य शरण कोई न जगत् में, तुम ही शरण मुझको स्वामी।
करुणभाव से रक्षा करिये, हे जिनेश अन्तर्यामी॥ 8॥

रक्षक नहीं शरण कोई नहिं, तीन जगत् में दुःखत्राता।
वीतराग प्रभु-सा न देव है, हुआ न होगा सुखदाता॥ 9॥

दिन-दिन पाऊँ जिनवरभक्ति, जिनवरभक्ति, जिनवरभक्ति।
सदा मिले वह सदा मिले, जब तक न मिले मुझको मुक्ति॥ 10॥

नहीं चाहता जैनधर्म के बिना, चक्रवर्ती होना।
नहीं अखरता जैनधर्म से सहित, दरिद्री भी होना॥ 11॥

जन्म-जन्म के किये पाप औ' बन्धन कोटि-कोटि भव के।
जन्म-मृत्यु औ' जरा-रोग, सब कट जाते जिनदर्शन से॥ 12॥

आज 'युगल' दृग हुए सफल, तुम चरण-कमल से हे प्रभुवर।
हे त्रिलोक के तिलक! आज, लगता भवसागर चुल्लू भर॥ 13॥

दर्शन-स्तुति

– कविवर 'युगलजी' जी

(दोहा)

सकल ज्ञेय-ज्ञायक तदपि, निजानंद-रसलीन।
सो जिनेन्द्र जयवंत नित, अरि-रज-रहस विहीन॥1॥

(पद्धरि छन्द)

जय वीतराग-विज्ञानपूर, जय मोहतिमिर को हरन सूर।
जय ज्ञान अनंतानंत धार, दृग-सुख-वीरजमण्डित अपार॥ 2॥

जय परमशांत-मुद्रा समेत, भविजन को निज-अनुभूति हेत।
भवि-भागन वचजोगे वशाय, तुम धुनि है सुनि विभ्रम नशाय॥ 3॥

तुम गुण-चिंतत निजपर-विवेक, प्रकटैं विघटैं-आपद अनेक।
तुम जगभूषण दूषणविमुक्त, सब महिमायुक्त विकल्पमुक्त॥ 4॥

अविरुद्ध शुद्ध चेतन-स्वरूप, परमात्म परम-पावन अनूप।
शुभ अशुभ-विभाव अभाव-कीन, स्वाभाविक-परिणतिमय अछीन॥ 5॥

अष्टादश-दोष विमुक्त धीर, स्वचतुष्टयमय राजत गंभीर।
मुनि-गणधरादि सेवत महंत, नव केवललब्धिरमा धरंत॥6॥

तुम शासन सेय अमेय जीव, शिव गये जाहिं जैहें सदीव।
भवसागर में दुःख छार-वारि, तारन को और न आप टारि॥ 7॥

यह लखि निजदुःखगद-हरणकाज, तुम ही निमित्तकारण इलाज।
जाने तातैं मैं शरण आय, उचरों निज-दुःख जो चिर लहाय ॥8 ॥

मैं भ्रम्यो अपनपो विसरि आप, अपनाये विधि-फल-पुण्य-पाप।
निज को पर को करता पिछान, पर में अनिष्टता इष्ट ठान ॥ 9 ॥

आकुलित भयो अज्ञान धारि, ज्यों मृग मृगतृष्णा जानि वारि।
तन-परिणति में आपो चितार, कबहूँ न अनुभवो स्वपद-सार ॥ 10 ॥

तुमको बिन जाने जो कलेश, पाये सो तुम जानत जिनेश।
पशु नारक नर सुरगति-मँझार, भव धर-धर मर्‍यो अनंतबार ॥ 11 ॥

अब काललब्धि-बलतैं दयाल, तुम दर्शन पाय भयो खुशाल।
मन शांत भयो मिटि सकल द्वन्द्व, चाख्यो स्वातमरस दुःख-निकंद ॥ 12 ॥

तातैं अब ऐसी करहु नाथ, बिछुरै न कभी तुव चरण साथ।
तुम गुणगण को नहिं छेव देव, जग-तारन को तुव विरद एव ॥ 13 ॥

आतम के अहित विषय-कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय।
मैं रहूँ आपमें आप लीन, सो करो होऊँ ज्यों निजाधीन ॥ 14 ॥

मेरे न चाह कछु और ईश, रत्नत्रयनिधि दीजे मुनीश।
मुझ कारज के कारन सु आप, शिव करहु हरहु मम मोहताप ॥ 15 ॥

शशि शांतिकरन तपहरन हेत, स्वयमेव तथा तुम कुशल देत।
पीवत पीयूष ज्यों रोग जाय, त्यों तुम अनुभवतैं भव-नशाय ॥ 16 ॥

त्रिभुवन तिहुँकाल मँझार कोय, नहिं तुम बिन निज-सुखदाय होय।
मो उर यह निश्चय भयो आज, दुःख-जलधि उतारन तुम जहाज ॥ 17 ॥

(दोहा)

तुम गुणगणमणि गणपति, गणत न पावहिं पार।
'दौल' स्वल्पमति किम कहैं, महुँ त्रियोग सँभार ॥ 18 ॥

श्री मङ्गलाष्टक

(शार्दूलविक्रीडित)

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धीश्वराः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्तसुपाठकाः मुनिवराः रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु ते मङ्गलम्॥ 1॥

श्रीमन्नम्र – सुरासुरेन्द्र – मुकुट – प्रद्योत – रत्नप्रभा–
भास्वत्पादनखेन्दवः प्रवचनाम्भोधीन्दवः स्थायिनः।
ये सर्वे जिनसिद्ध–सूर्यनुगतास्ते पाठकाः साधवः
स्तुत्या योगिजनैश्च पञ्चगुरवः कुर्वन्तु ते मङ्गलम्॥ 2॥

सम्यग्दर्शन–बोध–वृत्तममलं रत्नत्रयं पावनम्,
मुक्ति–श्री नगराधिनाथ–जिनपत्युक्तोऽपवर्गप्रदः।
धर्मः सुक्तिसुधा च चैत्यमखिलं चैत्यालयं श्रयालयम्,
प्रोक्तं च त्रिविधं चतुर्विधममी कुर्वन्तु ते मङ्गलम्॥ 3॥

नाभेयादि–जिनाधिपास्त्रिभुवनख्याताश्चतुर्विंशतिः,
श्रीमन्तो भरतेश्वरप्रभृतयो ये चक्रिणो द्वादशः।
ये विष्णु–प्रतिविष्णु–लाङ्गलधराः सप्तोत्तरा विंशतिः,
त्रैकाल्ये प्रथितास्त्रिषष्ठिपुरुषाः कुर्वन्तु ते मङ्गलम्॥ 4॥

ये सर्वौषधऋद्धयः सुतपसो वृद्धिङ्गता पञ्च ये,
ये चाष्टाङ्गमहानिमित्त–कुशला येऽष्टाविधाश्चारणाः।
पञ्चज्ञानधरास्त्रयोऽपिबलिनो ये बुद्धि–ऋद्धीश्वराः,
सप्तैते सकलार्चिता गणभृतः कुर्वन्तु ते मङ्गलम्॥ 5॥

कैलाशे वृषभस्य निर्वृतिमही वीरस्य पावापुरे,
चम्पायां वसुपूज्यसज्जिनपतेः सम्मेदशैलेऽर्हताम्।
शेषाणामपि चोर्जयन्तशिखरे नेमीश्वरस्यार्हतो,
निर्वाणावनयः प्रसिद्धविभवाः कुर्वन्तु ते मङ्गलम्॥ 6॥

ज्योतिर्व्यन्तर-भावनामरगृहे मेरौ कुलाद्रौ तथा,
जम्बू-शाल्मलि-चैत्यशाखिषु तथा वक्षार-रौप्याद्रिषु।
इष्वाकारगिरौ च कुण्डलनगे द्वीपे च नन्दीश्वरे,
शैले ये मनुजोत्तरे जिनगृहाः कुर्वन्तु ते मङ्गलम्॥ 7॥
यो गर्भावतरोत्सवो भगवतां जन्माभिषेकोत्सवो,
यो जातः परिनिष्क्रमेण विभवो यः केवलज्ञानभाक्।
यः कैवल्यपुर-प्रवेश-महिमा सम्भावितः स्वर्गिभिः,
कल्याणानि च तानि पञ्च सततं कुर्वन्तु ते मङ्गलम्॥ 8॥
इत्थं श्री जिनमङ्गलाष्टकमिदं सौभाग्यसम्पत्पदम्,
कल्याणेषु महोत्सवेषु सुधियस्तीर्थङ्कराणां मुखात्।
ये शृण्वन्ति पठन्ति तैश्च सुजनैर्धर्मार्थकामान्विता,
लक्ष्मीराश्रियते व्यपायरहिता निर्वाणलक्ष्मीरपि॥ 9॥

(यहाँ प्रत्येक पद्य के अन्त में 'पुष्पांजलि' क्षेपण करना चाहिये।)

जलाभिषेक-पाठ/ प्रक्षाल-पाठ

(दोहा)

जय जय भगवंते सदा, मंगल-मूल महान।
वीतराग सर्वज्ञ प्रभु, नमौं जोरि जुगपान॥

(अडिल्ल और गीता)

श्री जिन जग में ऐसो को बुधवंत जू।
जो तम गुण वरननि करि पावै अन्त जू॥
इन्द्रादिक सुर चार ज्ञानधारी मुनि।
कहि न सकै तुम गुणगण हे त्रिभुवन धनी॥
अनुपम अमित तुम गुणनि वारिधि ज्यों अलोकाकाश है।
किमि धरै हम उर कोष में सो अकथ गुण-मणिराश है॥

पै जिन! प्रयोजनसिद्धि की तुम नाम ही में शक्ति है।
यह चित्त में सरधान यातें नाम ही में भक्ति है॥ 1॥

ज्ञानावरणी दर्शन-आवरणी भने।
कर्म मोहनी अन्तराय चारों हने॥
लोकालोक विलोक्यो केवलज्ञान में।
इन्द्रादिक के मुकुट नये सुरथान में॥

तब इन्द्र जान्यो अवधि तैं, उठि सुरन-युत वंदत भयौ।
तुम पुण्य को प्रेर्‌यौ हरि ह्वै, मुदित धनपति सौं कह्यो॥
अब वेगि जाय रचौ समवसृति, सफल सुरपद को करौ।
साक्षात् श्री अरहंत के, दर्शन करौ कल्मष हरौ॥ 2॥

ऐसे वचन सुने सुरपति के धनपति।
चल आयो तत्काल मोद धारै अति॥
वीतराग छवि देखि शब्द जय-जय कह्यौ।
दैय प्रदच्छिना बार-बार वदंत भयौ॥

अति भक्ति भीनो नम्रचित ह्वै, समवसरण रच्यो सही।
ताकी अनूपम शुभ-गति को, कहन समरथ कोउ नहीं॥
प्राकार तोरण सभामंडप, कनक-मणिमय छाजहीं।
नगजड़ित गंधकुटी मनोहर, मध्यभाग विराजहीं॥ 3॥

सिंहासन तामध्य बन्यौ अद्भुत दिपै।
ता पर वारिज रच्यो प्रभा दिनकर छिपै॥
तीन छत्र सिर शोभित चौंसठ चमरजी।
महाभक्तियुत ढोरत हैं तहाँ अमरजी॥

प्रभु तरनतारन कमल ऊपर, अन्तरीक्ष विराजिया।
यह वीतराग-दशा प्रतच्छ-विलोकि, भविजन सुख लिया॥

मुनि आदि द्वादश सभा के, भवि-जीव मस्तक नायकैं।
बहु भाँति बारम्बार पूजैं, नमैं गुणगण गायकैं ॥ 4 ॥

परमौदारिक दिव्य-देह पावन सही।
क्षुधा तृषा चिन्ता भय गद दूषण नहीं॥
जन्म जरा मृति अरति शोक विस्मय नसें।
राग रोष निद्रा मद मोह सबैं खसें॥

श्रम-बिना श्रमजलरहित पावन, अमल-ज्योतिस्वरूपजी।
शरणागतनि की अशुचिता हरि, करत विमल अनूप जी॥
ऐसे प्रभु की शांतमुद्रा को, नह्वन जलतैं करैं।
'जस' भक्तिवश मन उक्तिैं, हम भानु-ढिंग दीपक धरैं॥ 5 ॥

(यहाँ से प्रतिमाजी पर जलधारा प्रारम्भ करें।)

तुम तो सहज पवित्र यही निश्चय भयो।
तुम पवित्रता हेत नहीं मज्जन ठयो॥
मैं मलीन रागादिक मलतैं ह्वै रह्यौ।
महामलिन तन में वसु-विधिवश दुःख सह्यौ॥

बीत्यो अनंतो काल यह, मेरी अशुचिता ना गई।
तिस अशुचिताहर एक तुम ही, भरहु वाञ्छा चित ठई॥
अब अष्टकर्म विनाश सब मल, रोष-रागादिक हरौ।
तनरूप कारागेहतैं, उद्धार शिववासा करौ॥6 ॥

मैं जानत तुम अष्टकर्म हरि शिव गये।
आवागमन-विमुक्त रागवर्जित भये॥
पर तथापि मेरो मनरथ पूरत सही।
नय-प्रमाणतैं जानि महा-साता लही॥

पापाचरण तजि नह्वन करता, चित्त में ऐसे धरूँ।
साक्षात् श्री अरहंत का, मानो नह्वन-परसन करूँ॥

ऐसे विमल-परिणाम होते अशुभ-नशि शुभबन्ध तैं।
विधि अशुभ नसि शुभ-बन्धतैं ह्वै, शर्म सबविधि नासतैं॥ 7॥

पावन मेरे नयन भये तुम दरसतैं।
पावन पाणि भये तुम चरननि परसतैं॥
पावन मन ह्वै गयो तिहारे ध्यानतैं।
पावन रसना मानी तुम गुण गानतैं॥

पावन भई परजाय मेरी, भयो मैं पूरण धनी।
मैं शक्तिपूर्वक भक्ति कीनी, पूर्णभक्ति नहीं बनी॥

धनि धन्य ते बड़भागि भवि तिन, नींव शिवघर की धरी।
वर क्षीरसागर आदि जल मणि-कुम्भ-भरि भक्ति करी॥ 8॥

विघन-सघन-वन-दाहन दहन-प्रचण्ड हो।
मोह-महातम-दलन प्रबल-मार्तण्ड हो॥
ब्रह्मा विष्णु महेश आदि संज्ञा धरो।
जगविजयी जमराज नाश ताको करो॥

आनन्दकारण दुःख-निवारण, परम-मंगलमय सही।
मोसौं पतित नहिं और तुमसौ, पतित-तार सुन्यो नहीं॥

चिंतामणि पारस कल्पतरु, एक भव सुखकार ही।
तुम भक्ति-नौका जे चढ़े, ते भये भवदधि पार ही॥9॥

तुम भवदधितैं तरि गये, भये निकल अविकार।
तारतम्य इस भक्ति को, हमैं उतारो पार॥ 10॥

(निर्मल वस्त्र से प्रतिमाजी को साफ कर निम्न श्लोक बोलकर गन्धोदक ग्रहण करें-)

निर्मलं निर्मलीकरणं, पावनं पापनाशनम्।
जिनचरणोदकं वंदे, अष्टकर्म-विनाशनम्॥

माघ्नंदि आचार्य कृत

अभिषेक-पाठ

श्रीमन्नतामर-शिरस्तटरत्न-दीप्ति।
तोयावभासि-चरणाम्बुज-युग्मशीशम्॥
अर्हन्तमुन्नतपदं प्रदमाभिनम्य,
त्वन्मूर्तिषूद्यभिषेकविधिं करिष्ये॥ 1॥

अथ पौर्वाह्णिकदेववन्दनायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजास्तवन-वन्दनासमेतं श्रीपञ्चमहागुरुभक्ति-कायोत्सर्गं करोम्यहम्।

(नौ बार णमोकारमन्त्र पढ़ें।)

याः कृत्रिमास्तदितराः प्रतिमा जिनस्य, संस्नापयिन्त पुरुहूतमुखादयस्ताः।
सद्भावलब्धिसमयादिनिमित्तयोगा-त्तत्रैवमुज्ज्वलधिया कुसुमं क्षिपामि॥ 2॥

(यह पढ़कर पुष्पाञ्जलि-क्षेपण करके अभिषेक की प्रतिज्ञा करें।)

श्रीपीठक्लृप्ते विशदाक्षतौघे, श्रीप्रस्तधैः पूर्ण-शशांककल्पे।
श्री वर्तके चन्द्रमसीति-वार्तां, सत्यापयन्तीं श्रियमालिखामि॥ 3॥

ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं श्रीलेखनं करोमि।

(अभिषेक की थाली में केशर से 'श्री' लिखें।)

कनदादिनिभं कम्रं पावनं पुण्यकारणम्।
स्थापयामि परं पीठं जिनस्नपनाय भक्तितः॥ 4॥

ॐ ह्रीं श्रीपीठ-स्थापनं करोमि। (सिंहासन स्थापित करें।)

भृंगार-चामर-सुदर्पण-पीठकुम्भ-ताल-ध्वजातपनिवारक-भूषिताग्रे।
वर्धस्व नन्द जय-पाठपदावलीभिः सिंहासने जिने! भवन्तमहं श्रयामि॥ 5॥

ॐ ह्रीं श्रीधर्मतीर्थधिनाथ! भगवन्निह पाण्डुकशिलापीठे सिंहासने तिष्ठ तिष्ठ।

(प्रतिमाजी विरामजमान करें।)

श्रीतीर्थकृत्सन्पनवर्य-विधौ सुरेन्द्रः, क्षीराब्धि-वारिभिरपूरयदर्थकुम्भान्।
तांस्तादृशानिव विभाव्य यथार्हणीयान्, संस्थापये कुसुम-चन्दनभूषिताग्रे॥ 6॥
ॐ ह्रीं चतुःकोणेषु चतुःकलशस्थापनं करोमि।
(चारों कोनों में चार कलश रखें।)

आनन्दनिर्भर-सुरप्रमदादिगानैः, वादित्र-पूर-जयशब्द-कलप्रशस्तैः।
उद्गीयमान-जगतीपति-कीर्तिमेनां,पीठस्थलीं वसुविधार्चनयोल्लसामि॥ 7॥
ॐ ह्रीं स्नपनपीठस्थिताय जिनायार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।
(अर्घ्य चढ़ावें, वादित्र नाद करावें तथा जय-जय शब्द का उच्चारण करें।)

कर्मप्रबन्धनिगडैरपि हीनताप्तं ज्ञात्वापि भक्तिवशतः परमादिदेवम्।
त्वां स्वीयकल्मषगणोन्मथनाय देव! शुद्धोदकैरभिनयामि नयार्थतत्त्वम्॥ 8॥
ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं तं मं हं सं तं पं वं वं हं सं सं तं तं पं पं झं झं क्ष्वीं क्ष्वीं क्ष्वीं क्ष्वीं द्रां द्रां द्रीं द्रीं द्रावय द्रावय नमोऽर्हते भगवते श्रीमते पवित्रतर-जलेन जिनमभिषेचयामि स्वाहा। (यह पढ़कर चार कलशों से अभिषेक करें।)

पानीय-चन्दन-सदक्षत-पुष्पपुञ्ज-नैवेद्य-दीपक-सुधूप-फलब्रजेन।
कर्माष्टक-क्रथनवीरमनन्तशक्तिं संपूजयामि महसा महसां निधानम्॥ 9॥
ॐ ह्रीं अभिषेकान्ते वृषभादि-वीरान्तेभ्योऽर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

हे तीर्थपा निज-यशो-धवलीकृताशाः,
सिद्धौषधाश्च भवदुःखमनागदाहाम्।
सद्द्रव्य-हृज्जनित-पङ्कबन्धकल्पा,
यूयं जिनाः सततशान्तिकरा भवन्तु॥ 10॥
(शान्ति के लिये पुष्पाञ्जलि अर्पित करें।)

नत्वा मुहुर्निजकरैरमृतोपमेयैः, स्वच्छैर्जिनेन्द्र! तव चन्द्रकरावदातैः।
शुद्धांशुकेन विमलेन नितान्तरम्ये, देहे स्थितान् जलकणान्परिमार्जयामि॥ 11॥

ॐ अमलांशुकेन जिनबिम्बमार्जनं करोमि।
(यह पढ़कर प्रतिमाजी को शुद्ध और स्वच्छ वस्त्र से पोंछें।)

स्नानं विधाय भवतोऽष्टहस्त्रनाम्ना-मुच्चारणेन मनसो वचसो विशुद्धिम्।
जिघृक्षुरिष्टिमिन तेऽष्टमयीं विधातुं, सिंहासने विधिवदत्र निवेशयामि॥ 12॥
(प्रतिमाजी को सिंहासन पर विराजमान करें।)

जलगन्धाक्षतैः पुष्पैश्चरु-दीप-सुधूपकैः।
फलैरर्घैर्जिनमर्चे जन्मदुःखापहानये॥ 13॥
ॐ ह्रीं पीठस्थिताय जिनायार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

नत्वा परीत्य निजनेत्र-ललाटयोश्च,
व्यात्युक्षणेन हरतादघ-संचयं मे।
शुद्धोदकं जिनपते! तव पादयोगाद्,
भूयाद् भवातपहरे धृतमादरेण॥ 14॥

मुक्तिश्रीवनिता-करोदकमिदं पुण्याङ्कुरोत्पादकम्,
नागेन्द्र-त्रिदशेन्द्रचन्द्रपदवी-राज्याभिषेकोदकम्।
सम्यग्ज्ञान-चरित्र-दर्शन-लतासंवृद्धि-सम्पादकम्
कीर्ति-श्री-जयसाधकं तव जिन! स्नानस्य गन्धोदकम् ॥ 15॥
(गन्धोदक सिर पर लगावें।)

विनय पाठ

(दोहा)

इह विधि ठाड़ो होयके, प्रथम पढ़ै जो पाठ।
धन्य जिनेश्वरदेव तुम, नाशे कर्म जु आठ॥ 1॥

अनन्त-चतुष्टय के धनी, तुम ही हो सरताज।
मुक्तिवधु के कन्त तुम, तीन भुवन के राज॥ 2॥

तिहुँ जग की पीड़ा हरन, भवदधि-शोषणहार।
ज्ञायक हो तुम विश्व के, शिव-सुख के करतार॥ 3॥

हरता अघ-अँधियार के, करता धर्म-प्रकाश।
थिरता-पद दातार हो, धरता निजगुण-रास॥ 4॥

धर्मामृत उर-जलधि सौं, ज्ञानभानु तुम रूप।
तुमरे चरण-सरोज को, नावत तिहुँ-जग भूप॥ 5॥

मैं वन्दौं जिनदेव को, करि अतिनिर्मल-भाव।
कर्म-बन्ध के छेदने, और न कछू उपाव॥ 6॥

भविजनकौं भव-कूपतैं, तुम ही काढ़नहार।
दीनदयाल अनाथपति, आतम-गुण-भण्डार॥ 7॥

चिदानन्द निर्मल कियो, धोय कर्म-रज मैल।
सरल करी या जगत् में, भविजन को शिव-गैल॥ 8॥

तुम पद-पंकज पूजतैं, विघ्न-रोग टर जाय।
शत्रु मित्रता को धरैं, विष निरविषता थाय॥ 9॥

चक्री सुर-खग-इन्द्र पद, मिलैं आपतैं आप।
अनुक्रम करि शिवपद लहैं, नेम सकल हनि पाप॥ 10॥

तुम बिन मैं व्याकुल भयो, जैसे जल बिन मीन।
जन्म-जरा मेरी हरो, करो मोहि स्वाधीन॥ 11॥

पतित बहुत पावन किये, गिनती कौन करेव।
अञ्जन से तारे कुधी, जय जय जय जिनदेव॥ 12॥

थकी नाव भवदधि-विषैं, तुम प्रभु पार करेय।
खेवटिया तुम हो प्रभु, जय जय जय जिनदेव॥ 13॥

रागसहित जग में रुल्यो, मिले सरागी देव।
वीतराग भेट्यो अबै, मेटो राग कुटेव॥ 14॥

कित निगोद कित नारकी, कित तिर्यञ्च अजान।
आज धन्य मानुष भयो, पायो जिनवर-थान॥ 15॥

तुमको पूजैं सुरपती, अहिपति नरपति देव।
धन्य भाग्य मेरो भयो, करन लग्यो तुम सेव॥ 16॥

अशरण के तुम शरण हो, निराधार आधार।
मैं डूबत भव-सिन्धु में, खेव लगाओ पार॥ 17॥

इन्द्रादिक गणपति थके, कर विनती भगवान्।
अपनो विरद निहारिकै, कीजे आप समान॥ 18॥

तुम्हरी नेक सुदृष्टि तैं, जग उतरत है पार।
हा हा डूब्यो जात हौं, नेक निहार निकार॥ 19॥

जो मैं कहहूँ और सौं, तो न मिटै उरझार।
मेरी तो तोसौं बनी, यातैं करौं पुकार॥ 20॥

वंदौं पाँचों परमगुरु, सुरगुरु वन्दत जास।
विघनहरन मङ्गलकरण, पूरन परम प्रकाश॥ 21॥

चौबीसों जिनपद नमों, नमों शारदा माय।
शिवमग साधक साधु नमि, रच्यौ पाठ सुखदाय॥ 22॥

('विनय-पाठ' में पठित सङ्केतों का पालन करते हुये 'पूजा-पीठिका' के अन्तर्गत नीचे वर्णित सम्पूर्ण-विधि सस्वर-पाठ करते हुये करनी चाहिए।)

पूजा-पीठिका

ॐ जय जय जय। नमोऽस्तु नमोऽस्तु नमोऽस्तु।

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं॥

ॐ ह्रीं अनादि-मूल-मन्त्रेभ्यो नमः पुष्पांजलिं क्षिपामि।

चत्तारि मंगलं, अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं,
साहू मंगलं, केवलि-पण्णत्तो धम्मो मंगलं।
चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा,
साहू लोगुत्तमा, केवलि-पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो।
चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरिहंते सरणं पव्वज्जामि,
सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि,
केवलि-पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।

ॐ नमोऽर्हते स्वाहा। (पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्।)

मङ्गल-विधान

अपवित्रः पवित्रो वा, सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा।
ध्यायेत्पञ्च-नमस्कारं, सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ 1॥

अपवित्रः पवित्रो वा, सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् परमात्मानं, स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः॥ 2॥

अपराजित-मन्त्रोऽयं, सर्व-विघ्न-विनाशनः।
मङ्गलेषु च सर्वेषु, प्रथमं मङ्गलं मतः॥ 3॥

एसो पंच णमोयारो, सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं होई मंगलं॥ 4॥

अर्हमित्यक्षरं ब्रह्म, वाचकं परमेष्ठिनः।
सिद्धचक्रस्य सद्बीजं, सर्वतः प्रणमाम्यहम्॥ 5॥

कर्माष्टक-विनिर्मुक्तं, मोक्षलक्ष्मीनिकेतनम् ।
सम्यक्त्वादि-गुणोपेतं, सिद्धचक्रं नमाम्यहम् ॥ 6 ॥

विघ्नौघाः प्रलयं यान्ति, शाकिनी-भूतपन्नगाः ।
विषं निर्विषतां याति, स्तूयमाने जिनेश्वरे ॥ 7 ॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

जिनसहस्त्रनाम का अर्घ्य

उदक-चन्दन-तन्दुल-पुष्पकैश्चरु-सुदीप-सुधूप-फलार्घ्यकैः ।
धवल-मङ्गल-गान-रवाकुले जिनगृहे जिननाथमहं यजे ॥ ॥

ॐ ह्रीं श्री भगवज्जिनसहस्त्रनामेभ्योऽर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥

पूजा प्रतिज्ञा पाठ

श्रीमज्जिनेन्द्रमभिवंद्य जगत्त्रयेशम्,
स्याद्वाद-नायकमनन्त-चतुष्टयार्हम् ।
श्रीमूलसंघ-सुदृशां सुकृतैकहेतुः,
जैनेन्द्र-यज्ञ-विधिरेष मयाऽभ्यधायि ॥ 1 ॥

स्वस्ति त्रिलोकगुरवे जिनपुङ्गवाय,
स्वस्ति स्वभाव-महिमोदय-सुस्थिताय ।
स्वस्ति प्रकाश-सहजोर्जित-दृङ्मयाय,
स्वस्ति प्रसन्नललिताद्भुत-वैभवाय ॥ 2 ॥

स्वस्त्युच्छलद्विमल-बोध सुधा-प्लवाय,
स्वस्ति स्वभाव-परभाव-विभासकाय ।
स्वस्ति त्रिलोक विततैकचिदुद्गमाय,
स्वस्ति त्रिकाल-सकलायत-विस्तृताय ॥ 3 ॥

द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य यथानुरूपम्,
भावस्य शुद्धिमधिकामधिगन्तुकामः ।

आलंबनानि विविधान्यवलम्ब्य वल्गन्,
भूतार्थ-यज्ञ-पुरुषस्य करोमि यज्ञम् ॥ 4 ॥
अर्हत् पुराण-पुरुषोत्तम पावनानि,
वस्तून्यनूनमखिलान्ययमेक एव।
अस्मिञ्ज्वलद्विमल-केवल-बोधवह्नौ,
पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि ॥ 5 ॥

(ॐ यज्ञविधिप्रतिज्ञायै जिनप्रतिमाग्रे पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्।)

स्वस्तिमंगलविधानम्

श्रीवृषभो नः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीअजितः।
श्रीसम्भवः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीअभिनन्दनः॥
श्रीसुमतिः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीपद्मप्रभः।
श्रीसुपार्श्वः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीचन्द्रप्रभः॥
श्रीपुष्पदन्तः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीशीतलः।
श्रीश्रेयांन् स्वस्ति, स्वस्ति श्रीवासुपूज्यः॥
श्रीविमलः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीअनन्तः।
श्रीधर्मः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीशान्तिः॥
श्रीकुन्थुः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीअरनाथः।
श्रीमल्लिः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीमुनिसुव्रतः॥
श्रीनमिः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीनेमिनाथः।
श्रीपार्श्वः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीवर्द्धमानः॥

(पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

परमर्षि-स्वस्ति-मंगलपाठ

(प्रत्येक श्लोक के बाद पुष्प क्षेपण करें)

नित्याप्रकम्पाद्भुत-केवलौघाः, स्फुरन्मनः पर्यय-शुद्धबोधाः।
दिव्यावधिज्ञान-बलप्रबोधाः, स्वस्तिक्रियासुः परमर्षयो नः॥ 1॥
कोष्ठस्थ-धान्योपममेकबीजं, संभिन्न-संश्रोतृ-पदानुसारि।
चतुर्विधं बुद्धिबलं दधानाः, स्वस्तिक्रियासुः परमर्षयो नः॥ 2॥
संस्पर्शनं संश्रवणं च दूरादास्वादन-घ्राण-विलोकनानि।
दिव्यान्मतिज्ञान-बलाद्वहन्तः, स्वस्तिक्रियासुः परमर्षयो नः॥ 3॥
प्रज्ञाप्रधानाः श्रमणाः समृद्धाः, प्रत्येकबुद्धा दशसर्वपूर्वैः।
प्रवादिनोऽष्टाङ्गनिमित्तविज्ञाः, स्वस्तिक्रियासुः परमर्षयो नः॥ 4॥
जङ्घावलि-श्रेणि-फलाम्बु-तन्तु-प्रसून-बीजांकुर-चारणाह्वः।
नभोऽङ्गणस्वैर-विहारिणश्च, स्वस्तिक्रियासुः परमर्षयो नः॥ 5॥
अणिम्निादक्षाः कुशला महिम्नि, लघिम्नि शक्ताः कृतिनो गरिम्णि।
मनो-वपुर्वाग्बलिनश्च नित्यं, स्वस्तिक्रियासुः परमर्षयो नः॥ 6॥
सकामरूपित्व-वशित्वमैश्यं, प्रकाम्यमन्तर्द्धिमथाप्तिमाप्ताः।
तथाऽप्रतीघातगुणप्रधानाः, स्वस्तिक्रियासुः परमर्षयो नः॥ 7॥
दीप्तं च तप्तं च तथा महोग्रं, घोरं तपो घोरपराक्रमस्थाः।
ब्रह्मापरं घोर गुणाश्चरन्तः, स्वस्तिक्रियासुः परमर्षयो नः॥ 8॥
आमर्ष-सर्वौषधयस्तथाशीर्विषं-विषा दृष्टिविषं विषाश्च।
सखिल्ल-विड्जल्ल-मलौषधीशाः, स्वस्तिक्रियासुः परमर्षयो नः॥ 9॥
क्षीरं स्त्रवन्तोऽत्र घृतं स्त्रवन्तो, मधुस्त्रवन्तोऽप्यमृतं स्त्रवन्तं।
अक्षीणसंवास-महानसाश्च, स्वस्तिक्रियासुः परमर्षयो नः॥ 10॥

'पूजा-पीठिका' में वर्णित विधि को पूर्ण करके फिर सर्वप्रथम 'देव-शास्त्र-गुरु-पूजन' 'विद्यमान (विहरमान) बीस तीर्थङ्कर-पूजन' 'सिद्धपूजन' एवं 'कृत्रिमाकृत्रिम चैत्यालयों की पूजन' करनी चाहिये। ये पूजनें यहाँ प्रस्तुत हैं-

श्री देव-शास्त्र-गुरु पूजा

(वीरछन्द)

केवल-रवि-किरणों से जिसका, सम्पूर्ण प्रकाशित है अन्तर।
उस श्री जिनवाणी में होता, तत्त्वों का सुन्दरतम दर्शन॥
सद्दर्शन-बोध-चरण-पथ पर, अविरल जो बढ़ते हैं मुनिगण।
उन देव परम-आगम गुरु को, शत शत वन्दन शत शत वन्दन॥

ॐ ह्रीं श्री देवशास्त्रगुरुसमूह! अत्र अवतरत अवतरत संवौषट् इति आह्वानम्।
ॐ ह्रीं श्री देवशास्त्रगुरुसमूह! अत्र तिष्ठत तिष्ठत ठः ठः इति स्थापनम्।
ॐ ह्रीं श्री देवशास्त्रगुरुसमूह! अत्र मम सन्निहितो भवत भवत वषट् सन्निधिकरणम्।

इन्द्रिय के भोग मधुर विष-सम, लावण्यमयी कंचन काया।
यह सब कुछ जड़ की क्रीड़ा है, मैं अब तक जान नहीं पाया॥
मैं भूल स्वयं निज वैभव को, पर-ममता में अटकाया हूँ।
अब निर्मल सम्यक् नीर लिये, मिथ्यामल धोने आया हूँ॥

ॐ ह्रीं श्रीदेवशास्त्रगुरुभ्यो जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा।

जड़ चेतन की सब परिणति प्रभु! अपने-अपने में होती है।
अनुकूल कहें प्रतिकूल कहें, यह झूठी मन की वृत्ती है॥
प्रतिकूल-संयोगों में क्रोधित, होकर संसार बढ़ाया है।
सन्तप्त-हृदय प्रभु! चन्दन-सम, शीतलता पाने आया है॥

ॐ ह्रीं श्रीदेवशास्त्रगुरुभ्यो संसारतापविनाशनाय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा।

उज्ज्वल हूँ कुन्द-धवल हूँ प्रभु! पर से न लगा हूँ किञ्चित् भी।
फिर भी अनुकूल लगें उन पर, करता अभिमान निरन्तर ही॥
जड़ पर झुक-झुक जाता चेतन, की मार्दव की खण्डित काया।
निज शाश्वत अक्षय निधि पाने, अब दास चरणरज में आया॥

ॐ ह्रीं श्रीदेवशास्त्रगुरुभ्योऽक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा।

यह पुष्प सुकोमल कितना है, तन में माया कुछ शेष नहीं।
निज-अन्तर का प्रभु! भेद कहूँ, उसमें ऋजुता का लेश नहीं॥
चिन्तन कुछ फिर संभाषण कुछ, वृत्ति कुछ की कुछ होती है।
स्थिरता निज में प्रभु पाऊँ जो, अन्तर का कालुष धोती है॥

ॐ ह्रीं श्रीदेवशास्त्रगुरुभ्यो कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा।

अब तक अगणित जड़द्रव्यों से, प्रभु! भूख न मेरी शान्त हुई।
तृष्णा की खाई खूब भरी, पर रिक्त रही वह रिक्त रही॥
युग-युग से इच्छा-सागर में, प्रभु! गोते खाता आया हूँ।
चरणों में व्यञ्जन अर्पित कर, अनुपम-रस पीने आया हूँ॥

ॐ ह्रीं श्रीदेवशास्त्रगुरुभ्यो क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा।

मेरे चैतन्य-सदन में प्रभु! चिर व्याप्त भयंकर अँधियारा।
श्रुत-दीप बुझा हे करुणानिधि! बीती नहिं कष्टों की कारा॥
अतएव प्रभो! यह ज्ञान-प्रतीक, समर्पित करने आया हूँ।
तेरी अन्तर-लौ से निज-अन्तर, दीप जलाने आया हूँ॥

ॐ ह्रीं श्रीदेवशास्त्रगुरुभ्योमोहान्धकारविनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा।

जड़कर्म घुमाता है मुझको, यह मिथ्या-भ्रान्ति रही मेरी।
मैं रागी-द्वेषी हो लेता, जब परिणति होती है जड़ केरी॥
यों भावकरम या भावमरण, सदियों से करता आया हूँ।
निज अनुपम गन्ध-अनल से प्रभु, पर-गन्ध जलाने आया हूँ॥

ॐ ह्रीं श्रीदेवशास्त्रगुरुभ्योऽष्टकर्मदहनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा।

जग में जिसको निज कहता मैं, वह छोड़ मुझे चल देता है।
मैं आकुल-व्याकुल हो लेता, व्याकुल का फल व्याकुलता है॥
मैं शान्त निराकुल चेतन हूँ, है मुक्ति-रमा सहचर मेरी।
यह मोह तड़ककर टूट पड़े, प्रभु! सार्थक फल-पूजा तेरी॥

ॐ ह्रीं श्रीदेवशास्त्रगुरुभ्यो मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा।

क्षणभर निजरस को पी चेतन, मिथ्या-मल को धो देता है।
काषायिक भाव विनष्ट किये, निज आनन्द-अमृत पीता है॥
अनुपम-सुख तब विलसित होता, केवलरवि जगमग करता है।
दर्शन-बल पूर्ण-प्रगट होता, यह ही अरहन्त-अवस्था है॥
यह अर्घ्य समर्पण करके प्रभु! निज-गुण का अर्घ्य बनाऊँगा।
और निश्चित तेरे सदृश प्रभु! अरहन्त-अवस्था पाऊँगा॥

ॐ ह्रीं श्रीदेवशास्त्रगुरुभ्यो अनर्घ्य पद प्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

जयमाला

(पद्धरि)

भव-वन में जीभर घूम चुका, कण-कण को जीभर-भर देखा।
मृग-सम मृगतृष्णा के पीछे, मुझको न मिली सुख की रेखा॥

(बारह भावना)

झूठे जग के सपने सारे, झूठी मन की सब आशायें।
तन-जीवन यौवन अस्थिर है, क्षणभंगुर पल में मुराझायें॥

सम्राट् महाबल सेनानी, उस क्षण को टाल सकेगा क्या?
अशरण मृतकाया में हर्षित, निज-जीवन डाल सकेगा क्या॥

संसार महा-दुःखसागर के, प्रभु दुःखमय सुख-आभासों में।
मुझको न मिला सुख क्षणभर भी, कंचन-कामिनी प्रासादों में॥

मैं एकाकी एकत्व लिये, एकत्व लिये सब ही आते।
तन-धन को साथी समझा था, पर ये भी छोड़ चले जाते॥

मेरे न हुए ये, मैं इनसे, अतिभिन्न अखण्ड निराला हूँ।
निज में पर से अन्यत्व लिये, निज सम-रस पीनेवाला हूँ॥

जिसके शृंगारों में मेरा, यह महँगा, जीवन घुल जाता।
अत्यन्त-अशुचि जड़-काया से, इस चेतन का कैसा नाता॥

दिन–रात शुभाशुभ भावों से, मेरा व्यापार चला करता।
मानस, वाणी और काया से, आस्रव का द्वार खुला रहता॥

शुभ और अशुभ की ज्वाला से, झुलसा है मेरा अन्तस्तल।
शीतल समकित, किरणें फूटें, संवर से जागे अन्तर्बल॥

फिर तप की शोधक–वह्नि जगे, कर्मों की कड़ियाँ टूट पड़ें।
सर्वाङ्ग निजात्मप्रदेशों से, अमृत के निर्झर फूट पड़ें॥

हम छोड़ चलें यह लोक तभी, लोकान्त विराजें क्षण में जा।
निजलोक हमारा वासा हो, शोकान्त बने फिर हमको क्या॥

जागे मम दुर्लभ–बोधि प्रभो! दुर्नय–तम सत्वर टल जावे।
बस ज्ञाता–दृष्टा रह जाऊँ, मद–मत्सर–मोह विनश जावे॥

चिर–रक्षक धर्म हमारा हो, हो धर्म हमारा चिर साथी।
जग में न हमारा कोई था, हम भी न रहें जग के साथी॥

(देव–स्तवन)

चरणों में आया हूँ प्रभुवर! शीतलता मुझको मिल जावे।
मुरझाई ज्ञान–लता मेरी, निज–अन्तर्बल से खिल जावे॥

सोचा करता हूँ भोगों से, बुझ जावेगी इच्छा–ज्वाला।
परिणाम निकलता है लेकिन, मानो पावक में घी डाला॥

तेरे चरणों की पूजा से, इन्द्रिय–सुख को ही अभिलाषा।
अब तक न समझ ही पाया प्रभु! सच्चे–सुख की भी परिभाषा॥

तुम तो अविकारी हो प्रभुवर! जग में रहते जग से न्यारे।
अतएव झुकें तब चरणों में, जग के माणिक मोती सारे॥

(शास्त्र–स्तवन)

स्याद्वादमयी तेरी वाणी, शुभनय के झरने झरते हैं।
उस पावन नौका पर लाखों, प्राणी भव–वारिधि तिरते हैं॥

(गुरु-स्तवन)

हे गुरुवर! शाश्वत सुख-दर्शक, यह नग्न-स्वरूप तुम्हारा है।
जग की नश्वरता का सच्चा, दिग्दर्शन करनेवाला है॥

जब जग विषयों में रच-पच कर, गाफिल निद्रा में सोता हो।
अथवा वह शिव के निष्कटंक, पथ में विषकंटक बोता हो॥

हो अर्द्ध-निशा का सन्नाटा, वन में वनचारी चरते हों।
तब शान्त निराकुल-मानस तुम, तत्त्वों का चिंतन करते हों॥

करते तप शैल-नदी-तट पर, तरु-तल वर्षा की झड़ियों में।
समतारस-पान किया करते, सुख-दुःख दोनों की घड़ियों में॥

अन्तर्ज्वाला हरती वाणी, मानों झड़ती हों फुलझड़ियाँ।
भव-बन्धन तड़-तड़ टूट पड़ें, खिल जाये अन्तर की कलियाँ॥

तुम-सा दानी क्या कोई हो, जग को दे दीं जग की निधियाँ।
दिन-रात लुटाया करते हो, सम-शम की अविनश्वर मणियाँ॥

ॐ ह्रीं श्री देवशास्त्रगुरुभ्योऽनर्घ्यपदप्राप्तये जयमाला पूर्णार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

हे निर्मल देव! तुम्हें प्रणाम, हे ज्ञान-दीप आगम! प्रणाम।
हे शान्ति-त्याग के मूर्तिमान, शिव-पथ-पन्थी गुरुवर! प्रणाम॥

॥ पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्॥

सिद्धचक्र-पूजन

(अडिल्ल-छन्द)

अष्ट-करम करि नष्ट अष्ट-गुण पायकैं, अष्टम-वसुधा-माँहि जायकैं।
ऐसे सिद्ध अनन्त महन्त मनायकैं, संवौषट् आह्वान करूँ हरषायकैं॥ 1॥

ॐ ह्रीं श्रीसिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिन्! अत्र अवतरत अवतरत संवौषट्।
ॐ ह्रीं श्रीसिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिन्! अत्र तिष्ठत तिष्ठत ठः ठः।
ॐ ह्रीं श्रीसिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिन्! अत्र मम सन्निहितो भवत-भवत वषट्।

(त्रिभङ्गी)

हिमवत–गत गङ्गा, आदि अभङ्गा, तीर्थ उतङ्गा, सरवङ्गा।
आनिय सुरसङ्गा, सलिल सुरङ्गा, करि मन चङ्गा, भरि भृङ्गा॥
त्रिभुवन के स्वामी, त्रिभुवननामी, अन्तरजामी, अभिरामी।
शिवपुर–विश्रामी, निजनिधि–पामी, सिद्ध जजामी, सिरनामी॥

ॐ ह्रीं श्रीसिद्धपरमेष्ठिने ज्ञानावरणकर्म–विनाशाय जलं निर्वपामीति स्वाहा।

हरिचन्दन लायो, कपूर मिलायो, बहु महकायो, मन भायो।
जल–सङ्ग घसायो, रङ्ग सुहायो, चरन चढ़ायो, हरषायो॥
त्रिभुवन के स्वामी, त्रिभुवननामी, अन्तरजामी, अभिरामी।
शिवपुर–विश्रामी, निजनिधि–पामी, सिद्ध जजामी, सिरनामी॥

ॐ ह्रीं श्रीसिद्धपरमेष्ठिने दर्शनावरणकर्म–विनाशाय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा।

तन्दुल उजियारे, शशि–दुति टारे, कोमल प्यारे, अनियारे।
तुषखण्ड निकारे, जल–सु पखारे, पुञ्ज तुम्हारे, ढिंग धारे॥
त्रिभुवन के स्वामी, त्रिभवननामी, अन्तरजामी, अभिरामी।
शिवपुर–विश्रामी, निजनिधि–पामी, सिद्ध जजामी, सिरनामी॥

ॐ ह्रीं श्रीसिद्धपरमेष्ठिने वेदनीयकर्म–विनाशाय अक्षतं निर्वपामीति स्वाहा।

पकवान निवाजे, स्वाद विराजे, अमृत लाजे, क्षुध भाजे।
बहु मोदक छाजे, घेवर खाजे, पूजन काजे, करि ताजे॥
त्रिभुवन के स्वामी, त्रिभुवननामी, अन्तरजामी, अभिरामी।
शिवपुर–विश्रामी, निजनिधि–पामी, सिद्ध जजामी, सिरनामी॥

ॐ ह्रीं श्रीसिद्धपरमेष्ठिने आयुकर्म–विनाशाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा।

आपा–पर भासै, ज्ञान प्रकासै, चित्त विकासै, तम नासै।
ऐसे विध खासे, दीप उजासे, धरि तुम पासे, उल्लासे॥
त्रिभुवन के स्वामी, त्रिभुवननामी, अन्तरजामी, अभिरामी।
शिवपुर–विश्रामी, निजनिधि–पामी, सिद्ध जजामी, सिरनामी॥

ॐ ह्रीं श्रीसिद्धपरमेष्ठिने नामकर्म–विनाशाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा।

चुम्बक अलि–माला, गन्ध विशाला, चन्दन कालागरुवाला।
तस चूर्ण रसाला, करि ततकाला, अगनी–ज्वाला, में डाला॥
त्रिभुवन के स्वामी, त्रिभुवननामी, अन्तरजामी, अभिरामी।
शिवपुर–विश्रामी, निजनिधि–पामी, सिद्ध जजामी, सिरनामी॥

ॐ ह्रीं श्रीसिद्धपरमेष्ठिने गोत्रकर्म–विनाशाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा।

श्रीफल अतिभारा, पिस्ता प्यारा, दाख छुआरा, सहकारा।
ऋतु–ऋतु का न्यारा, सत्फलसारा, अपरम्पारा लै धारा॥
त्रिभुवन के स्वामी, त्रिभुवननामी, अन्तरजामी, अभिरामी।
शिवपुर–विश्रामी, निजनिधि–पामी, सिद्ध जजामी, सिरनामी॥

ॐ ह्रीं श्रीसिद्धपरमेष्ठिने आयुकर्म–विनाशाय फलं निर्वपामीति स्वाहा।

जल–फल वसु वृन्दा, अरघ अमंदा, जजत अनन्दा, के कन्दा।
मेटो भवफन्दा, सब दुखदन्दा, 'हीराचन्दा' तुम वन्दा॥
त्रिभुवन के स्वामी, त्रिभुवननामी, अन्तरजामी, अभिरामी।
शिवपुर–विश्रामी, निजनिधि–पामी, सिद्ध जजामी, सिरनामी॥

ॐ ह्रीं श्रीसिद्धपरमेष्ठिने अष्टकर्म–विनाशाय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

जयमाला

(दोहा)

ध्यान–दहन विधि–दारु दहि, पायो पद–निरवान।
पञ्चभाव–जुत थिर थये, नमौं सिद्ध–भगवान्॥ 1॥

(त्रोटक)

सुख–सम्यक्दर्शन–ज्ञान लहा, अगुरुलघु सूक्षम–वीर्य महा।
अवगाह–अबाध अघायक हो, सब सिद्ध नमौं सुखदायक हो॥ 2॥

असुरेन्द्र सुरेन्द्र नरेन्द्र जजैं, भुचरेन्द्र खगेन्द्र गणेन्द्र भजैं।
जर–जामन–मर्ण मिटायक हो, सब सिद्ध नमौं सुखदायक हो॥ 3॥

अमलं अचलं अकलं अकुलं अछलं अरलं अतुलं।

अबलं सरलं शिवनायक हो, सब सिद्ध नमौं सुखदायक हो ॥ 4 ॥

अजरं अमरं अघरं सुधरं, अडरं, अहरं अमरं अधरं।
अपरं असरं सबलायक हो, सब सिद्ध नमौं सुखदायक हो ॥ 5 ॥

वृषवृन्द अमन्द न निन्द लहै, निरदन्द अफन्द सुछन्द रहै।
नित आनन्दवृन्द बधायक हो, सब सिद्ध नमौं सुखदायक हो ॥ 6 ॥

भगवन्त सुसन्त अनन्तगुनी, जयवन्त महन्त नमन्त मुनी।
जगजन्तु-तणों अघघायक हो, सब सिद्ध नमौं सुखदायक हो ॥ 7 ॥

अकलङ्क, अटङ्क शुम्भङ्कर हो, निरडङ्क निशङ्क शिवङ्कर हो।
अभयङ्कर, शङ्कर क्षायक हो, सब सिद्ध नमौं सुखदायक हो ॥ 8 ॥

अतरङ्ग अरङ्ग असङ्ग सदा, भवभङ्ग अभङ्ग उतङ्ग सदा।
सरवङ्ग अनङ्ग-नसायक हो, सब सिद्ध नमौं सुखदायक हो ॥ 9 ॥

ब्रहमण्ड जु मण्डल-मण्डन हो, तिहुँ-दण्ड प्रचण्ड विहण्डन हो।
चिदपिण्ड अखण्ड अकायक हो, सब सिद्ध नमौं सुखदायक हो ॥ 10 ॥

निरभोग सुभोग वियोग-हरैं, निरजोग अरोग अशोक-धरैं।
भ्रमभंजन तीक्षन-सायक हो, सब सिद्ध नमौं सुखदायक हो ॥ 11 ॥

जय लक्ष्य अलक्ष्य सुलक्षक हो, जय दक्षक पक्षक रक्षक हो।
पण अक्ष-प्रतक्ष-खपायक हो, सब सिद्ध नमौं सुखदायक हो ॥ 12 ॥

अप्रमाद अनाद सुस्वादरता, उनमाद विवाद विषादहता।
समता रमता अकषायक हो, सब सिद्ध नमौं सुखदायक हो ॥ 13 ॥

निरभेद अखेद अछेद सही, निरवेद निवेदन वेद नहीं।
सब लोक-अलोक के ज्ञायक हो, सब सिद्ध नमौं सुखदायक हो ॥ 14 ॥

अमलीन अदीन अरीन हने, निजलीन अधीन अछीन बने।
जम कौ घनघात बचायक हो, सब सिद्ध नमौं सुखदायक हो ॥ 15 ॥

न अहार निहार विहार कबै, अविकार अपार उदार सबै।
जगजीवन के मनभायक हो, सब सिद्ध नमौं सुखदायक हो॥ 16॥

असमन्ध अधन्द अरन्ध भये, निरबन्ध अखन्द अगन्ध ठये।
अमनं अतनं निरवायक हो, सब सिद्ध नमौं सुखदायक हो॥ 17॥

निरवर्ण अकर्ण उधर्ण बली, दुःखहर्ण अशर्ण सुशर्ण भली।
बलि मोह की फौज भगायक हो, सब सिद्ध नमौं सुखदायक हो॥ 18॥

अविरुद्ध अक्रुद्ध अजुद्ध प्रभु, अतिशुद्ध प्रबुद्ध समृद्ध विभू।
परमातम पूजन पायक हो, सब सिद्ध नमौं सुखदायक हो॥ 19॥

विररूप चिद्रूप-स्वरूप द्युती, जस-कूप अनूपम-भूप भुती।
कृतकृत्य जगत्त्रय-नायक हो, सब सिद्ध नमौं सुखदायक हो॥ 20॥

सब इष्ट अभीष्ट विशिष्ट हितू, उत्कृष्ट वरिष्ट गरिष्ट मितू।
शिव तिष्ठत सर्व सहायक हो, सब सिद्ध नमौं सुखदायक हो॥ 21॥

जय श्रीधर श्रीधर श्रीवर हो, जय श्रीकर श्रीभर श्रीझर हो।
जय ऋद्धि सुसिद्धि बढ़ायक हो, सब सिद्ध नमौं सुखदायक हो॥ 22॥

(दोहा)

सिद्ध-सुगुण को कहि सकै, ज्यों विलसत नभ-मान।
'हीराचन्द' तातैं जजै, करहु सकल कल्यान॥ 23॥

ॐ ह्रीं श्रीसिद्धपरमेष्ठिने जयमाला-महार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

सिद्ध जजैं तिनको नहि आवैं आपदा, पुत्र-पौत्र धन-धान्य लहैं, सुख सम्पदा।
इन्द्र-चन्द्र-धरणेन्द्र नरेन्द्र जु होयकैं, जावैं मुकति-मँझार करम सब खोयकैं॥ 24॥

(पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

श्रीविद्यमान बीस तीर्थङ्कर पूजन

(दोहा / छन्द)

दीप अढ़ाई मेरु पन, सब तीर्थङ्कर बीस।
तिन सबकी पूजा करूँ, मन–वच–तन धरि शीश॥

ॐ ह्रीं श्री विदेहक्षेत्रस्थविद्यमानविंशतितीर्थङ्करा:! अत्र अवतरत, अवतरत, संवौषट् आह्वाननम्।
ॐ ह्रीं श्री विदेहक्षेत्रस्थविद्यमानविंशतितीर्थङ्करा:! अत्र तिष्ठत तिष्ठत ठः ठः इति स्थापनम्।
ॐ ह्रीं श्री विदेहक्षेत्रस्थविद्यमानविंशतितीर्थङ्करा:! अत्र मम सन्निहितो, भवत भवत वषट् सन्निधिकरणम्।

इन्द्र फणीन्द्र नरेन्द्र वन्द्य पद निर्मल धारी।
शोभनीक संसार सार गुण हैं अविकारी॥
क्षीरोदधि सम नीर सों (हौं) पूजों तृषा निवार।
सीमन्धर जिन आदि दे (स्वामी), बीस विदेह मँझार॥
श्री जिनराज हो भवतारण–तरण जिहाज॥

ॐ ह्रीं श्री विदेहक्षेत्रसम्बन्धिविद्यमानविंशतितीर्थङ्करेभ्यो जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा।

तीन लोक के जीव, पाप–आताप सताये।
तिनको साता–दाता, शीतल–वचन सुहाये॥
बावन चन्दन सौं जजूँ (हौं) भ्रमन तपन निरवार॥ सीम.॥

ॐ ह्रीं श्री विदेहक्षेत्रसम्बन्धिविद्यमानविंशतितीर्थङ्करेभ्य: संसारतापविनाशनाय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा।

यह संसार अपार, महासागर जिनस्वामी।
तातैं तारे बड़ी भक्ति–नौका जगनामी॥
तन्दुल अमल सुगन्धसौं (हौं), पूजूँ तुम गुणसार॥ सीम.॥

ॐ ह्रीं श्री विदेहक्षेत्रसम्बम्धिविद्यमानविंशतितीर्थङ्करेभ्योऽक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा।

भविक–सरोज विकास निन्द्य तमहर–रवि से हो।
जति–श्रावक–आचार कथन को तुमहीं बड़े हो॥

फूल सुवास अनेकसौं (हौं) पूजौं मदनप्रहार॥ सीम. ॥

ॐ ह्रीं श्री विदेहक्षेत्रसम्बन्धिविद्यमानविंशतितीर्थङ्करेभ्यः कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा।

कामनाग विषधाम, नाश को गरुड़ कहे हो।
क्षुधा महादव–ज्वाल, तासु को मेघ लहे हो॥
नेवज बहुघृत मिष्टसौं (हौं) पूजों भूख विडार॥ सीम. ॥

ॐ ह्रीं श्री विदेहक्षेत्रसम्बन्धिविद्यमानविंशतितीर्थङ्करेभ्यः क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा।

उद्यम होन न देत, सर्व जगमाँहिं भर्‍यो है।
मोहमहातम घोर नाश, परकाश कर्‍यो है॥
पूजों दीप प्रकाश सौं (हौं), ज्ञानज्योति करतार॥ सीम. ॥

ॐ ह्रीं श्री विदेहक्षेत्रसम्बन्धिविद्यमानविंशतितीर्थङ्करेभ्यो मोहान्धकारविनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा।

कर्म आठ सब काठ–भार विस्तार निहारा।
ध्यान–अग्नि कर प्रकट सर्व कीनों निरवारा॥
धूप अनूपम खेवतैं (हौं) दुःख जलै निरधार॥ सीम. ॥

ॐ ह्रीं श्री विदेहक्षेत्रसम्बन्धिविद्यमानविंशतितीर्थङ्करेभ्योऽष्टकर्मदहनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा।

मिथ्यावादी दुष्ट लोभऽहंकार भरे हैं।
सबको छिन में, जीत जैन के मेरु खड़े हैं॥
फल अति उत्तम सौं जजौं (हौं) वांछितफल दातार॥ सीम. ॥

ॐ ह्रीं श्री विदेहक्षेत्रसम्बन्धिविद्यमानविंशतितीर्थङ्करेभ्य मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा।

जल फल आठों दरब, अरघ कर प्रीत धरी है।
गणधर इन्द्रनि हूँ तैं थुति पूरी न करी है॥
'द्यानत' सेवक जानके (हौं) जगतैं लेहु निकार॥ सीम. ॥

ॐ ह्रीं श्री विदेहक्षेत्रसम्बन्धिविद्यमानविंशतितीर्थङ्करेभ्योऽनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

जयमाला

(सोरठा / छन्द)

ज्ञान–सुधाकर चन्द्र, भविक खेत हित मेघ हो।
भ्रमतम भान आमन्द, तीर्थङ्कर बीसों नमौं॥ 1 ॥

(चौपाई / छन्द)

सीमन्धर सीमन्धर स्वामी, जुगमन्धर जुगमन्धर नामी।
बाहु बाहुजिन जगजन तारे, करम सुबाहु बाहुबल दारे॥ 2 ॥
जात सुजातं केवलज्ञानं, स्वयंप्रभु प्रभु स्वयं प्रधानं।
ऋषभानन ऋषि–भानन दोषं, अनन्तवीरज वीरज–कोषं॥ 3 ॥
सौरीप्रभ सौरीगुणमालं, सुगुण विशाल विशाल दयालं।
वज्रधार भवगिरि–वज्जर हैं, चन्द्रानन चन्द्रानन–वर हैं॥ 4 ॥
भद्रबाहु भद्रनि के करता, श्री भुजंग भुजंगम हरता।
ईश्वर सबके ईश्वर छाजैं, नेमिप्रभु जस–नेमि विराजैं॥ 5 ॥
वीरसेन वीरं जग जानैं, महाभ्रद महाभद्र बखानैं।
नमों जसोधर जसधरकारी, नमों अजित वीरज–बलधारी॥ 6 ॥
धनुष पाँच सौं काय विराजैं, आयु कोटि पूरब सब छाजैं।
समवसरण–शोभित जिनराजा, भवजल–तारण–तरण जिहाजा॥ 7 ॥
सम्यक्रत्नत्रयनिधि दानी, लोकालोक–प्रकाशक ज्ञानी।
शत इन्द्रनि करि वन्दित सोहैं, सुर नर पशु सबके मन मोहैं॥ 8 ॥

(दोहा)

तुमको पूजैं वन्दना, करै धन्य नर सोय।
'द्यानत' सरधा मन धरै सो भी धरमी होय॥

ॐ ह्रीं श्री विद्यमानविंशतितीर्थङ्करेभ्यो जयमालापूर्णार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्यालन पूजन

तीन लोक के कृत्रिम-अकृत्रिम जिन-चैत्यालय को वन्दन।
ऊर्ध्व-मध्य-पाताललोक के जिनभवनों को करूँ नमन॥
हैं अकृत्रिम आठ कोटि अरु छप्पन लाख परम पावन।
सन्तानवें सहस्र चार सौ इक्यासी गृह मन-भावन॥
कृत्रिम-अकृत्रिम जो असंख्य चैत्यालय हैं उनको वन्दन।
विनयभाव से भक्तिपूर्वक नित्य करूँ मैं जिन-पूजन॥

ॐ ह्रीं त्रैलोक्यस्य कृत्रिम-अकृत्रिमजिनचैत्यालयस्थ जिनबिम्बसमूह! अत्र अवतरत अवतरत संवौषट्।
ॐ ह्रीं त्रैलोक्यस्य कृत्रिम-अकृत्रिमजिनचैत्यालयस्थ जिनबिम्बसमूह! अत्र तिष्ठत ठः ठः।
ॐ ह्रीं त्रैलोक्यस्य कृत्रिम-अकृत्रिमजिनचैत्यालयस्थ जिनबिम्बसमूह! अत्र मम सन्निहितो भवत् भवत् वषट्

सम्यक् जल की निर्मल-उज्जवलता से जन्म-जरा हर लूँ।
मूल धर्म का सम्यक्-दर्शन हे प्रभु! हृदयंगम कर लूँ॥
तीन लोक के कृत्रिम-अकृत्रिम, चैत्यालय वन्दन कर लूँ।
ज्ञान-सूर्य की परम-ज्योति पा, भव-सागर के दुःख हर लूँ॥

ॐ ह्रीं त्रैलोक्यस्य कृत्रिम-अकृत्रिमजिनचैत्यालयस्थ जिनबिम्बेभ्यो! जन्म-जरा-मृत्यु विनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा।

सम्यक् चन्दन की पावन शीतलता से भव-भय हर लूँ।
'वस्तु-स्वभाव धर्म है' सम्यक्-ज्ञान आत्मा में भर लूँ॥ तीन. ॥

ॐ ह्रीं त्रैलोक्यस्य कृत्रिम-अकृत्रिमजिनचैत्यालयस्थ जिनबिम्बेभ्यो! संसारताप विनाशनाय चंदनं निर्वपामीति स्वाहा।

सम्यक्-चारित की अखण्डता से अक्षय-पद आदर लूँ।
साम्यभाव-चारित्र-धर्म पा वीतरागता को वर लूँ॥ तीन. ॥

ॐ ह्रीं त्रैलोक्यस्य कृत्रिम-अकृत्रिमजिनचैत्यालयस्थ जिनबिम्बेभ्यो अक्षयपद प्राप्तये अक्षतं निर्वपामीति स्वाहा।

शीलस्वभावी पुष्प प्राप्तकर काम-शत्रु को क्षय कर लूँ।
अणुव्रत-शिक्षाव्रत-गुणव्रत धर पंच-महाव्रत आचर लूँ।॥ तीन. ॥

ॐ ह्रीं त्रैलोक्यस्य कृत्रिम-अकृत्रिमजिनचैत्यालयस्थ जिनबिम्बेभ्यो कामबाण विध्वंसाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा।

सन्तोषामृत के चरु लेकर क्षुधा-व्याधि को जय कर लूँ।
सत्य-शौच-तप-त्याग-क्षमा से भाव शुभाशुभ सब हर लूँ॥ तीन. ॥

ॐ ह्रीं त्रैलोक्यस्य कृत्रिम-अकृत्रिमजिनचैत्यालयस्थ जिनबिम्बेभ्यो क्षुधारोग विनाशनाय नैवद्यं निर्वपामीति स्वाहा।

ज्ञान-दीप के चिर-प्रकाश से मोह-ममत्व-तिमिर हर लूँ।
रत्नत्रय का साधन लेकर यह संसार पारकर लूँ॥ तीन. ॥

ॐ ह्रीं त्रैलोक्यस्य कृत्रिम-अकृत्रिमजिनचैत्यालयस्थ जिनबिम्बेभ्यो मोहांधकार विनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा।

ध्यान-अग्नि में कर्म-धूप धर अष्ट-कर्म अघ को हर लूँ।
धर्म श्रेष्ठ मङ्गल को पा शिवमय-सिद्धत्व प्राप्तकर लूँ॥ तीन. ॥

ॐ ह्रीं त्रैलोक्यस्य कृत्रिम-अकृत्रिमजिनचैत्यालयस्थ जिनबिम्बेभ्यो अष्टकर्मदहनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा।

भेदज्ञान विज्ञान ज्ञान से केवलज्ञान प्राप्त कर लूँ।
परमभाव-सम्पदा सहज शिव महा-मोक्षफल को वर लूँ॥ तीन. ॥

ॐ ह्रीं त्रैलोक्यस्य कृत्रिम-अकृत्रिमजिनचैत्यालयस्थ जिनबिम्बेभ्यो मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा।

द्वादश-विधि तप-अर्घ्य संजोकर जिनवर-पद-अनर्घ्य वर लूँ।
मिथ्या-अविरति-अरु प्रमाद, कषाय-योग-बन्धन हर लूँ॥ तीन. ॥

ॐ ह्रीं त्रैलोक्यस्य कृत्रिम-अकृत्रिमजिनचैत्यालयस्थ जिनबिम्बेभ्यो अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

जयमाला

इस अनन्त-आकाश बीच में, तीन-लोक है पुरुषाकार।
तीनों 'वातवलय' से वेष्टित, सिन्धु-बीच ज्यों बिन्दु प्रसार॥ 1 ॥

ऊर्ध्वलोक छह, अधो सात हैं, मध्य एक-राजू विस्तार।
चौदह-राजु उतुङ्ग लोक है, त्रसनाड़ी त्रस का आधार॥ 2॥
तीन लोक में भवन अकृत्रिम, आठ-कोटि अरु छप्पन-लाख।
सन्तानवें-सहस्र चार-सौ, इक्यासी जिन-आगम साख॥ 3॥
ऊर्ध्वलोक में कल्पवासियों, के जिन-गृह चौरासी-लक्ष।
सन्तानवें-सहस्र तेईस जिनालय हैं शाश्वत प्रत्यक्ष॥ 4॥
अधोलोक में भवनवास के लाख-बहत्तर करोड़-सात।
मध्यलोक के चार-शतक अट्ठावन चैत्यालय विख्यात॥ 5॥
जम्बू धातकि पुष्करार्ध में पञ्चमेरु के जिनगृह ख्यात।
जम्बू-वृक्ष-शाल्मलि-तरु अरु विजयार्ध के अतिविख्यात॥ 6॥
वक्षारों-गजदन्तों-इष्वाकारों के पावन जिनगेह।
सर्वकुलाचल मानुषोत्तर-पर्वत के वन्दूँ धर नेह॥ 7॥
नन्दीश्वर-कुण्डलवर द्वीप रुचकवर के जिन-चैत्यालय।
ज्योतिष-व्यन्तर स्वर्गलोक अरु भवनवासि के जिनालय॥ 8॥
एक-एक में एक-शतक अरु आठ-आठ जिनमूर्ति-प्रधान।
अष्ट-प्रातिहार्यों वसु-मङ्गलद्रव्यों से अति-शोभावान्॥ 9॥
कुल प्रतिमा नौ-सौ-पच्चीस-करोड़ तिरेपन-लाख महान।
सत्ताईस-सहस्र अरु नौ-सौ-अड़तालीस अकृत्रिम जान॥ 10॥
उन्नत धनुष पाँच-सौ पद्मासन हैं रत्नमयी प्रतिमा।
वीतराग अर्हन्त-मूर्ति की है पावन अचिन्त्य महिमा॥ 11॥
असंख्यात-संख्यात जिनभवन तीन लोक में शोभित हैं।
इन्द्रादिक सुर-नर-विद्याधर-मुनि वन्दनकर मोहित हैं॥ 12॥
देव-रचित या मनुज-रचित हैं भव्यजनों द्वारा वन्दित।
कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्यालय की पूजनकर मैं हूँ हर्षित॥ 13॥

ढाईद्वीप में भूत-भविष्यत-वर्तमान के तीर्थङ्कर।
पञ्चवर्ण के मुझे शक्ति दें मैं निज-पद पाऊँ हे जिनवर॥ 14 ॥
जिन-गुणसम्पत्ति मुझे प्राप्त हो परम-समाधि-मरण हो नाथ।
सकलकर्म क्षय हों प्रभु! मेरे बोधिलाभ हो हे जिननाथ॥ 15 ॥

ॐ ह्रीं त्रैलोक्यस्य कृत्रिम-अकृत्रिमजिनचैत्यालयस्थ जिनबिम्बेभ्यो जयमाला पूर्णार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

(दोहा)

कृत्रिम-अकृत्रिम जिनभवन, भाव-सहित उर-धार।
मन-वच-तन जो पूजते, वे होते भव-पार॥ 16 ॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

उपर्युक्त पूजनों के बाद वेदी में विराजमान मूलनायक तीर्थङ्कर की भी पूजन करनी चाहिए। शेष प्रमुख-पूजनों के 'अर्घ्यं' नीचे 'अर्घ्यावलि' शीर्षक से प्रस्तुत है-

अर्घ्यावलि

(देव-शास्त्र-गुरू का अर्घ्य)

(गीता)

जल परम उज्ज्वल गंध अक्षत, पुष्प चरु दीपक धरूँ।
वर धूप निरमल फल विविध बहु, जनम के पातक हरूँ॥
इह भाँति अर्घ्य चढ़ाय नित भवि, करत शिव-पंकति मचूँ।
अरहंत श्रुत-सिद्धान्त गुरु-निर्ग्रन्थ नित पूजा रचूँ॥
वसु-विधि अर्घ्य संजोयकै, अति-उछाह मन कीन।
जासों पूजों परम पद, देव-शास्त्र-गुरु तीन॥

ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुभ्यो अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

(पंचपरमेष्ठी का अर्घ्य)

जल चन्दन अक्षत पुष्प दीप, नैवेद्य धूप फल लाया हूँ।
अब तक के संचित कर्मों का, मैं पुंज जलाने आया हूँ॥

यह अर्घ्य समर्पित करता हूँ, अविचल अनर्घ्य पद दो स्वामी।
हे पंच परम परमेष्ठी प्रभु, भव दुःख मेटो अन्तर्यामी।
ॐ ह्रीं श्री पंचपरमेष्ठिभ्यो अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

सिद्धपरमेष्ठी का अर्घ्य (संस्कृत)

ज्ञानोपयोगविमलं विशदात्मरूपं, सूक्ष्मस्वभावपरमं यदनन्तवीर्यम्।
कर्मोघकक्षदहनं सुखसय बीजं, वन्दे सदा निरुपमं वरसिद्धचक्रम्॥
कर्माष्टकविनिर्मुक्तं मोक्षलक्ष्मी-निकेतनम्।
सम्यक्त्वादि-गुणोपेतं सिद्धचक्रं नमाम्यहम्॥
ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

चौबीस तीर्थङ्कर का अर्घ्य

जल फल आठों शुचिसार, ताकों अर्घ्य करों।
तुमको अरपों भवतार, भव तरि मोक्ष वरों॥
चौबीसों श्री जिनचन्द, आनन्दकन्द सही।
पद जजत हरत भव-फन्द, पावत मोक्ष मही॥
ॐ ह्रीं श्री वृषभादिवीरांतेभ्यो अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

समुच्चय पूजन का अर्घ्य

अष्टम वसुधा पाने को, कर में ये आठों द्रव्य लिये।
सहज शुद्ध स्वाभाविकता से, निज में निज गुण प्रकट किये॥
यह अर्घ्य समर्पण करके मैं, श्री देव-शास्त्र-गुरु को ध्याऊँ।
विद्यमान श्री बीस तीर्थङ्कर, सिद्ध प्रभु के गुण गाऊँ॥
ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुभ्यो विद्यमानविंशतितीर्थंकरेभ्यः अनन्तानन्त सिद्धपरमेष्ठिभ्यश्च अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

आदिनाथ स्वामी का अर्घ्य

शुचि निरमल नीरं गन्ध सुअक्षत, पुष्प चरु ले मन हरषाय।
दीप धूप फल अर्घ्य सु लेकर, नाचत ताल मृदङ्ग बजाय॥

श्री आदिनाथ के चरणकमल पर, बलि-बलि जाऊँ मन-वच-काय।
हे करुणानिधि! भव-दुःख मेटो, यातैं मैं पूजों प्रभु-पाय॥
ॐ ह्रीं श्रीआदिनाथ-जिनेन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

शान्तिनाथ स्वामी का अर्घ्य

जल-फलादि वसुद्रव्य सँवारे, अर्घ्य चढ़ाऊँ मङ्गल गाय।
'बखत' रतन के तुम ही साहिब, दीजे शिवपुर-राज कराय॥
शान्तिनाथ पंचम-चक्रेश्वर, द्वादश-मदन-तनो पद पाय।
तिनके चरण-कमल के पूजैं, रोग-शोक-दुःख दारिद जाय॥
ॐ ह्रीं श्रीशान्तिनाथ-जिनेन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

शान्तिनाथ स्वामी का अर्घ्य

जल-फलादि वसु द्रव्य-अर्घ्य से, लाभ न कुछ हो पाता है।
जब तक निज-स्वभाव में चेतन, मग्न नहीं हो जाता है॥
नेमिनाथ स्वामी! तुम पद-पंकज की करता हूँ पूजन।
वीतराग-तीर्थंङ्कर तुमको, कोटि-कोटि मेरा वन्दन॥
ॐ ह्रीं श्रीनेमिनाथ-जिनेन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

पार्श्वनाथ स्वामी का अर्घ्य

नीर गन्ध अक्षतं सुपुष्प चारु लीजिए।
दीप-धूप-श्रीफलादि अर्घ्यतैं जजीजिए॥
पार्श्वनाथदेव! सेव आपकी करूँ सदा।
दीजिए निवास-मोक्ष, भूलिए नहीं कदा॥
ॐ ह्रीं श्रीशान्तिनाथ-जिनेन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

महावीर भगवान् का अर्घ्य

इस अर्घ्य का क्या मूल्य है अनर्घ्य-पद के सामने?
उस परम-पद को पा लिया, हे पतित-पावन आपने॥
संतप्त-मानस शान्त हों, जिनके गुणों के गान में।
वे वर्द्धमान महान जिन, विचरें हमारे ध्यान में॥
ॐ ह्रीं श्री वर्द्धमानजिनेन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

पंच-बालयति का अर्घ्य

सजि वसुविधि द्रव्य मनोज्ञ, अर्घ्य बनावत हैं।
वसुकर्म अनादि-संयोग, ताहि नसावत हैं॥
श्री वासुपूज्य-मल्लि-नेमि, पारस वीर अति।
नमूँ मन-वच-तन धरि प्रेम, पाँचों बालयति॥

ॐ ह्रीं श्री वासुपूज्य-मल्लिनाथ-नेमिनाथ-पार्श्वनाथ-महावीरस्वामी पंचबालयति तीर्थंकरेभ्यो: अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

दशलक्षणधर्म का अर्घ्य

आठों दरव सँवार, 'द्यानत' अधिक उछाह सों।
भव-आताप निवार, दशलक्षण पूजौं सदा॥

ॐ ह्रीं श्री उत्तमक्षमादिदशलक्षणधर्मांगाय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

रत्नत्रय का अर्घ्य

आठों दरव निरधार, उत्तम सो उत्तम लिये।
जनम-रोग निरवार, सम्यक् रत्नत्रय भजूँ॥

ॐ ह्रीं श्री सम्यक्रत्नत्रयाय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

सम्यग्दर्शन का अर्घ्य

जल गंधाक्षत चारु, दीप धूप फल फूल चरु।
सम्यग्दर्शन सार, आठ अंग पूजों सदा॥

ॐ ह्रीं श्री अष्टांगसम्यग्दर्शनाय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

सम्यग्ज्ञान का अर्घ्य

जल गंधाक्षत चारु, दीप धूप फल फूल चरु।
सम्यग्ज्ञान विचार, आठ भेद पूजों सदा॥

ॐ ह्रीं श्री अष्टविध-सम्यग्ज्ञानाय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

सम्यक्चारित्र का अर्घ्य

जल गंधाक्षत चारु, दीप धूप फल फूल चरु।
सम्यक् चारितसार, तेरह विधि पूजों सदा॥

ॐ ह्रीं श्री त्रयोदशविधसम्यक्चारित्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

नन्दीश्वर द्वीप का अर्घ्य

यह अरघ कियो निज हेत, अरपतु हों।
'द्यानत' कीज्यो शिवखेत, भूमि समरपतु हों॥
नन्दीश्वर श्री जिनधाम, बावन-पुंज करों।
वसुदिन प्रतिमा अभिराम, आनन्द भाव धरों॥

ॐ ह्रीं श्री नन्दीश्वरद्वीपे पूर्वपश्चिमोत्तरदक्षिणदिक्षु द्विपंचाशज्जिनालयस्थ-जिनप्रतिमाभ्यो अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

पंचमेरु का अर्घ्य

आठ दरबमय अरघ बनाय, 'द्यानत' पूजौं श्रीजिनराय।
महासुख होय, देखे नाथ परम सुख होय॥
पाँचों मेरु असी जिनधाम, सब प्रतिमाजी को करहुँ प्रणाम।
महासुख होय, देखे नाथ परम सुख होय॥

ॐ ह्रीं श्री पंचमेरुसम्बन्धि अशीतिजिन-चैत्यालयस्थ-जिनबिम्बेभ्यो अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

सोलहकारण का अर्घ्य

जल फल आठों दरब चढ़ाय, 'द्यानत' वरत करों मनलाय।
परमगुरु हो, जय-जय नाथ परमगुरु हो॥
दरशविशुद्धि भावना भाय, सोलह तीर्थङ्कर-पद पाय।
परमगुरु हो, जय-जय नाथ परमगुरु हो॥

ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशकारणेभ्यो अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

महार्घ्य

मैं देव श्री अरहंत पूजूँ, सिद्ध पूजूँ चाव सों।
आचार्य श्री उवझाय पूजूँ, साधु पूजूँ भाव सों॥
अरहन्त भाषित बैन पूजूँ, द्वादशांग रची गनी।
पूजूँ दिगम्बर गुरुचरण, शिवहेत सब आशा हनी॥

सर्वज्ञ–भाषित धर्म–दशविधि, दयामय पूजूँ सदा।
जजि भावना–षोडश रत्नत्रय, जा बिनाशिव नहिं कदा॥
त्रैलोक्य के कृत्रिम–अकृत्रिम, चैत्य–चैत्यालय जजूँ।
पंचमेरु–नन्दीश्वर जिनालय, खचर–सुर–पूजित भजूँ॥
कैलाश श्री सम्मेदगिरि, गिरनार मैं पूजूँ सदा।
चम्पापुरी पावापुरी पुनि, और तीरथ शर्मदा॥
चौबीस श्री जिनराज पूजूँ, बीस क्षेत्र विदेह के।
नामावली इक सहस वसु जय, होय पति शिव गेह के॥

(दोहा / छन्द)

जल गंधाक्षत पुष्प चरु, दीप धूप फल लाय।
सर्व पूज्य–पद पूजहूँ, बहुविधि भक्ति बढ़ाय॥

ॐ ह्रीं श्री अरहन्तसिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो, द्वादशांगजिनवाणीभ्यो उत्तमक्षमादिदशलक्षणधर्माय, दर्शनविशुद्धयादिषोडशकारणेभ्यो, सम्यग्दर्शनज्ञान –चारित्रेभ्य: त्रिलोकसम्बन्धीकृत्रिमाकृत्रिमजिनचैत्यालयेभ्यो, पंचमेरौ स्थित अशीति – चैत्यालयेभ्यो, नन्दीश्वरद्वीपस्थद्विपंचाशज्जिनालयेभ्यो, श्री सम्मेदशिखर –गिरनारगिरि–कैलाशगिरि–चम्पापुर–पावापुर आदि सिद्धक्षेत्रेभ्यो, अतिशयक्षेत्रेभ्यो, विदेहक्षेत्रस्थित–सीमंधरादिविद्यमानविंशतितीर्थंकरेभ्यो, ऋषभादिचतुर्विंशति –तीर्थंकरेभ्यो–भगवज्जिन सहस्राष्टनामेभ्यश्च अनर्घ्यपदप्राप्तये महार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

शान्ति-पाठ

शास्त्रोक्त–विधि पूजा–महोत्सव, सुरपति चक्री करैं।
हम सारिखे लघु–पुरुष कैसे, यथाविधि पूजा करैं॥
धन–क्रिया–ज्ञान रहित न जाने, रीत पूजन नाथजी।
हम भक्तिवश तुम चरण आगै, जोड़ लीने हाथजी॥
दु:ख–हरन मंगलकरन, आशा–भरन जिन पूजा सही।

यह चित्त में श्रद्धान मेरे, शक्ति है स्वयमेव ही॥
तुम सारिखे दातार पाये, काज लघु जाचूँ कहाँ।
मुझ आप-सम कर लेहु स्वामी, यही इक वांछा महा॥

संसार भीषण-विपिन में, वसु-कर्म मिल आतापियो।
तिस दाहतैं आकुलित चिरतैं, शान्तिथल कहुँ ना लियो॥
तुम मिले शान्तिस्वरूप, शान्ति-सुकरन-समरथ जगपती।
वसु-कर्म मेरे शान्ति कर दो, शान्तिमय पंचमगती॥

जबलौं नहीं शिव लहूँ, तबलों देह यह नर पावना।
सत्संग शुद्धाचरण श्रुत-अभ्यास आतम-भावना॥
तुम बिन अनंतानंत-काल गयो रुलत जगजाल में।
अब शरण आयो नाथ युगकर, जो-नावत भाल मैं॥

(दोहा)

कर प्रमाण के मानतैं, गगन नपै किहि भन्त।
त्यों तुम गुण-वर्णन करत, कवि पावे नहिं अन्त॥

क्षमापना-पाठ

सम्पूर्ण विधि कर वीनऊँ, इस परम पूजन-पाठ में।
अज्ञानवश शास्त्रोक्त-विधि तैं, चूक कीनों पाठ में॥
सो होऊ पूर्ण समस्त विधिवत्, तुम चरण की शरण तैं।
वन्दूँ तुम्हें कर जोड़ के, उद्धार जामन-मरण तैं॥

आह्वाननं स्थापनं तथा, सन्निधिकरण-विधानजी।
पूजन विसर्जन यथाविधि, जानूँ नहीं गुणखानजी॥
जो दोष लाग्यो सो नसौ, सब तुम चरण की शरण तैं।
वन्दूँ तुम्हें कर जोरि के, उद्धार जामन-मरण तैं।

तुम रहित आवागमन, आह्वानन कियो निज-भाव में।

विधि यथाक्रम निजशक्ति–सम, पूजन कियो अतिचाव में॥
करहूँ विसर्जन भाव ही में, तुम चरण की शरण तैं।
वन्दूँ तुम्हें कर जोरि के, उद्धार जामन–मरण तैं॥

(दोहा)

तीन–भुवन तिहुँ–काल में, तुमसा देव न और।
सुखकारन संकटहरन, नमहूँ–युगल कर जोरि॥

'क्षमापन–पाठ' के बाद माला से जाप करके पुनः प्रदक्षिणा देते समय निम्नलिखित 'भक्ति भावना' पढ़ी जा सकती है।

भक्ति-भावना

नाथ तुम्हारी पूजा में सब स्वाहा करने आया।
तुम जैसा बनने के कारण, शरण तुम्हारी आया॥ टेक॥
पञ्चेन्द्रिय का लक्ष्य करूँ मैं, इस अग्नि में स्वाहा।
इन्द्र–नरेन्द्रों के वैभव की, चाह करूँ मैं स्वाहा॥
तेरी साक्षी से अनुपम मैं यज्ञ रचाने आया॥ 1॥ तुम जैसा.....
जग की मान–प्रतिष्ठा को भी, करना मुझको स्वाहा।
नहीं मूल्य इस मन्द–भाव का, व्रत–तप आदि स्वाहा॥
वीतराग के पथ पर चलने का प्रण लेकर आया॥ 2॥ तुम जैसा.....
अरे! जगत् के अपशब्दों को, करना मुझको स्वाहा।
पर–लक्ष्यी सब ही वृत्ती को, करना मुझको स्वाहा॥
अक्षय–निरंकुश–पद पाने और पुण्य–लुटाने आया॥ 3॥ तुम जैसा.....
तुम हो पूज्य पुजारी–मैं, यह भेद करूँगा स्वाहा।
बस अभेद में तन्मय होना, और सभी कुछ स्वाहा॥
अब पामर भगवान बने, यह सीख सीखने आया॥ 4॥ तुम जैसा.....
नाथ! तुम्हारी पूजा में सब, स्वाहा करने आया।
तुम जैसा बनने के कारण, शरण तुम्हारी आया॥ टेक॥

सामायिक-पाठ भाषा

॥ प्रथम प्रतिक्रमण-कर्म ॥

काल-अनन्त भ्रम्यो जग में सहिये दुःख-भारी।
जन्म-मरण तिन किये पाप को है अधिकारी॥
कोटि भवान्तर-माँहिं मिलन दुर्लभ सामायिक।
धन्य आज मैं भयो योग मिलियो सुखदायक॥1॥

हे सर्वज्ञ जिनेश! किये जे पाप जु मैं अब।
ते सब मन-वच-काय योग की गुप्ति बिना लभ॥
आप समीप हजूर माँहिं मैं खड़ो-खड़ो सब।
दोष कहूँ सो सुनो करो शठ दुःख देहिं जब॥2॥

क्रोध-मान-मद-लोभ-मोह-माया-वशि प्रानी।
दुःखसहित जे किये दया तिनकी नहिं आनी॥
बिना प्रयोजन एकेन्द्रिय-वि-ति-चउ-पंचेन्द्रिय।
आप प्रसादहिं मिटैं दोष जो लग्यो मोहि जिय॥3॥

आपस में इकठौर थापकरि जे दुःख दीने।
पेलि दिए पगतलैं दाबि करि प्राण हरीने॥
आप जगत् के जीव जिते तिन सबके नायक।
अरज करूँ मैं सुनो दोष मेटो दुःखदायक॥4॥

अंजन आदिक चोर महा घनघोर पापमय।
तिनके जे अपराध भये ते क्षमा क्षमा किय॥
मेरे जे अब दोष भये ते क्षमहु दयानिधि।
यह पडिकोणो कियो आदि षट्कर्म-माँहिं विधि॥5॥

॥ द्वितीय प्रत्याख्यान-कर्म ॥

जो प्रमादवशि होय विरोधे जीवन घनेरे।
तिनको जो अपराध भयो मेरे अघ ढेरे॥
सो सब झूठो होऊ जगतपति के परसै।
जा प्रसादतैं मिलैं सर्व सुख-दुःख न लाधै॥ 6॥

मैं पापी निर्लज्ज दयाकरि-हीन महाशठ।
किये पाप अघ ढेर पापमति होय चित्त दुठ॥
निन्दूँ हूँ मैं बार-बार निज-जियको गरहूँ।
सब विधि धर्म-उपाय पाय फिर पापहिं करहूँ॥ 7॥

दुर्लभ है नरजन्म तथा श्रावक-कुल भारी।
सत-संगति संयोग धर्म-जिन श्रद्धा धारी॥
जिन-वचनामृत-धार समावर्तैं जिनवाणी।
तो हू जीव-संहारे धिक्-धिक्-धिक् हम जानी॥ 8॥

इन्द्रिय-लम्पट होय खोय निज-ज्ञान जमा सब।
अज्ञानी जिमि करै तिसि विधि हिंसक ह्वै अब॥
गमनागमन करन्तो जीव विराधे भोले।
ते सब दोष किये निन्दूँ अब मन-वचन तोले॥ 9॥

आलोचन-विधि थकी दोष लागे जु घनेरे।
ते सब दोष विनाश होउ तुमतैं जिन मेरे॥
बार-बार इस भाँति मोह-मद-दोष-कुटिलता।
ईर्षादिकतैं भये निन्दिये जे भयभीता॥ 10॥

(नोट-यहाँ 'आलोचना-पाठ' पढ़ना चाहिए)

॥ तृतीय सामायिकभाव-कर्म ॥

सब जीवन में मेरे समताभाव जग्यो हैं।
सब जिय मो-सम समता राखो भाव लग्यो है॥
आर्त्त-रौद्र द्वय ध्यान छाँडि करिहूँ सामायिक।
संयम मो कब शुद्ध होय यह भावबधायक॥ 11॥

पृथ्वी-जल-अरु अग्नि-आयु चउकाय वनस्पति।
पंचहि थावरमाँहिं तथा त्रस-जीव-वसैं जित॥
बे-इन्द्रिय तिय-चउ-पचेन्द्रिय माँहिं जीव सब।
तिनतैं क्षमा कराउँ मुझ पर क्षमा करो अब॥ 12॥

इस अवसर में मेरे सब सम कंचन अरु तृण।
महल-मसान समान शत्रु अरु मित्रहिं-सम गण॥
जामन-मरण समान जानि हम समता कीनी।
सामायिक का काल जितै यह भाव नवीनी॥ 13॥

मेरो है इक आतम तामें ममत जु कीनो।
और सबै मम भिन्न जानि समतारस भीनो॥
मात-पिता-सुत-बन्धु-मित्र-तिय आदि सबै यह।
मोतैं न्यारे जानि जथारथरूप करयो गह॥ 14॥

मैं अनादि जगजाल-माँहिं फँसि रूप न जाण्यो।
एकेन्द्रिय दे आदि जन्तुको प्राण हराण्यो॥
ते सब जीवसमूह सुनो मेरी यह अरजी।
भव-भव को अपराध छिमा कीज्यो करि मरजी॥ 15॥

॥ चतुर्थ स्तवन-कर्म ॥

नमो ऋषभ-जिनदेव, अजित-जिन जीत कर्म को।
सम्भव भव-दुःखहरण, करण अभिनन्द शर्म को॥
सुमति सुमति-दातार, तार भवसिन्धु पारकर।
पद्मप्रभु पद्माभ, भानि भव-भीति प्रीति-धर॥ 16 ॥

श्री सुपार्श्व कृतपाश, नाश भव जास शुद्धकर।
श्रीचन्द्रप्रभ चन्द्रकान्ति-सम देह-कान्ति धर॥
पुष्पदन्त दमि दोषकोष भवि-पोष रोषहर।
शीतल शीतल-करण हरण भव-ताप दोषहर॥ 17 ॥

श्रेयरूप जिनश्रेय ध्येय नित सेय भव्यजन।
वासुपूज्य शतपूज्य वासवादिक भवभय-हन॥
विमल विमलमति देत अन्तगत हे अनन्तजिन।
धर्म कर्म शिवकरण शान्तिजिन शान्तिविधायिन॥ 18 ॥

कुन्थ कुन्थमुख जीवपाल अरनाथ जालहर।
मल्लि मल्लसम मोहमल्ल-मारन प्रचार धर॥
मुनिसुव्रत व्रतकरण नमत सुरसंघहि नमि जिन।
नेमिनाथ जिन नेमि धर्मरथमाँहि ज्ञानधर॥ 19 ॥

पार्श्वनाथ जिन पार्श्व उपल-सम मोक्ष-रमापति।
वर्द्धमान जिन नमूँ वमूँ भवदु:ख कर्मकृत॥
या विधि मैं जिन संघरूप चौबीस-संख्यधर।
स्तवूँ नमूँ हूँ बार-बार वन्दूँ शिव सुखकर॥ 20 ॥

॥ पञ्चम वन्दना-कर्म ॥

वन्दूँ मैं जिनवीर धीर महावीर सुसन्मति।
वर्द्धमान अतिवीर वन्दिहूँ मन-वच-तन-कृत॥
त्रिशला-तनुज महेशधीश विद्यापति वन्दूँ।
वन्दूँ नितप्रति कनकरूप तनु पाप-निकन्दूँ॥ 21 ॥

सिद्धारथ-नृपनन्द द्वन्द-दुःख-दोष-मिटावन।
दुरित-दवानल ज्वलित-ज्वाल जग-जीव-उधारन॥
कुण्डलपुर-करि जन्म जगत-जिय आनन्द-कारन।
वर्ष-बहत्तर आयु पाय सब ही दुःख-टारन॥ 22 ॥

सप्तहस्त-तनु-तुङ्ग भङ्गकृत-जन्म-मरण-भय।
बालब्रह्ममय ज्ञेय हेय आदेय ज्ञानमय॥
दे उपदेश उधारि तारि भवसिन्धु-जीवघन।
आप बसे शिव-माँहिं ताहि वन्दौं मन-वच-तन॥ 23 ॥

जाके वन्दन-थकी दोष-दुःख दूरहि जावै।
जाके वन्दन-थकी मुक्ति-तिय सन्मुख आवै॥
जाके वन्दन-थकी वन्द्य होंवैं सुरगन के।
ऐसे वीर जिनेश वन्दि हूँ क्रमयुग तिनके॥ 24 ॥

सामायिक षट्कर्ममाँहिं वन्दन यह पञ्चम।
वन्दौं वीर जिनेन्द्र इन्द्रशत-वन्द्य वन्द्य मम॥
जन्म-मरण-भय हरौ, करो अघ-शान्ति शान्तिमय।
मैं अघकोष सुपोष दोष को दोष-विनाशय॥ 25 ॥

॥ षष्ठ कायोत्सर्ग-कर्म ॥

कायोत्सर्ग-विधान करूँ अन्तिम सुखदाई।
काय-त्यजनमय होय काय सब को दुःखदाई॥
पूरब-दक्षिण नमूँ दिशा पश्चिम-उत्तर मैं।
जिनगृह-वन्दन करूँ नमूँ मस्तक करि धरिकैं।
आवर्तादिक क्रिया करूँ मन-वच-मद हरिकैं।
तीन लोक जिन-भवनमाँहिं जिन हैं जु अकृत्रिम॥
कृत्रिम हैं द्वय अर्द्धद्वीपमाँही वन्दौं जिम॥ 27 ॥

आठ-कोडि-परि छप्पन-लाख जु सहस-सत्याणूँ।
चार-शतक पर असी एक-जिनमन्दिर जाणूँ॥
व्यंतर-ज्योतिषि-माँहिं संख्यरहिते जिनमन्दिर।
ते सब वन्दन करूँ हरहु मम पाप-संघकर॥ 28 ॥

सामायिक-सम नाहिं और कोउ बैर-मिटायक।
सामायिक-सम नाहिं और कोउ मैत्रीदायक॥
श्रावक अणुव्रत-आदि अन्त सप्तम-गुणथानक।
यह आवश्यक किये होय निश्चय दुःखहानक॥ 29 ॥

जे भवि आतम-काज करण-उद्यम के धारी।
ते सब काज विहास करो सामायिक सारी॥
राग-द्वेष-मद-मोह-क्रोध-लोभादिक जे सब।
'बुध महाचन्द्र' विलाय जाय तातैं कीज्यो अब॥ 30 ॥

॥ इति सामायिक-पाठ समाप्तम्॥

आलोचना-पाठ

(दोहा / छन्द)

वन्दौं पाँचों परम–गुरु, चौबीसों जिनराज।
करूँ शुद्ध आलोचना, शुद्धिकरन के काज॥ 1॥

(सखीछन्द)

सुनिये जिन अरज हमारी, हम दोष किये अति–भारी।
तिनकी अब निर्वृत्ति–काजा, तुम–सरन लही जिनराजा॥ 2॥

इक–बे–ते–चउ–इन्द्री वा, मनरहित–सहित जे जीवा।
तिनकी नहिं करुणा धारी, निरदई ह्वै घात–विचारी॥ 3॥

समरम्भ–समारम्भ–आरम्भ, मन–वचन–तन–कीने प्रारम्भ।
कृत–कारित–मोदन करिकैं, क्रोधादि–चतुष्टय धरिकैं॥ 4॥

शत आठ जु इमि भेदनतैं, अघ कीने परिछेदनतैं।
तिनकी कहुँ कोलों कहानी, तुम जानत केवलज्ञानी॥ 5॥

विपरीत–एकान्त–विनय के, संशय–अज्ञान–कुनय के।
वश होय घोर अघ कीने, वचतैं नहिं जाय कहीने॥ 6॥

कुगुरुन की सेवा कीनी, केवल अदयाकरि भीनी।
या–विधि मिथ्यात भ्रमायो, चहुँगति–मधि दोष उपायो॥ 7॥

हिंसा पुनि झूठ जु चोरी, पर–वनितासों दृग–जोरी।
आरम्भ–परिग्रह भीनो, पन–पाप जु या विधि कीनो॥ 8॥

सपरस–रसना–घ्रानत को, चखु–कान–विषय–सेवन को।
बहु करम किये मनमाने, कछु न्याय–अन्याय न जाने॥ 9॥

फल पंच–उदम्बर खाये, मधु–माँस–मद्य चित–चाये।
नहिं भेदाभेद न पायो, ज्यों–त्यों–करि उदर भरायो॥ 10॥

दुइबीस–अभख जिन गाये, सो भी निस–दिन भुंजाये।
कछु भेदाभेद न पायो, ज्यों–त्यों–करि उदर भरायो॥ 11॥

अनन्तानु जु बन्धी जानो, प्रत्याख्यान–अप्रत्याख्यानो।
संज्वलन–चौकरी गुनिये, सब भेद जु षोडश सुनिये॥ 12॥

परिहास–अरति–रति–शोक, भय–ग्लानि तिवेद–संयोग।
पनबीस जु भेद भये हम, इनके वश पाप किये हम॥ 13॥

निद्रावश शयन कराई, सुपने–मधि दोष लगाई।
फिर जागि विषय–वन धायो, नानाविध विष–फल खायो॥ 14॥

आहार–विहार–निहारा, इनमें नहिं जतन–विचारा।
बिन देखी धरी–उठाई, बिन शोधी वस्तु जु खाई॥ 15॥

तब ही परमाद सतायो, बहुविधि विकल्प–उपजायो।
कछु सुधि–बुधि नाहिं रही है, मिथ्यामति छाय गयी है॥ 16॥

मरजादा तुम–ढिंग लीनी, ताहूँ में दोष जु कीनी।
भिन–भिन अब कैसैं कहिये, तुम ज्ञानविषैं सब पइये॥ 17॥

हा हा ! मैं दुठ–अपराधी, त्रस–जीवन–राशि विराधी।
थावर की जतन न कीनी, उनमें करुना नहिं लीनी॥ 18॥

पृथिवी बहु खोद कराई, महलादिक जांगा चिनाई।
पुनि बिन गाल्यो जल–ढोल्यो, पंखातैं पवन–विलोल्यो॥ 19॥

हा–हा! मैं अदयाचारी, बहु हरितकाय जु विदारी।
तामधि जीवन के खन्दा, हम खाये धरि आनन्दा॥ 20॥

हा–हा! परमाद–वशाई, बिन देखे अगनि जलाई।
तामधि जे जीव जु आये, ते हू परलोक सिधाये॥ 21॥

बीध्यो अन राति–पिसायो, ईधन बिन–सोधि जलायो।
झाडू ले जाँगा–बुहारी, चिवटी–आदि जीव–बिदारी॥ 22॥

जल–छानि जिवानी कीनी, सो हू पुनि डारि जु दीनी।
नहिं जल–थानक पहुँचाई, किरिया–बिन पाप उपाई॥ 23॥
जल–मल मोरिन गिरवायो, कृमि–कुल बहुघात करायो।
नदियन–विच चीर धुवाये, कोसन के जीव मराये॥ 24॥
अन्नादिक शोध कराई, तामैं जु जीव निसराई।
तिनका नहिं जतन कराया, गलियारैं धूप डराया॥ 25॥
पुनि द्रव्य–कमावन काजै, बहु आरम्भ हिंसा साजै।
किये तिसनावश अघ भारी, करुना नहिं रंच विचारी॥ 26॥
इत्यादिक पाप अनन्ता, हम कीने श्री भगवन्ता।
सन्तति चिरकाल उपाई, वानीतैं कहिये न जाई॥ 27॥
ताको जु उदय अब आयो, नानाविध मोहि सतायो।
फल–भुजंत जिय दुःख पावै, वचतैं कैसें कहि गावै॥ 28॥
तुम जानत केवलज्ञानी, दुःख दूर करो शिवथानी।
हम तो तुम शरण लही है, जिन तारन–विरद सही है॥ 29॥
जो गाँवपती इक होवे, सो भी दुखिया दुःख खोवै।
तुम तीन–भुवन के स्वामी, दुःख मेटहु अन्तरजामी॥ 30॥
द्रोपति को चीर बढ़ायो, सीता–प्रति कमल रचायो।
अंजन से किये अकामी, दुःख मेट्यो अन्तरजामी॥ 31॥
मेरे अवगुन न चितारो, प्रभु अपनो विरद सम्हारो।
सब दोषरहित करि स्वामी, दुःख मेटहु अन्तरजामी॥ 32॥
इन्द्रादिक–पद नहिं चाहूँ, विषयनि में नाहिं लुभाऊँ।
रागादिक–दोष हरीजैं, परमातम निज–पद दीजै॥ 33॥
दोषरहित जिनदेवजी! निज–पद दीज्यो मोय।
सब जीवन के सुख बढ़ैं, आनंद–मंगल होय॥ 34॥
अनुभव–माणिक–पारखी, 'जौहरि' आप जिनन्द।
ये ही वर मोहि दीजिये, चरण–शरन आनन्द॥ 35॥

सामायिक-पाठ (भावना बत्तीसी)

— मूल आचार्य अमितगतिजी
अनु. कविवर 'युगलजी'

प्रेम-भाव हो सब जीवों से, गुणी-जनों में हर्ष प्रभो।
करुणा-स्त्रोत बहे दुःखियों पर, दुर्जन में मध्यस्थ विभो॥ 1॥

यह अनन्तबल-शील आतमा, हो शरीर से भिन्न प्रभो।
ज्यों होती तलवार म्यान से, वह अनन्त-बल दो मुझको॥ 2॥

सुख-दुःख वैरी बन्धु-वर्ग में, काँच-कनक में समता हो।
वन-उपवन प्रासाद-कुटी में, नहीं खेद नहिं ममता हो॥ 3॥

जिस सुन्दरतम-पथ पर चलकर, जीते मोह-मान- मन्मथ।
वह सुन्दर-पथ ही प्रभु! मेरा, बना रहे अनुशीलन-पथ॥ 4॥

एकेन्द्रिय-आदिक प्राणी की, यदि मैंने हिंसा की हो।
शुद्ध-हृदय से कहता हूँ वह, निष्फल हो दुष्कृत्य प्रभो॥ 5॥

मोक्षमार्ग-प्रतिकूल प्रवर्तन, जो कुछ किया कषायों से।
विपथ-गमन सब कालुष मेरे, मिट जावें सद्भावों से॥ 6॥

चतुर-वैद्य विष-विक्षत करता, त्यों प्रभु! मैं भी आदि-उपान्त।
अपनी निन्दा-आलोचन से, करता हूँ पापों को शान्त॥ 7॥

सत्य-अहिंसादिक व्रत में भी, मैंने हृदय-मलीन किया।
व्रत-विपरीत-प्रवर्तन करके, शीलाचरण विलीन किया॥ 8॥

कभी वासना की सरिता का, गहन-सलिल मुझ पर छाया।
पी-पीकर विषयों की मदिरा, मुझमें पागलपन आया॥ 9॥

मैंने छली और मयावी, हो असत्य-आचरण किया।
पर-निन्दा गाली चुगली जो मुँह आया वमन किया॥ 10॥

निरभिमान उज्ज्वल-मानस हो, सदा सत्य का ध्यान रहे।
निर्मल-जल की सरिता-सदृश, हिय में निर्मल-ज्ञान बहे॥ 11॥

मुनि-चक्री-शक्री के हिय में, जिस अनन्त का ध्यान रहे।
गाते वेद-पुराण जिसे वह, परमदेव मम हृदय रहे॥ 12॥

दर्शन-ज्ञानस्वभावी जिसने, सब विकार ही वमन किये।
परम ध्यानगोचर परमातम, परमदेव मम हृदय रहे॥ 13॥

जो भव-दु:ख का विध्वंसक है, विश्व-विलोकी जिसका ज्ञान।
योगी-जन के ध्यानगम्य वह, बसे हृदय में देव महान॥ 14॥

मुक्तिमार्ग का दिग्दर्शक है, जन्म-मरण से परम अतीत।
निष्कलंक त्रैलोकयदर्शि वह, देव रहे मम हृदय-समीप॥ 15॥

निखिल-विश्व के वशीकरण वे, राग रहे ना द्वेष रहे।
शुद्ध अतीन्द्रिय-ज्ञानस्वरूपी, परम-देव मम हृदय रहे॥ 16॥

देख रहा जो निखिल-विश्व को, कर्मकलंक-विहीन विचित्र।
स्वच्छ विनिर्मल निर्विकार वह, देव करे मम हृदय पवित्र॥ 17॥

कर्म-कलंक अछूत न जिसको, कभी छू सके दिव्य प्रकाश।
मोहि-तिमिर को भेद चला जो, परम-शरण मुझको वह आप्त॥ 18॥

जिसकी दिव्य-ज्योति के आगे, फीका पड़ता सूर्यप्रकाश।
स्वयं ज्ञानमय स्वपर-प्रकाशी, परम-शरण मुझको वह आप्त ॥ 19॥

जिसके ज्ञानरूप-दर्पण में, स्पष्ट झलकते सभी पदार्थ।
आदि-अन्त से रहित शान्त-शिव, परमशरण मुझको वह आप्त॥ 20॥

जैसे अग्नि जलाती तरु को, तैसे नष्ट हुए स्वयमेव।
भय-विषाद-चिन्ता सब जिसके, परमशरण मुझको वह देव॥ 21॥

तृण–चौकी–शिल–शैल–शिखर नहिं, आत्म–समाधि के आसन।
संस्तर–पूजा–संघ–सम्मिलन, नहीं समाधी के साधन ॥ 22 ॥

इष्ट–वियोग अनिष्ट–योग में, विश्व मनाता है मातम।
हेय सभी है विश्व–वासना, उपादेय निर्मल–आतम ॥ 23 ॥

बाह्य–जगत् कुछ भी नहिं मेरा, और न बाह्य–जगत् का मैं।
यह निश्चयकर छोड़ बाह्य को, मुक्ति–हेतु नित स्वस्थ रमें ॥ 24 ॥

अपनी निधि तो अपने में है, बाह्य–वस्तु में व्यर्थ प्रयास।
जग का सुख तो मृगतृष्णा है, झूठे हैं उसके पुरुषार्थ ॥ 25 ॥

अक्षय है शाश्वत है आत्मा, निर्मल ज्ञानस्वभावी है।
जो कुछ बाहर है सब पर है, कर्माधीन विनाशी है ॥ 26 ॥

तन से जिसका ऐक्य नहीं, सुत–तिय–मित्रों से कैसे।
चर्म दूर होने पर तन से, रोम–समूह रहें कैसे ॥ 27 ॥

महा–कष्ट पाता जो करता, पर–पदार्थ जड़–देह संयोग।
मोक्षमहल का पथ है सीधा, जड़–चेतन का पूर्ण वियोग ॥ 28 ॥

जो संसार–पतन के कारण, उन विकल्प–जालों को छोड़।
निर्विकल्प निर्द्वन्द्व आत्मा, फिर–फिर लीन उसी में हो ॥ 29 ॥

स्वयं किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते।
करे आप फल देय अन्य तो, स्वयं किये निष्फल होते ॥ 30 ॥

अपने कर्म सिवाय जीव को, कोई न फल देता कुछ भी।
'पर देता है' यह विचार तज, स्थिर हो छोड़ प्रमादी–बुद्धि ॥ 31 ॥

निर्मल सत्य शिवं सुन्दर है, 'अमितगति' वह देव महान।
शाश्वत निज में अनुभव करते, पाते निर्मल पद–निर्वाण ॥ 32 ॥

दीपावली-पूजन सम्बन्धी पाठ

श्री गौतमगणधर-पूजा

जय जय इन्द्रभूति गौतमगणधर स्वामी मुनिवर जय जय,
तीर्थङ्कर श्री महावीर के प्रथम मुख्य-गणधर जय जय।
द्वादशाङ्ग श्रुत पूर्ण-ज्ञानधारी गौतम स्वामी जय जय,
वीरप्रभु की दिव्यध्वनि जिनवाणी को सुनकर हुए अभय।
ऋद्धि-सिद्धि मङ्गल के दाता मोक्षप्रदाता गणधरदेव,
मङ्गलमय शिवपथ पर चलकर मैं सिद्ध बनूँ स्वयमेव॥

ॐ ह्रीं श्री गौतमगणधरस्वामिन्! अत्र अवतरत-अवतरत-संवौषट्।
ॐ ह्रीं श्री गौतमगणधरस्वामिन्! अत्र तिष्ठत तिष्ठत ठः ठः।
ॐ ह्रीं श्री गौतमगणधरस्वामिन्! अत्र मम सिन्नहितो भवत भवत वषट्।

मैं मिथ्यात्व नष्ट करने को, निर्मल-जल की धार करूँ,
सम्यग्दर्शन प्राप्त करूँ अरु, जन्म-मरण भवरोग हरूँ।
गौतम-गणधर स्वामी के, चरणों की मैं करता पूजन,
देव आपके द्वारा भाषित, जिनवाणी को करूँ नमन॥

ॐ ह्रीं श्री गौतमगणधरस्वामिने जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा

पञ्च-पाप अविरति को त्यागूँ, शीतल-चन्दन चरण धरूँ।
भव-आताप नाश करके प्रभु, मैं अनादि भवरोग हरूँ॥ गौ.

ॐ ह्रीं श्री गौतमगणधरस्वामिने संसारतापविनाशनाय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा

पञ्च-पाप नष्ट करने को उज्जवल-अक्षत भेंट करूँ।
अक्षय-पद की प्राप्ति-हेतु प्रभु, मैं अनादि भवरोग हरूँ॥ गौ.

ॐ ह्रीं श्री गौतमगणधरस्वामिने अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा

चार-कषाय अभाव-हेतु मैं, पुष्प-मनोरम भेंट करूँ।
कामबाण विध्वंस करूँ प्रभु, मैं अनादि भवरोग हरूँ॥ गौ.

ॐ ह्रीं श्री गौतमगणधरस्वामिने कामबाणविध्यंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा

मन-वच-काया योग सर्व, हरने को प्रभु नैवेद्य धरूँ।
क्षुधा-व्याधि का नाम मिटाऊँ, मैं अनादि भवरोग हरूँ॥ गौ.
ॐ ह्रीं श्री गौतमगणधरस्वामिने क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा।

सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने को, अन्तर-दीप प्रकाश करूँ।
चिर अज्ञान-तिमिर को नाशूँ, मैं अनादि भवरोग हरूँ॥ गौ.
ॐ ह्रीं श्री गौतमगणधरस्वामिने मोहान्धकारविनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा

मैं सम्यक्चारित्र ग्रहण कर, अन्तर-तप की धूप वरूँ।
अष्ट-कर्म विध्वंस करूँ प्रभु, मैं अनादि भवरोग हरूँ॥ गौ.
ॐ ह्रीं श्री गौतमगधरस्वामिने अष्टकर्मविनाशनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा।

रत्नत्रय का परम मोक्ष-फल, पाने को फल भेंट करूँ।
शुद्ध स्वपद-निर्वाण प्राप्तकर, मैं अनादि भवरोग हरूँ॥ गौ.
ॐ ह्रीं श्री गौतमगणधरस्वामिने मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा

जल-फलादि वसुद्रव्य अर्घ्य, चरणों में सविनय भेंट करूँ।
पद अनर्घ्य सिद्धत्व पाकर, मैं अनादि भवरोग हरूँ॥ गौ.
ॐ ह्रीं श्री गौतमगणधरस्वामिने अनर्घ्यपदप्राप्तयेऽर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

'श्रावण कृष्ण एकम' के दिन, समवसरण में तुम आये,।
मानस्तम्भ देखते ही तो, मान-मोह-अघ गल पाये।
महावीर के दर्शन करते, ही मिथ्यात्व हुआ चकचूर,
रत्नत्रय पाते ही दिव्यध्वनि, का लाभ लिया भरपूर॥
ॐ ह्रीं श्री दिव्यध्वनिप्राप्ताय श्रीगौतमगणधरस्वामिनेऽर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

'कार्तिक कृष्ण अमावस्या' को, कर्म-घातिया करके क्षय,
सायंकाल-समय में पाई, केवलज्ञान-लक्ष्मी की जय।
ज्ञानवरण दर्शनावरणी, मोहनीय का करके अन्त,
अन्तराय का सर्वनाश कर, तुमने पाया पद-भगवन्त॥
ॐ ह्रीं श्री केवलज्ञानप्राप्ताय श्रीगौतमगणधरस्वामिनेऽर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

विचरण करके दुःखी-जगत् के, जीवों का कल्याण किया,
अन्तिम-शुक्लध्यान के द्वारा, योगों का अवसान किया।
देव! बानवे-वर्ष अवस्था में, तुमने पद-निर्वाण लिया,
क्षेत्र 'गुणावा' करके पावन, सिद्ध-स्वरूप महान् लिया॥
ॐ ह्रीं श्रीमोक्षपदप्राप्ताय श्रीगौतमगणधरस्वामिनेऽर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

जयमाला

मगध-देश के गौतमपुर-वासी 'वसुभूति' ब्राह्मण-पुत्र।
माँ 'पृथ्वी' के लाल लाड़ले 'इन्द्रभूति' तुम ज्येष्ठ-सुपुत्र॥
अग्निभूति अरु वायुभूति लघुभ्राता द्वय उत्तम विद्वान।
शिष्य पाँच सौ साथ आपके चौदह-विद्या ज्ञान-निधान॥
शुभ वैशाख शुक्ल दशमी को हुआ वीर को केवलज्ञान।
समवसरण की रचना करके हुआ इन्द्र को हर्ष महान॥
बारह सभा बनी अतिसुन्दर गन्धकुटी के बीच प्रधान।
अन्तरिक्ष में महावीर प्रभु बैठे पद्मासन निज-ध्यान॥
छियासठ दिन हो गए दिव्यध्वनि खिरी नहीं प्रभु की जान।
अवधिज्ञान से लखा इन्द्र ने गणधर की है कमी प्रधान॥
इन्द्रभूति-गौतम पहले गणधर होंगे यह जान लिया।
वृद्ध ब्राह्मण-वेश बना, गौतम के गृह प्रवेश किया॥
पहुँच इन्द्र ने नमस्कार कर किया निवेदन विनमयी।
मेरे गुरु श्लोक सुनाकर मौन हो गए ज्ञानमयी॥
अर्थ-भाव वे बता न पाए वही जानने आया हूँ।
आप श्रेष्ठ-विद्वान् जगत में शरण आपकी आया हूँ॥
इन्द्रभूति-गौतम श्लोक-श्रवण कर मन में चकराए।
झूठा-अर्थ बताने के भी भाव नहीं उर में आए॥
मन में सोचा तीन काल, छः द्रव्य, जीव, षट्लेश्या क्या?

नव पदार्थ, पञ्चास्तिकाय, गति, समिति, ज्ञान व्रत, चारित क्या?
बोले "गुरु के पास चलो, मैं वहीं अर्थ बतलाऊँगा।"
अगर हर्षित हो इन्द्र हृदय में बोला "स्वामी अभी चलें।
शङ्काओं का समाधान कर मेरे मन की शल्य दलें॥"
'अग्निभूति' अरु 'वायुभूति' दोनों भ्राता सङ्ग लिए जभी।
शिष्य पाँच सौ सङ्ग ले गौतम साभिमान चल दिए तभी॥
समवसरण की सीमा में जाते हुआ गलित-अभिमान।
प्रभु-दर्शन करते ही पाया सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान॥
तत्क्षण सम्यक्चारित धारा मुनि बन गणधर-पद पाया।
अष्ट-ऋद्धियाँ प्रगट हो गई ज्ञान-मनःपर्यय छाया॥
खिरने लगी दिव्यध्वनि प्रभु की परम-हर्ष उर में आया।
कर्म नाशकर मोक्ष-प्राप्ति का यह अपूर्व-अवसर पाया॥
ओंकारध्वनि मेघगर्जना-सम होती है गुणशाली।
द्वादशांगवाणी तुमने अन्तर्मुहूर्त में रच डाली॥
दोनों भ्राता शिष्य पाँच सौ ने मिथ्यात्व तभी हरकर।
हर्षित हो जिन-दीक्षा ले ली दोनों भ्रात हुए गणधर॥
'राजगृही' के 'विपुलाचल' पर प्रथम-देशना मङ्गलमय।
महावीर-सन्देश विश्व ने सुना शाश्वत शिख-सुखमय॥
इन्द्रभूति, श्रीअग्निभूति, श्रीवायुभूति, शुचिदत्त, महान्।
श्री सुधर्म, माण्डव्य, मौर्यसुत, श्री अकम्प, अति ही विद्वान्॥
अचल और मेदार्य प्रभास, यही ग्यारह गणधर गुणवान्।
महावीर के प्रथम-शिष्य तुम हुए मुख्य-गणधर भगवान्॥
छह-छह घड़ी दिव्यध्वनि खिरती चार समय नित मङ्गलमय।
वस्तुतत्त्व उपदेश प्राप्त कर भव्य-जीव होते निजमय॥
तीस वर्ष रह समवसरण में गूँथा श्री जिनवाणी को।

देश-देश में कर विहार फैलाया श्री जिनवाणी को॥
कार्तिक कृष्ण अमावस प्रातः महावीर-निर्वाण हुआ।
सन्ध्याकाल तुम्हें भी पावापुर में केवलज्ञान हुआ॥
ज्ञान-लक्ष्मी तुमने पाई और वीर-प्रभु ने पद-निर्वाण।
दीपमालिका-पर्व विश्व में तभी हुआ प्रारम्भ महान॥
आयु पूर्ण हुई आपकी योग-नाश निर्वाण लिया।
धन्य हो गया क्षेत्र 'गुणावा' देवों ने जयगान किया॥
आज तुम्हारे चरण-कमल के दर्शन पाकर हर्षाया।
रोम-रोम पुलकित है मेरे भव का अन्त निकट आया॥
मुझको भी प्रज्ञा-छैनी दो मैं निज-पर में भेद करूँ।
भेदज्ञान की महाशक्ति से दुःखदायी भव-भेद हरूँ॥
पद-सिद्धत्व प्राप्त करके मैं पास तुम्हारे आ जाऊँ।
तुम समान बन शिव-पद पाकर सदा-सदा को मुस्काऊँ॥
जय जय गौतम-गणधर स्वामी अभिरामी अन्तरयामी।
पाप-पुण्य परभाव-विनाशी मुक्ति-निवासी सुखधामी॥

ॐ ह्रीं श्रीगौतमगधरस्वामिनेऽर्घ्यं महार्घ्य निर्वपामीति स्वाहा।

गौतम-स्वामी के वचन भाव-सहित उर-धार।
मन-वच-तन जो पूजते वे होते भव-पार॥

महावीराष्टकस्तोत्रम्

(शिखरिणी छन्द)

यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावाश्चिदचितः,
समं भान्ति ध्रौव्य-व्यय-जन-लसन्तोऽन्तरहिताः।
जगत्साक्षी-मार्ग-प्रकटन-परो भानुरिव यो,
महावीर-स्वामी नयनपथ-गामी भवतु मे॥ 1॥

अताम्रं यच्चक्षुः कमल-युगलं स्पन्द-रहितं,
जनान्कोपापायं प्रकटयति वाभ्यन्तरमपि।
स्फुटं मूर्तिर्यस्य प्रशमितमयी वातिविमला,
महावीर-स्वामी नयनपथ-गामी भवतु मे॥ 2॥

नमन्नाकेन्द्राली-मुकुट-मणि-भा-जाल-जटिलं,
लसत्पादाम्भोज-द्वयमिह यदीयं तनुभृताम्।
भवज्वाला-शान्त्यै प्रभवति जलं वा स्मृतिमपि,
महावीर-स्वामी नयनपथ-गामी भवतु मे॥ 3॥

यदर्चा-भावेन प्रमुदित-मना दर्दुर इह,
क्षणादासीत्स्वर्गी गुण-गण-समृद्धः सुखनिधिः।
लभन्ते सद्भक्ताः शिव-सुख-समाजं किमु तदा,
महावीर-स्वामी नयनपथ-गामी भवतु मे॥ 4॥

कनत्स्वर्णाभासोऽप्यपगत-तनुर्ज्ञान-निवहो,
विचित्रात्माप्येको नृपति-वर-सिद्धार्थ-तनयः।
अजन्मापि श्रीमान् विगत-भव-रागोऽद्भुत-गतिः,
महावीर-स्वामी नयनपथ-गामी भवतु मे॥ 5॥

यदीया वाग्गंगा विविध-नय-कल्लोल विमला,
वृहज्ज्ञानाम्भोभि-जगति जनतां या स्नपयति।
इदानीमप्येषा, बुध-जन-मरालैः परिचिता,
महावीर-स्वामी नयनपथ-गामी भवतु मे॥ 6॥

अनिर्वारोद्रेकस्-त्रिभुवनजयी काम सुभटः,
कुमारावस्थायामपि निज-बलाद्येन विजितः।
स्फुरन्-नित्यानन्द-प्रशम-पद-राज्याय स जिनः,
महावीर-स्वामी नयनपथ-गामी भवतु मे॥ 7॥

महा-मोहान्तक-प्रशमन-पराकस्मिक-भिषङ् ,
निरापेक्षो बन्धु-र्विदित-महिमा मंगलकरः।
शरण्यः साधूनां भव-भयभृतामुत्तमगुणो,
महावीर-स्वामी नयनपथ-गामी भवतु मे॥ 8॥

(अनुष्टुभ् छन्द)

महावीराष्टकं स्तोत्रं, भक्तया 'भागेन्दुना' कृतम्।
यः पठेच्छृणुयाच्चापि, स याति परमां गतिम्॥ 9॥

विवाहविधि-सम्बन्धी प्रमुख-पाठ एवं निर्देश

विवाह के वर्तमान प्रचलित सामाजिक प्रारूपों में (क्षेत्रीय समाजों व जातियों की अपनी-अपनी परम्पराओं को छोड़कर) सामान्यरूप से तीन आवश्यक कार्य होते हैं – 1. वाग्दान या सगाई 2. लग्नपत्रिका का लेखन और भेजना, 3. सप्तपदी-विवाहविधि। इनमें की जानेवाली विधियाँ व उनके पाठ इस प्रकार हैं –

1. वाग्दान या सगाई – वर एवं कन्या के पारस्परिक चयन के उपरान्त वर-कन्या के पिता समाज के प्रमुखजनों के बीच एक दूसरे के साथ वचनबद्ध होते हैं कि "आपकी पुत्री का मेरे पुत्र के साथ/मेरी पुत्री का आपके पुत्र के साथ विवाह किए जाने का हम संकल्पपूर्वक वचन देते हैं।"– यही 'वाग्दान' है।

इन कार्यविधि में सौभाग्यवती-स्त्रियों द्वारा मङ्गल-गीत गाए जाते हैं, मङ्गलध्वनिवाले वाद्ययन्त्र बजाए जाते हैं तथा 'मङ्गलाष्टक' पढ़कर दोनों पक्षों के प्रमुख रिश्तेदार दोनों कुलों की गौरवशाली-परम्परा का उल्लेख करते हुए उस वचनबद्धता को कहते हुए समाज के प्रमुखजनों से उसकी अनुमतिपूर्वक एक-दूसरे पक्ष को 'श्रीफल, हल्दी, सुपारी व सवा रुपया' देकर सम्बन्ध पक्का करते हैं। यही वाग्दान या सगाई की विधि है।

2. लग्नपत्रिका-लेखन – इसके तीन प्रमुख अङ्ग हैं, 1. लग्नपत्रिका लिखना, फिर उसे एक दूसरे के यहाँ भेजना और फिर दोनों पक्षों के लोगों द्वारा अपने-अपने नगरों के समाजप्रमुखों के बीच पढ़ा जाना। (यह कार्य आजकल सुविधा की दृष्टि से एक ही जगह एक कार्यक्रम के रूप में भी किया जाने लगा है।)

लग्नपत्रिका में विवाह-सम्बन्धी कार्यक्रमों की तिथियों आदि के विवरण के साथ-साथ इसके लिए सन्देश एवं सम्बन्ध की प्रशस्तियाँ आदि अंकित रहती हैं।

लग्नपत्रिका–लेखन के दिन कन्या परिवारजनों एवं सम्बन्धियों के साथ सौभाग्यवती–स्त्रियों के मङ्गलगान एवं मङ्गलवाद्य–ध्वनिपूर्वक पैदल जाकर जिनमन्दिर में देवदर्शन करती है। फिर लग्नपत्रिका लेखन–स्थल पर समाज–प्रमुखों व सम्बन्धियों के बीच कन्या को अपेक्षित वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर चौक (मङ्गलाकृति) बनाकर उस पर पाटा रखकर उस पाटे पर बिठाते हैं तथा मङ्गलाष्टक–देवशास्त्र–गुरुपूजा, सिद्धपूजा एवं विनायक–यन्त्र पूजा (पंचपरमेष्ठी–पूजन) करते हैं। फिर कन्या को तिलक करके लग्नपत्रिका लिखी जाती है। इस विधि में चौकी पर मङ्गलकलश (जल से भरा हुआ) स्थापित करके फिर पत्रिका लिखी जाती है।

लग्नपत्रिका का प्रारूप निम्नानुसार है–

श्री शुभ–विवाह लग्न–पत्रिका

॥ श्री ऋषभदेवाय नमः ॥

श्रीमानस्मान् वितरतु सदा, आदिनाथ प्रियार्थं,
श्रेयोलक्ष्मी क्षितिपतिगणैः सादरं स्तूयमानां।
भर्तुर्यस्ते स्मरणकरणात्ते तेऽपि सर्वे विवस्वन्
मुख्याखेटा ददतु कुशलं सर्वदा देहभाजाम्॥
वंशो विस्तारतां यातु कीर्तिर्यातु दिगन्तरे।
आयुर्विपुलतां यातु यस्यैषा लग्न–पत्रिका॥
यावन्मेरुर्धरापीठे यावच्चन्द्र–दिवाकरौ।
तावन्नन्दतु बालोऽयं यस्यैषा लग्न–पत्रिका॥

श्री ऋषभाय नमः। अथ श्रीशुभ–सम्वत्सरे वीरनिर्वाण–संवत्सरे–25..... तत्र........चैत्रादौ गुरूमानेन................नाम सम्वत्सरे श्री सूर्ये............ यणे............ऋतौ............श्रीमहामांगल्यप्रदे मासोत्तमे.............मासे शुभे............पक्षे..............तिथौ.............वासरे........मण्डपाच्छादनं

शुभं। पुनः.........मासे शुभे.............पक्षे..............तिथौ................ वासरे वरयात्रायाः (बारात) आगमनं विनायक (सिद्ध) यन्त्र-पूजा, द्वारोत्सवश्च शुभम्। पुनः..................मासे शुभे..........तिथौ............. वासरे जिनगृह-वन्दनम् गीतमांगल्यादिकं शुभम्। वर-वध्वौ चिरंजीविनी भूयास्ताम्।

मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥

लग्नपत्रिका-लेखन के उपरान्त 'मङ्गलाष्टक' पढ़ते हुए उस लग्नपत्रिका के ऊपर हल्दी गाँठ, सुपारी, पीले चावल और सवा रुपया रखकर पंचरंगे कलावे से बाँधकर एक थाली में रखें तथा कन्या के हाथों से उसका स्पर्श करते हैं। फिर ससम्मान उसे समाज-प्रमुखों को सौंप देते हैं। बाद में अभिभावक सिद्धयन्त्र-पूजा करके माङ्गलिक-भेटों के साथ वह लग्नपत्रिका किसी विश्वस्त-व्यक्ति के साथ वर के पिता के पास भेजी जाती है।

भेजे जाने के बाद वर के घर पर लग्नपत्रिका के पढ़े जाने की विधि सम्पन्न की जाती है। इस विधि के अन्तर्गत वर के परिवारजन विनायकयन्त्र-पूजा/पंचपरमेष्ठी-पूजन करके फिर आत्मीयजनों व सम्बन्धियों को एकत्रित कर उनके मध्य लग्नपत्रिका पढ़ते हैं। पढ़ने के पूर्व चौकी पर 'मङ्गलकलश' स्थापित किया जाता है, 'मङ्गलाष्टक' पढ़ा जाता है और वर को तिलक लगाकर वधू-पक्ष से आयी भेंट-सामग्री देकर वह लग्न-पत्रिका दी जाती है। वर उस लग्न-पत्रिका को समाज के प्रमुखजनों को सौंप देता है।

तदुपरान्त वर के पिता, परिवारजन उस लग्नपत्रिका को पढ़कर उपस्थित जनसमुदाय को सुनाते हैं और फिर उस लग्नपत्रिका लानेवाले का यथोचित सम्मान कर उसे विदा करते हैं।

3. सप्तपदी विवाहविधि- इसमें बहुत से कार्य तो अपने-अपने क्षेत्र की समाज की रूढ़ि के अनुसार होते हैं। जो सर्वत्र अनिवार्य एवं सामान्य हैं, वे ही इस पुस्तक के परिशिष्ट में पाठों के साथ दिए गए हैं। शेष-कार्य जो क्षेत्रीय व समाज/जाति-विशेष की परम्पराओं के हैं, वे अपने विवेक के अनुसार **अहिंसक एवं मिथ्यात्व न बढ़ानेवाली विधि से किए जाने चाहिये।** यहाँ पर विशेष ध्यातव्य है कि **पूजन, सप्तपदी आदि विवाह विधि के दिन में सूर्य के प्रकाश रहते पूरी धार्मिक पवित्रता व मर्यादा के साथ की जाए।**

यदि विनायकयन्त्र लाते हैं, तो उसकी पूर्ण शुद्धि की ध्यान रखा जाए अन्यथा वेदी पर मात्र जिनवाणी व मङ्गलकलश स्थापित करके ही पूजा व सप्तपदी-विधि सम्पन्न की जाए। (यह विवरण संहितासूरि पण्डित नाथूलालजी शास्त्री की पुस्तक से लिया गया है। इसमें मात्र अग्नि-हवन का संशोधन है।)

जब वर-वधू विवाह मण्डप में आते हैं, तब 'मङ्गलाष्टक' बोलकर परस्पर वरमाला पहनाई जाती है, उसी का मुहूर्त्त माना जाता है। इस प्रक्रिया में पहले वधू-पक्ष के दरवाजे पर कन्या की माता चावल को छोटा-सा चौक पूरकर पाटा रखे और उस पर वर के पैर जल से धोवे, फिर आरती करे। कन्या का मामा वर का तिलक कर एक रुपया व श्रीफल भेंटकर अपने साथ में वेदी पर लाकर आसन पर खड़ा कर दे। बाद में कन्या को भी लाकर वर के सामने खड़ा कर दें। वर और कन्या को एक-एक पुष्प-हार दे दें। ध्यान रखें कि वर और कन्या के मुँह में इस समय जूठा न हो और न ही वे जूते, चप्पलें, जुराबें पहिने वेदी में आवे। गृहस्थाचार्य 'मङ्गलाष्टक' पढ़े और नियत मुहूर्त में कन्या वर को और वर कन्या को पुष्पमाला पहना दे। इसके बाद दोनों आसानों पर बैठ जावें, कन्या वर के दाहिनी ओर रहे। गृहस्थाचार्य वर से 'मङ्गलकलश' स्थापन करावे। कलश में शुद्ध जल, सुपारी,

हल्दी गाँठ, सवा रुपया और पुष्प डालकर श्रीफल व लाल कपड़े से ढँककर मौली से बाँधे और सूत की माला पहनावें।

मङ्गलकलश स्थापनमन्त्र

ॐ अद्य भगवतो महापुरुषस्य श्रीमदादिब्रह्मणो मतेऽस्मिन् विधीयमाने विवाहकर्मणि.............वीर-निर्वाण-संवत्सरे.............तिथौ.............दिने, शुभलग्ने, भूमिशुद्धयर्थं, पात्रशुद्धयर्थं, क्रियाशुद्धयर्थं, शान्तत्यर्थं, पुण्याहवाचनार्थं शुद्ध-प्रासुकतीर्थ-जलपूरित मङ्गलकलशस्थापनं करोमि क्ष्वीं क्ष्वीं हं सः स्वाहा।

नोट- इसे पुण्यावाचन-कलश भी कहते हैं।

इसके बाद 'मङ्गलाष्टक' पढ़कर पूज-प्रारम्भविधि करें। इसके अन्तर्गत 'पूजा-पीठिका' की पूरी सामग्री के साथ 'देव-शास्त्र-गुरु-पूजन' का अर्घ्य चढ़ाने के बाद आगे दी गयी 'विनायक-यन्त्र पूजा' पढ़नी चाहिए।

नवदेव-पूजन

अरिहन्त-सिद्ध-साधु-त्रितयं, जिनधर्म-बिम्ब-वचनानि।
जिन-निलयान्नवदेवान्, संस्थापये भावतो नित्यम्॥

ॐ ह्रीं श्रीनवदेवेभ्यः पुष्पांजलिं-क्षिपामि।

ये घाति-जाति-प्रतिघात-जातं शक्राद्यलंघ्यं जगदेकसारम्।
प्रपेदिरेऽनन्तचतुष्टयं तान्, यजे जिनेन्द्रान्निह कर्णिकायाम्।

ॐ ह्रीं श्रीअर्हत्परमेष्ठिने अर्घ्यम्॥ 1॥

निःशेष-बन्धक्षय-लब्धशुद्ध-बुद्धस्वभावन्निजसौख्यवृद्धान्।
प्रपेदिरेऽनन्तचतुष्टयं तान्, यजे जिनेन्द्रान्निह कर्णिकायाम्।

ॐ ह्रीं श्रीसिद्धपरमेष्ठिने अर्घ्यम्॥ 2॥

ये पञ्चधाचारमरं मुमुक्षूनाचारयन्ति स्वयमाचरन्तः।
अभ्यर्चये दक्षिणदिग्तले तानाचार्यवर्यान्स्वपरार्थचर्यान्।।

ॐ ह्रीं श्रीआचार्यपरमेष्ठिने अर्घ्यम्॥ 3॥

येषामुपान्त्यं समुपेत्य शास्त्राण्यधीयते मुक्तिकृते विनेयाः।
अपश्चिमान्पश्चिमदिग्दलेऽस्मिन् नमूनुपाध्याय-गुरून्महामि।

ॐ ह्रीं श्रीउपाध्यायपरमेष्ठिने अर्घ्यम्॥ 4॥

ध्यानैकतानानबहिः प्रचारान्, सर्व सहान्निवृत्ति-साधनार्थं।
संपूजयाम्युत्तरदिग्दलेस्मिन्, साधूनशेषान् गुणशील-सिंधून्॥

ॐ ह्रीं श्रीसाधुपरमेष्ठिने अर्घ्यम्॥ 5॥

आराधकानभ्युदये समस्तान्निःश्रेयसे वा धरति ध्रुवं यः।
तं धर्ममाग्नेयविदिग्दलांते, संपूजये केवलिनोपदिष्टम्॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनधर्माय अर्घ्यम्॥ 6॥

सुनिश्चितासम्भव बाधकत्वात्, प्रमाणभूतं सनयप्रमाणम्।
यजे हि नानाष्टकभेदवेदं, मत्यादिकं नैर्ऋत-कोणपत्रे॥

ॐ ह्रीं श्री जिनागमाय अर्घ्यम्॥ 7॥

व्यपेत-भूषायुध-वेशदोषानुपेत-निःसंगतयार्द्रमूर्तीन्।
जिनेन्द्र-बिम्बान्भुवनत्रयस्थान्, समर्चये वायुविदिग्दलेऽस्मिन्॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनबिम्बेभ्यः अर्घ्यम्॥ 8॥

शालत्रयान्सद्मनि केतुमान, स्तम्भालयान्मंगल-मंगलाढ्यान्।
गृहान् जिनानामकृतान् कृतांश्च, भूतेश-कोणस्थदले यजामि॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनचैत्यालयेभ्यः अर्घ्यम्॥ 9॥

मध्ये कर्णिकमर्हदार्यमनघं बाह्योऽष्टपत्रोदरे।
सिद्धान् सूरिवरांश्च पाठकगुरून् साधूंश्च दिक्पत्रगान्॥
सद्धर्मागमगम-चैत्य-चैत्यनिलयान् कोणस्थ दिक्पत्रगान्।
भक्तया सर्व सुरासुरेन्द्र-महितान् तानष्टधेष्ट्या यजे॥ 10॥

ॐ ह्रीं श्रीअर्हदादिनवदेवेभ्यः पूर्णार्घ्यम्॥ 10॥

(नोट- विवाह में मन्दिरजी जैसी शुद्धतापूर्वक पूजा नहीं हो पाती, अतः स्थापना नहीं की जा रही है।)

विनायकयन्त्र पूजा

परमेष्ठि्न! जगत्त्राण! करणे मंगलोत्तम।
इतः शरण! तिष्ठ त्त्वं, सन्निधौ भव पावन॥

ॐ ह्रीं श्रीअसिआउसा मंगलोत्तमशरणभूतेभ्यः पुष्पांजलिं-क्षिपामि

पंकेरुहायत-पराग-पुञ्जैः, सौगन्ध्यमद्भिः सलिलैः पवित्रैः।
अर्हत्पदाभाषित-मंगलादीन्, प्रत्यहूनाशार्थमहं यजामि॥

ॐ ह्रीं श्री मंगलोत्तमशरणभूतेभ्यः पंचपरमेष्ठिभ्यो जलम्॥ 1॥

काश्मीर-कर्पूर-कृतद्रवेण, संसार-तापापहृतौ युतेन। अर्ह.

ॐ ह्रीं श्रीमंगलोत्तमशरणभूतेभ्यः पंचपरमेष्ठिभ्यो चंदनम्॥ 2॥

शाल्यक्षतैरक्षत-मूर्तिमद्भिरब्जादिवासेन सुगन्धमद्भिः। अर्ह.

ॐ ह्रीं श्रीमंगलोत्तमशरणभूतेभ्यः पंचपरमेष्ठिभ्यो अक्षतान्॥ 3॥

कदम्ब-जात्यादि-भवैः सुरद्रुमै, र्जतैर्मनोजात-विपाशदक्षैः। अर्ह.

ॐ ह्रीं श्रीमंगलोत्तमशरणभूतेभ्यः पंचपरमेष्ठिभ्यो पुष्पम्॥ 4॥

पीयूषपिंडैश्च शशांककांति-स्पर्द्धभरिष्टैर्नयनप्रियैश्च। अर्ह.

ॐ ह्रीं श्रीमंगलोत्तमशरणभूतेभ्यः पंचपरमेष्ठिभ्यो नैवेद्यम्॥ 5॥

ध्वस्तान्धकार-प्रसरैः सुदीपैर्घृतोद्भवै-रत्नविनिर्मितैर्वा। अर्ह.

ॐ ह्रीं श्रीमंगलोत्तमशरणभूतेभ्यः पंचपरमेष्ठिभ्यो दीपं॥ 6॥

स्वकीय-धूमेन नभोवऽकाश व्यापद्भिरुद्यैश्च सुगन्धपैः। अर्ह.

ॐ ह्रीं श्रीमंगलोत्तमशरणभूतेभ्यः पंचपरमेष्ठिभ्यो धूपं॥ 7॥

नारंग-पूगादि-फलैरनर्घ्यै-र्हन्मानसादि-प्रियतर्पकैश्च। अर्ह.

ॐ ह्रीं श्रीमंगलोत्तमशरणभूतेभ्यः पंचपरमेष्ठिभ्यो फलं॥ 8॥

अंभश्चन्दन-नन्दनाक्षत-तरूद्भूतैनिवेद्यैर्वरै।
र्दीपैर्धूप-फलोत्तमैः समुदितैरेभिः सुपात्रस्थितैः॥
अर्हत्सिद्ध-सुसूरि-पाठक-मुनीन्, लोकोत्तमान्मंगलान्।
प्रत्यूहौघनिवृत्तये शुभकृतः सेवे शरण्यानहम्॥

ॐ ह्रीं श्रीमंगलोत्तमशरणभूतेभ्यः पंचपरमेष्ठिभ्योऽर्घ्यं॥ 9॥

प्रत्येक-पूजनम्

कल्याण-पंचक-कृतोदयमाप्तमीश-
मर्हन्तमच्युत-चतुष्टय-भासुरांगम्।
स्याद्वाद-वागमृत-सिन्धुशशांक-कोटि-
मर्चे जलादिभिरनंतगुणालयं तम्॥ 1॥

ॐ ह्रीं श्रीअनन्तचतुष्टय-समवशरणादिलक्ष्मी-विभ्रतेऽर्हत्परमेष्ठिने अर्घ्यम्।

कर्माष्टकेध्म चयमुत्पथ-माशु हुत्वा,
सद्ध्यान-वह्निविसरे स्वयमात्मवन्तम्।
निःश्रेयसामृतसरस्यथ सन्निनाय,
तं सिद्धमुच्चपददं परिपूजयामि॥ 2॥

ॐ ह्रीं श्री अष्टकर्मकाष्ठगणभस्मीकृतेसिद्धपरमेष्ठिनेऽर्घ्यम्।

स्वाचार-पंचकमपि स्वयमाचरन्ति,
ह्याचारयन्ति भविकान्निजशुद्धि-भाजः।
तानर्चयामि विविधैः सलिलादिभिश्च
प्रत्यूहनाशनविधौ निपुणान् पवित्रैः॥ 3॥

ॐ ह्रीं श्रीपंचाचारपरायणाय आचार्यपरमेष्ठिनेऽर्घ्यम्।

अंगांग-बाह्यपरिपाठन-लालसाना-
मष्टांगज्ञान-परिशीलन-भावितानाम।
पादारविन्द-युगलं खलु पाठकानाम्।
शुद्धैर्जलादि-वसुभिः परिपूजयामि॥ 4॥

ॐ ह्रीं श्रीद्वादशांगपठनपाठनोद्यताय उपाध्यायपरमेष्ठिनेऽर्घ्यम्।

आराधना-सुखविलास-महेश्वराणाम्,
सद्धर्म्म-लक्षणमयात्म-विकस्वराणाम्।
स्तोतुं गुणान् गिरिवनादि-निवासिनां वै,
एषोऽद्यतच्चरण-पीठभुवं यजामि॥ 5॥

ॐ ह्रीं श्रीत्रयोदशप्रकारचारित्राराधक-साधुपरमेष्ठिनेऽर्घ्यम्।

अर्हन्मंगलमर्चामि, जगन्मंगलदायकम्।
प्रारब्धकर्मविघ्नौघ-प्रलमाय पयोमुखम्॥ 6॥

ॐ ह्रीं श्रीअर्हन्मंगलायार्घ्यम्।

चिदानन्द-लसद्वीचि-मालिनं गुणशालिनम्।
सिद्ध-मंगलमर्चेऽहं, सलिलादिभिरुज्ज्वलैः॥ 7॥

ॐ ह्रीं श्रीसिद्धमंगलायार्घ्यम्।

बुद्धि-क्रिया-रस-तपो-विक्रियौषधि-मुख्यकाः।
ऋद्धयो यं न मोहन्ति, साधुमंगलमर्चये॥ 8॥

ॐ ह्रीं श्रीसाधुमंगलायार्घ्यम्।

लोकालोक-स्वरूपं-प्रज्ञप्तं धर्म-मंगलम्।
अर्चेवादित्र-निर्घोष गीत-नृत्यैः वनादिभिः॥ 9॥

ॐ ह्रीं श्रीकेवलिप्रज्ञप्तधर्म-मंगलायार्घ्यम्।

लोकोत्तमोऽर्हन् जगतां, भवबाधा-विनाशकः।
अर्च्यतेऽर्घेण स मया, कुकर्म-गण-हानये॥ 10॥

ॐ ह्रीं श्रीअर्हल्लोकोत्तमायायार्घ्यम्।

विश्वाग्र-शिखर-स्थायी, सिद्धो लोकोत्तमो मया।
मह्यते महसामंद-चिदानन्द सुमेदुरः॥ 11॥

ॐ ह्रीं श्रीसिद्धलोकोत्तमायायार्घ्यम्।

राग-द्वेष-परित्यागी, साम्य-भावावबोधकः।
साधु-लोकोत्तमोऽर्घेण, पूज्यते सलिलादिभिः॥ 12॥

ॐ ह्रीं श्रीसाधुलोकोत्तमायायार्घ्यम्।

उत्तमक्षमया भास्वान्, सद्धर्मो विष्टोपोत्तमः।
अनन्तसुख-संस्थानं यज्यतेम्भोऽक्षतादिभिः॥ 13॥

ॐ ह्रीं श्रीकेवलप्रज्ञप्त-धर्म-लोकोत्तमायायार्घ्यम्।

सदार्हन्शरणं मन्ये, नान्यथा शरणं मम।
इति भावविशुद्ध्यर्थमर्हयामि जलादिभिः॥ 14॥

ॐ ह्रीं श्रीअर्हच्छरणायार्घ्यम्।

ब्रजामि सिद्ध-शरणं, परावर्तन-पंचकम्।
भित्वा स्वसुख-संदोह-सम्पन्नमिति पूजये॥ 15॥

ॐ ह्रीं श्रीसिद्धशरणायार्घ्यम्।

आश्रये साधुशरणं, सिद्धान्त-प्रतिपादनैः।
न्यक्कृताज्ञान-तिमिरमिति शुद्ध्या यजामि तम्॥ 16॥

ॐ ह्रीं श्रीसाधुशरणायार्घ्यम्।

धर्म एव सदा बन्धुः, स एव शरणं मम।
इह वान्यत्र संसारे, इति तं पूजयेऽधुना॥ 17॥

ॐ ह्रीं श्रीकेवलिप्रज्ञप्त-धर्मशरणायार्घ्यम्।

संसार-दुःख-हनने निपुणं जनानाम्।
नाद्यान्त-चक्रमिति सप्तदश-प्रमाणम्॥
सम्पूजये विविधभक्ति-भरावनम्रः।
शान्तिप्रदं भुवन-मुख्य-पदार्थ-सार्थैः॥ 18॥

ॐ ह्रीं श्रीअर्हदादिसप्तदश-मन्त्रेभ्यः-समुदायार्घ्यम्।

(इसके पश्चात् 9 बार णमोकार-मन्त्र का जाप करें)

जयमाला

विघ्न-प्रणाशन-विधौ सुरमर्त्यनाथा।
अग्रेसरं जिन वदन्ति भवन्तमिष्टम्॥
नाद्यन्त - युगवर्तिनमत्र कार्ये।
गार्हस्थ्य-धर्म-विहितेऽहमपि स्मरामि॥ 1॥

विनायकः सकलधर्मि-जनेषु धर्मम्।
द्वेधा नयत्यविरतं दृढसप्तभङ्ग्या॥
यद्ध्यानतो नयनभावसुमज्झनेन,
बुद्धः स्वयं सकलनायक इत्यवाप्तेः॥ 2॥

गणानां मुनीनामधीशत्वतस्ते ।
गणेशाख्यया ये भवन्तं स्तुवन्ति ॥
सदा विघ्न-संदोह-शान्तिर्जनानां ।
करे संलुठत्यायतश्रेयसानाम् ॥ 3 ॥

यो दृक्सुधा-तोषित भव्यजीवो ।
यो ज्ञान-पीयूष-पयोधि-तुल्यः ॥
यो वृत्त-दूरीकृत-पाप-पुञ्जः ।
स एव मान्यो गणराज नाम्ना ॥ 4 ॥

यतस्त्वमेवासि विनायको में ।
दृष्टेष्ट - योगानविरुद्ध - वाचः ॥
त्वन्नाम-मात्रेण पराभवन्ति ।
विघ्नारयस्तर्हि किमत्र चित्रम् ॥ 5 ॥

जय जय जिनराज! त्वद्गुणान्को व्यनक्ति,
यदि सुरगुरुरिन्द्रः कोटि-वर्ष-प्रमाणं ।
वदितुमभिलेषद्वा पारमोप्नोति नो चेत् ।
कथमिह हि मनुष्यः स्वल्प-बुद्ध्या समेतः ॥ 6 ॥

ॐ ह्रीं श्री मंगलोत्तमशरणभूतेभ्यः पंचपरमेष्ठिभ्यो जयमालाऽर्घ्यम् ।

श्रियं बुद्धिमनाकुल्यं, धर्म-प्रीति-विवर्धनम् ।
गृहिधर्मे स्थितिर्भूयात्, श्रेयो मे दिशतु त्वरा ॥

(इत्याशीर्वादः)

सिद्ध-पूजा

सिद्धान् विशुद्धान्वसुकर्ममुक्तान्, त्रैलोक्यशीर्षस्थित-चिद्विलासन्।
संस्थापये भावविशुद्धिदातृन् सन्मंगलं प्राज्यसमृद्धयेऽहम्॥ 1॥

ॐ ह्रीं श्रीवसुकर्मरहितसिद्धेभ्यः पुष्पांजलिं क्षिपामि।

ॐ ह्रीं दर्पमथनाय नमः जलम्। ॐ ह्रीं शीलगन्धाय नमः चन्दनम्॥ ॐ ह्रीं अक्षताय नमः अक्षतान्॥ ॐ ह्रीं विमलाय नमः पुष्पम्॥ ॐ ह्रीं परमसिद्धाय नमः नैवेद्यम्॥ ॐ ह्रीं ज्ञानोद्योताय नमः दीपम्॥ ॐ ह्रीं श्रुतधूपाय नमः धूपम्॥ ॐ ह्रीं अभीष्टफलदाय नमः फलम्॥

अष्टकर्म-गण-नाशकारकान्, कष्ट-कुण्डलि-सुदष्ट-गारुडान्।
स्पष्टज्ञानरिमीत विष्टपान्, अर्घ्यतोऽघ-नाशनाय पूजये॥

ॐ ह्रीं श्रीवसुकर्मरहितेभ्यः सिद्धेभ्योऽर्घ्यम्।

द्वितीय-कटनीस्थ श्रुत-पूजा

द्वाद्वशांगमखिलं श्रुतं हितं स्थाप्य पाणि-परिपीडनोत्सवे।
पूज्यते यदधिधर्मसम्भवो द्वेधयैष जगतां प्रसीदति॥ 1॥

ॐ ह्रीं श्रीद्वादशांगाश्रुताय अर्घ्यम्।

तृतीय-कटनीस्थ गुरु-पूजा

ऋद्धयो बल-रसादि-विक्रियौषध्यसंज्ञक-महानसादिकाः।
तत्क्रमाम्बुरुहवासमासते, तान् गुरूनभिमहामि वार्मुखैः॥ 2॥

ॐ ह्रीं श्रीमहार्द्धिधारकरपरर्षिभ्योऽर्घ्यम्।

अष्टमंगलमिदं पदाम्बुजे, भासते शत-सुमंगलौघदम्।
धर्मचक्रमभिपूजये वरं, कर्मचक्र-परिणाशनोद्यतम्॥ 3॥

ॐ ह्रीं श्रीधर्मचक्रायार्घ्यम्।

प्रदान और वरण

यन्त्र की पूजन के पश्चात् कन्या के पिता और मामा (हो सके तो दोनों ही सपत्नीक) यन्त्र के सामने हाथ जोड़कर खड़े होवें और वर के पिता और मामा भी उनके सामने अर्थात् यन्त्र के पीछे खड़े हो जावें। गृहस्थाचार्य कन्या के पिता से उनके बाद में मामा से, सबके समक्ष कन्या की सम्मतिपूर्वक वर के प्रति निम्नलिखित वाक्य बुलवायें– ''मैं आपको धर्माचरण में और समाज की एवं देश की सेवा में सहयोग देने के लिए अपनी यह कन्या प्रदान करना चाहता हूँ। आप इसे स्वीकार करें और धर्म से पालन करें।''

कन्या के पिता और मामा के इसप्रकार कहने पर वर भी यन्त्र को नमस्कार कर कहे कि ''मैं आपकी कन्या को स्वीकार करता हूँ, और इसके सहयोग से धर्म, से अर्थ, से और काम का सेवन करूँगा''।

इस अवसर पर समस्त स्त्री–पुरुष वर–कन्या पर 'वृणीध्वं वृणीध्वं' (वरो) कहकर अपनी अनुमोदना के साथ पुष्प–वृष्टि करें। कन्या के पिता झारी या कलशी में जल लेकर वर के सीधे हाथ की कनिष्ठा–अंगुली में कन्या की बाँयें हाथ की कनिष्ठा–अंगुली स्पर्श कराकर उन अँगुलियों पर निम्नप्रकार मन्त्र पढ़कर जल–धारा छोड़ें। गृहस्थाचार्य पिता से यह मन्त्र कहलावे।

ॐअद्य जंबद्वीपे भरतक्षेत्रे आर्यखण्डे.............नगरे अस्मिन् स्थाने............. वीर–निर्वाण–संवत्सरे..............मासे..............तिथौ.............वासरे जैनधर्मपरिपालकाय.............गोत्रोत्पन्नाय.............पुत्राय.............पौत्राय............. नाम्नीं इमां कन्यां प्रददामि। ॐ नमोऽर्हते भगवते श्रीमते वर्धमानाय श्रीबलायुरारोग्य–सन्तानाभिवर्धनं भवतु क्ष्वीं क्ष्वीं हं सः स्वाहा।

उक्त प्रदान और वरण की विधि में प्रदान से कन्यादान का मतलब, जैसाकि अन्य सम्प्रदायों में माना जाता है, वैसा यहाँ नहीं है।

कन्या अन्य-वस्तुओं की भाँति दान की वस्तु नहीं मानी गई है। यहाँ तो सिर्फ सबके सामने विवाह की एक विधि मात्र बतलाई है।

नोट :- यहाँ दोनों पक्ष के गृहस्थाचार्य शाखोच्चारण का यहाँ दोनों पक्ष के नाम व गोत्रपूर्वक पढ़ सकते हैं।

हवन

प्रदान और वरण के पश्चात् हवन के लिए स्थंडिल के चारों ओर नीचे तीन बार लच्छा लपेटकर **ॐ क्ष्रीं भूः शुध्यतु स्वाहा।** भूमिशुद्धि के लिए (जलसे) '**नीरजसे नमः**'। विघ्नशान्तिके (चन्दन से) '**दर्पमथनाय नमः**'। तदन्तर गन्ध, पुष्प, अक्षत, धूप, दीप और नैवेद्य द्वारा भूमि का संस्कार करने के लिए क्रम से '**शीलगन्धय नमः, विमलाय नमः, अक्षताय नमः, श्रुतधूपाय नमः, ज्ञानोद्योताय नमः, परमसिद्धाय नमः**' यह मन्त्र बोलकर वह वह पदार्थ चढ़ावें। ॐ ह्रीं नीरजसे नमः इस मन्त्र से जल द्वारा भूमि शुद्धि करें। इसके बाद मन्त्रों में दिए गये पीठिकामन्त्र, जातिमन्त्र, निस्तारकमन्त्र, ऋषिमन्त्र, परमराजादिमन्त्र एवं परमेष्ठीमन्त्रों से हवन करते करें। फिर आगे लिखी विधि करें।

आहुति-मन्त्र

ॐ ह्रां अर्हद्भ्यः नमः स्वाहा॥ 1॥ ॐ ह्रीं सिद्धेभ्यः स्वाहा॥ 2॥ ॐ ह्रूँ आचार्येभ्यः स्वाहा॥ 3॥ ॐ ह्रौं उपाध्यायेभ्यः स्वाहा॥ 4॥ ॐ ह्रः सर्वसाधुभ्यः स्वाहा॥ 5॥ ॐ ह्रीं जिनधर्माय स्वाहा॥ 6॥ ॐ ह्रीं जिनागमायः स्वाहा॥ 7॥ ॐ ह्रीं जिनचैत्येभ्यः स्वाहा॥ 8॥ ॐ ह्रीं जिनचैत्यालयेभ्यः स्वाहा॥ 9॥ ॐ ह्रीं सम्यग्दर्शनाय स्वाहा॥ 10॥ ॐ ह्रीं सम्यग्ज्ञानाय स्वाहा॥ 11॥ ॐ ह्रीं सम्यक्चारित्राय स्वाहा॥ 12॥

शान्ति-मन्त्र

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूँ ह्रौं ह्रः सि-आ-उ-सा नमः।

इस मन्त्र की 108 बार या कम से कम 27 बार आहुति दें। इसके पश्चात् आगे की सप्तपदी-पूजा करावें।

सप्तपदी पूजा

सज्जातिगार्हस्थ्य-परिव्रजत्वं, सौरेन्द्रसाम्राज्य-जिनेश्वरत्वम्।
निर्वाणकं चेति पदानि सप्त, भक्त्या यजेऽहं जिनपादपद्मम॥

ॐ ह्रीं श्रीसप्तपरमस्थानेभ्य: पुष्पांजलिं क्षिपामि।

विमल-शीतल-सज्जलधारया, सविध-बन्धुरशीकर-सारया।
परमसप्त-सुस्थान-स्वरूपकं, परियजामि सदाष्ट-विधार्चनै:॥

ॐ ह्रीं श्रीसप्तपरमस्थानेभ्य: जलम्।

मसृण-कुंकुम-चन्दन-सद्रवै: सुरभितागत-षट्पद-सद्रसै:॥ परम.॥

ॐ ह्रीं श्रीसप्तपरमस्थानेभ्य: चन्दनम्।

विपुल-निर्मल-तन्दुल-संचयै:, कृत-सुमौक्तिक-कल्पक-निश्चयै॥ परम.॥

ॐ ह्रीं श्रीसप्तपरमस्थानेभ्योऽक्षतान्।

कुसुमचम्पक-पंकज-कुन्दकै, सहज-जाति-सुगन्ध-विमोदकै:॥ परम.॥

ॐ ह्रीं श्रीसप्तपरमस्थानेभ्य: पुष्पम्।

सकललोक-विमोदन-कारकैश्चरुवरै: सुसुधाकृति-धारकै:॥ परम.॥

ॐ ह्रीं श्रीसप्तपरमस्थानेभ्यो नैवेद्यम्।

तरल-तार-सुकान्ति-सुमण्डनै:, सदन-रत्न-चयैरवखण्डनै:॥ परम.॥

ॐ ह्रीं श्रीसप्तपरमस्थानेभ्य: दीपम्।

अगुरु-धूप-भवेन सुगंधिना, भ्रमर-कोटि-समेन्द्रिय-बन्धिना॥ परम.॥

ॐ ह्रीं श्रीसप्तपरमस्थानेभ्यो धूपम्।

सुखद-पक्व-सुशोभन-सत्फलै: क्रमुक-र्निवुक-मोच-सुतांगतै:॥ परम.॥

ॐ ह्रीं श्रीसप्तपरमस्थानेभ्यो फलम्।

जिनवरागम-सद्गुरु-मुख्यकान्, प्रवियजे गुरु-सद्गुण-मुख्यकान्।
सुशुभ-चन्द्रतरान् कुसुमोत्करै: समयसार-परान्पयसादिकै:॥

ॐ ह्रीं श्रीसप्तपरमस्थानेभ्योऽर्घ्यम्।

गठजोड़ा

हवन और सप्तपदी–पूजा के बाद जीवनपर्यन्त पति–पत्नी बननेवाले दम्पति में परस्पर प्रेमभाव एवं लौकिक और धार्मिक कार्यों में साथ रहने का सूचक ग्रन्थिबन्धन (गठजोड़ा) किसी सौभाग्यवती (सुहागिनी) स्त्री के द्वारा कराना चाहिए। कन्या की लुगड़ी (साड़ी) के पल्ले में सवा रूपया, 1 सुपारी, हल्दी गाँठ, सरसों व पुष्प रखकर उसे बाँध ले और उससे वर के दुपट्टे के पल्ले को बाँध दें।

ग्रन्थिबन्धन-मन्त्र

अस्मिन् जन्मन्येष बन्धो र्द्वयोर्वै, कामे धर्मे वा गृहस्थत्व–भाजि।
योगो जातः पंचदेवागम–साक्षी, जाया–पत्त्योरंचल–ग्रान्थिबन्धात्॥

हथलेवा (पाणिग्रहण)

गठजोड़ा के पश्चात् कन्या के पिता कन्या के बाँये हाथ में और वर के सीधे हाथ में पिसी हुई हल्दी को जल में घोलकर लेपें। लोक में जो 'पीले हाथ' करने की बात कही जाती है, यह वही विधि है। फिर वर के सीधे हाथ में थोड़ी–सी गीली मेंहदी और सवा रुपया रखकर उस पर कन्या का बाँया हाथ रखकर कन्या का हाथ ऊपर व वर का हाथ नीचे करके वर कन्या के दोनों हाथ जोड़ दें। इसविधि से कन्या का पिता अपनी कन्या को वर के हाथ में सौंपता है। इसे 'पाणिग्रहण' कहते हैं।

पाणिग्रहण-मन्त्र

हारिद्र–पंकमवलिप्य सुवासिनीभिर्दत्तं द्वयोर्जनयोः खलु तौ गृहीत्वा।
वामं करं निजसुता–भवमग्रपाणिम्, लिम्पेद्वरस्य च करद्वय–योजनार्थम्॥

गृहस्थाचार्य प्रत्येक फेरे के बाद नीचे लिखा हुआ अर्घ्य क्रमशः चढ़वाते रहें –

1. ॐ ह्रीं श्रीसज्जाति-परमस्थानाय अर्घ्यम्।
2. ॐ ह्रीं श्रीसद्गृहस्थ-परमस्थानाय अर्घ्यम्।
3. ॐ ह्रीं पारिव्राज्य-परमस्थानाय अर्घ्यम्।
4. ॐ ह्रीं सुरेन्द्र-परमस्थानाय अर्घ्यम्।
5. ॐ ह्रीं साम्राज्य-परमस्थानाय अर्घ्यम्।।
6. ॐ ह्रीं आर्हन्त्य-परमस्थानाय अर्घ्यम्।।

फेरे और सप्तपदी

पाणिग्रहण के बाद वर-कन्या को खड़ा कराके कन्या को आगे और वर को पीछे रखकर वेदी में चबरी के मध्य में यन्त्र-सहित वेदी के चारों ओर छः फेरे दिलवायें। इस समय स्त्रियाँ फेरों के मङ्गल-गीत गावें। वर और कन्या के कपड़ों को सम्भालते हुए फेरे दिलाना चाहिए। एक-दो समझदार स्त्री और पुरुष दोनों को सम्भालते रहें। छः फेरों के बाद दोनों अपने पूर्वस्थान पर पहले के समान बैठ जावें। गृहस्थाचार्य निम्नप्रकार सात-सात वचनों (प्रतिज्ञाओं) को क्रम से पहले वर से और फिर कन्या से कहलावें, साथ ही स्वयं उनको सरल-भाषा में समझाया जाये।

वर की ओर से कन्या के प्रति सात वचन

(1) मेरे कुटुम्बीजनों का यथायोग्य विनय-सत्कार करना होगा।

(2) मेरी आज्ञा का विरोध/अनादर नहीं करना होगा, ताकि घर में अनुशासन बना रहे।

(3) कठोर-वचन नहीं बोलना होगा। क्योंकि इससे चित्त को क्षोभ होकर पारस्परिक द्वेष हो जाने की सम्भावना रहती है।

(4) सत्पात्रों के घर पर आने पर उन्हें आहार आदि प्रदान करने में कलुषित मन नहीं करना होगा।

(5) मनुष्यों की भीड़ आदि में जहाँ धक्का आदि लगने की

सम्भावना हो, वहाँ बिना विशेष-कारण के अकेले नहीं जाना होगा।

(6) दुराचारी और नशा करानेवाले व्यक्तियों के घर पर नहीं जाना होगा, क्योंकि ऐसे व्यक्तियों द्वारा अपने सम्मान में बाधा आने की सम्भावना है।

(7) रात्रि के समय बिना पूछे दूसरों के घर नहीं जाना होगा, ताकि लोगों को व्यर्थ ही टीका-टिप्पणी करने का मौका न मिले।

ये सात प्रतिज्ञायें तुम्हें स्वीकार करना चाहिए। इन वचनों में गार्हस्थ्य-जीवन को सुखद बनाने की बातों का ही उल्लेख है। इनके पालन से घर में और समाज में पत्नी का स्थान आदरणीय बनेगा।

इन प्रतिज्ञाओं को कन्या अपने मुँह से निःसंकोच होकर कहे और स्वीकार करे।

कन्या द्वारा वर के प्रति सात वचन

(1) मेरे सिवाय अन्य स्त्रियों को माता, बहन और पुत्री के समान मानना होगा अर्थात् परस्त्री-सेवन का त्याग और स्वस्त्री-सन्तोषव्रत रखना होगा।

(2) वेश्या जो परस्त्री से भिन्न मानी जाती है, उसके सेवन का त्याग करना होगा।

(3) लोक द्वारा निन्दनीय और कानून से निषिद्ध द्यूत (जुआ) नहीं खेलना होगा।

(4) न्यायपूर्वक धन का उपार्जन करते हुए वस्त्र आदि से मेरा रक्षण करना होगा।

(5) आपने जो अपने वचनों में मुझ से अपनी आज्ञा मानने की प्रतिज्ञा कराई है, उस सम्बन्ध में, धर्म-स्थान में जाने और धर्माचरण करने में रुकावट नहीं डालनी होगी।

(6) मेरे सम्बन्ध की ओर घर की कोई बात मुझसे नहीं

छिपानी होगी, क्योंकि मैं भी आपकी सच्ची सलाह देनेवाली हूँ। कदाचित् उससे आपको लाभ हो जाये और अपना संकट दूर हो जाए। साथ ही इससे परस्पर विश्वास भी बढ़ेगा।

(7) अपने घर की गुप्त–बात दूसरे अर्थात् मित्र आदि के समक्ष प्रकट नहीं करनी होगी। लोगों की मनोवृत्ति प्रायः यह होती है कि वे दूसरे घर की छोटी–सी बात 'तिल का ताड़' की उक्ति के समान बड़ी करके अपवाद फैला देते हैं।

नोट – उक्त वर–वधू की 7–7 प्रतिज्ञाओं को ही आधुनिकभाषा में परिस्थति को देखकर सम्मिलितरूप से निम्नप्रकार दोनों के लिए सात प्रतिज्ञायें प्रचार में आने योग्य हैं।

वर-वधू केलिए संशोधित महत्त्वपूर्ण सात प्रतिज्ञायें

(1) जीवनपर्यन्त साथ रहते हुए सहनशील और कर्मवीर बनकर एक दूसरे के लिए जीवित रहना, जीवन से निराश न होना।

(2) दाम्पत्य–जीवन को सुखी बनाने और गृहस्थ–जीवन के निर्माण में भीतर का उत्तरदायित्व नारी पर और बाह्य–जीवन का उत्तरदायित्व पुरुष पर है।

(3) एक–दूसरे के परिवार के सदस्य बनकर सबसे स्नेह और आदर के पात्र बनना। विनय, सेवा करना एवं सद्व्यवहार से घर और सुसराल को स्वर्गतुल्य आनन्दमय बनाना।

(4) परस्पर स्नेह, अभिन्नता, आकर्षण, विश्वास बना रहे–इसके उपाय आचरण में लाना। पति के लिए पत्नी सर्वाधिक सुन्दर व प्रिय और पत्नी के पति परमाराध्य रहे।

(5) वधू को कुलवधू (सीता, अंजना, सुलोचना आदि के समान) और वर को कुलपुत्र (राम, जयकुमार, सुदर्शन आदि के समान) बनना, जिनसे घर का सम्मान, गौरव, प्रतिष्ठा, कीर्ति बनी रहे

वैसे काम करना निर्व्यसनी, शीलवान और विवेकी बनना।

(6) जिनेन्द्रदेव, गुरु, शास्त्र की अचर्ना एवं साक्षीपूर्वक विवाह सम्पन्न हो रहा है उनमें श्रद्धा बनाये रखें इससे बुराइयों से बचने में बल मिलता रहे। आत्महित (वीतरागता) की ओर दृष्टि रखें।

(7) समाज, जनता और राष्ट्र की सेवा में दोनों परस्पर सहयोग से आगे बढ़ें। विलासिता से बचें।

एक साथ ही इन सात प्रतिज्ञाओं को दोनों स्वीकार करें। इनके सिवाय और भी कोई खास बात हो, तो विवाह से पहले स्पष्ट कर लेना चाहिए। जिससे दाम्पत्यजीवन आजीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत हो। सच यह है कि अपने साफ और शुद्ध परिणाम (नियम) ही से सम्बन्ध अच्छा रह सकता है। इसके पश्चात् वर को आगे करके सातवाँ फेरा कराया जाये और अपने पहले के स्थान पर जब आवें; तब वे पति-पत्नी के रूप में होकर यानि स्त्री पति के बाँये और पति स्त्री के दाहिने ओर बैठे। इस अवसर पर स्त्रियाँ मङ्गलगीत गावें।

उक्त सात फेरे सात परम-स्थानों की प्राप्ति के द्योतक है। आगमानुसार संसार में (1) सज्जातित्व (2) सद्गृहस्थत्व (3) साधुत्व (4) इन्द्रत्व (5) चक्रवार्तित्व (6) तीर्थंकरत्व और (7) निर्वाण-ये सात परमस्थान माने गये हैं।

सातवें फेरे के के बाद **ॐ ह्रीं निर्वाण-परमस्थानाय अर्घ्यम्** बोलकर अर्घ्य चढ़ावें।

सात फेरे होने पर गृहस्थाचार्य नवदम्पति पर निम्नप्रकार मन्त्र द्वारा पुष्पक्षेपण करें।

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधवः शान्तिं पुष्टिं च कुरुत कुरुत स्वाहा।

यहाँ पर संक्षेप में गृहस्थ-जीवन के महत्त्व पर उपदेश देकर अच्छी संस्थाओं को यथाशक्ति दोनों पक्ष की आरे से दान की घोषणा

कराकर तत्काल यथास्थान भिजवाने का प्रबन्ध करा देना चाहिए।

इसके बाद कन्या-पक्ष की ओर से वर को तिलकपूर्वक सवा रुपया और श्रीफल भेंटकर हथलेवा छुड़ा देना चाहिए और नवदम्पति खड़ होकर मङ्गल-कलश हाथ में ले लें। गृहस्थाचार्य 'पुण्यावाचन' पाठ पढ़ें और 'सर्वशान्तिर्भवतु' वाक्य के आने पर नीचे एक पात्र में जलधारा स्वयं छोड़ता जाये और नवदम्पति से धारा छुड़ाता जाये।

पुण्यावाहचन

ॐ पुण्याहं पुण्याहं लोकोद्योतनकरा अतीतकालसंजात-निर्वाणसागर-महासाधु-विमलप्रभ-शुद्धप्रभ-श्रीधर-सुदत्तामलप्रभोद्धरागिसंयम-शिवकुसुमांजलि-शिवगणोत्साह-ज्ञानेश्वर-परमेश्वर-विमलेश्वर-यशोधर-कृष्णमति-ज्ञानमति-शुद्धमति-श्रीभद्र-शान्तेतिचतुर्विंशति-भूतपरमदेव-भक्तिप्रसादात्सर्वशान्तिर्भवतु। (प्रीयन्ताम् 2 भी कह सकते हैं)

ॐ सम्प्रतिकाल-श्रेयस्कर-स्वर्गावतरण-जन्माभिषेक-परिनिष्क्रमण-केवलज्ञान-निर्वाणकल्याणक-विभूति-विभूषित-महाभ्युदय-श्रीवृषभाजित-सम्भवाभिनन्दन-सुमति-पद्मप्रभ-सुपार्श्व-चन्द्रप्रभ-पुष्पदन्त-शीतल-श्रेयो-वासुपूज्य-विमलानन्त-धर्म-शान्ति-कुन्थ्वर-मल्लि-मुनिवसुव्रत-नमि-नेमि-पार्श्व-वर्द्धमानेति चतुर्वि-शति-वर्तमान-परमदेव-भक्तिप्रसादात्सर्वशान्तिर्भवतु।

ॐ भविष्यत्-कालाभ्युदयप्रभव-महापद्म-सूरदेव-सुप्रभ-स्वयंप्रभ-सर्वायुध-जयदेवोदयदेव-प्रभोदेवोदंकदेव-प्रश्नकीर्ति-पूर्णबुद्ध-निष्कषाय-विमलप्रभ-वहलनिर्मल-चित्रगुप्त-समाधिगुप्त-स्वयम्भू-कन्दर्प-जयनाथ-विमलनाथ-दिव्यवादानन्तवीर्येतिचतुर्विंशति-भविष्यत्परमदेव-भक्तिप्रसादात्सर्वशान्तिर्भवतु।

ॐ त्रिकालवर्ति-परमधर्माभ्युदयाः सीमन्धर-युगमन्धर-बाहु-सुबाहु-संजातक-स्वयम्प्रभ-ऋषभेश्वरानन्तवीर्य-विशालप्रभ-वज्रधर-चन्द्रानन-भद्रबाहु-भुजगंमेश्वर-नेमिप्रभु-वीरसेन-महाभद्र-जयदेवाजितवीर्येति-पंचविदेहक्षेत्र-विहरमाण-विंशति-परमदेव-भक्तिप्रासादात्सर्वशान्तिर्भवतु।

ॐ कोष्ठ-बीज-पादानुसारिबुद्धि-सभिन्नश्रोतृ-प्रज्ञाश्रमण-शक्ति-प्रसादात्सर्वशान्तिर्भवतु।

ॐ जल-फल-जंघा-तन्तु-पुष्प-श्रेणी-पत्राग्नि-शिखाकाशचारण-भक्तिप्रसादात् सर्वशान्तिर्भवतु।

ॐ आहार-रसवदक्षीणमहानसालय-भक्तिप्रसादात्सर्वशान्तिर्भवतु।

ॐ उग्र-दीप्त-तप्त-महाघोरानुमत-तपोऋद्धि-भक्तिप्रसादात्सर्वशान्तिर्भवतु।

ॐ क्रिया-विक्रयाधारि-भक्ति-प्रसादात्सर्वशान्तिर्भवतु।

ॐ मति-श्रुतावधि-मनःपर्ययकेवलज्ञान-भक्तिप्रसादात्सर्वशान्तिर्भवतु।

ॐ अंगांगबाह्य-ज्ञानदिवाकर-कुन्दकुन्दाद्यनेकदिगम्बर-देवभक्ति-प्रसादात् सर्वशान्तिर्भवतु।

शान्तिधारा

इह वान्य-नगर-ग्राम-देवता-मनुजाःसर्वे गुरुभक्ताः जिनधर्म-परायणा भवन्तु।

दान-तपो-वीर्यानुष्ठानं नित्यमेवास्तु।

मातृ-पितृ-पुत्र-पौत्र-कलत्र-सुहृत्स्वजन-सम्बन्धि-बन्धु-सहितस्य .... ते धन-धान्यैश्वर्य-बल-द्युति-यशः प्रमोदोत्सवाः प्रवर्द्धन्ताम्।

तुष्टिरस्तु। पुष्टिरस्तु। वृद्धिरस्तु। कल्याणमस्तु। अविघ्नमस्तु। आयुष्यमस्तु। आरोग्यमस्तु। कर्मसिद्धिरस्तु। इष्टसम्पत्तिरस्तु। निर्वाणपर्वोत्सवाः सन्तु। पापानि शाम्यन्तु। पुण्यं वर्धताम्। श्रीवर्द्धताम्। कुलं गोत्रं चाभिर्धेताम्। स्वस्ति भद्रं चास्तु। क्ष्वीं, क्ष्वीं, हं सः स्वाहा। श्रीमज्जिनेन्द्र-चरणारविंदेष्वानन्दभक्तिः सदास्तु।

'पुण्याहवाचन' के बाद 'शान्तिस्तव' या 'शान्तिपाठ' पढ़ें।

इसके बाद निम्नलिखित-मन्त्र व पद्य से क्षमापन करें :-

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा अर्हदादिपरमेष्ठिनः संपूजिताः जः जः जः अपराध-क्षमापनं भवतु।

मोहध्वांत-विदारणं विशद-विश्वोद्भासि-दीप्ति-श्रियम्।
सन्मार्ग-प्रतिभासकं विबुध-संदोहामृतोत्पादकम्।
श्रीपाठं जिनचन्द्र-शान्ति-शरणं सद्भक्तिमानेऽपि ते।
भूयस्तापहरस्य देव भवतो भूयात्पुनर्दर्शनम्॥

गृहस्थाचार्य निम्नलिखित श्लोक पढ़कर वर-वधू को आशीर्वाद दें।

आरोग्यमस्तु, चिरमायुरथो शचीव। शक्रस्य शीतकिरणस्य च रोहिणीव।
मेघेश्वरस्य च सुलोचनका यथैषा, भूयात्तवेप्सित सुखानुभवादिदात्री॥ 1॥

दीर्घायुरस्तु, शुभमस्तु, सुकीर्तिरस्तु, सद्बुद्धिरस्तु धनधान्य-समृद्धिरस्तु। आरोग्यमस्तु
विजयोऽस्तु महोऽस्तु पुत्र-पौत्रोद्भवोऽस्तु तव सिद्धिपति-प्रसादात्॥ 2॥

तृतीय - खण्ड

(विभिन्न संस्कार-विधियों के अन्तर्गत पढ़े जानेवाले मूलपाठों एवं मन्त्रों का शुद्ध प्रारूप)

शान्तिमन्त्र – ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा नमः ॥

रक्षामन्त्र – ॐ ह्रूँ नमो अर्हते सर्वं रक्ष-रक्ष ह्रूँ नमः ॥

दिग्बन्धन-मन्त्र –

1. ॐ ह्रां णमो अरिहंताणं ह्रां पूर्वदिशासमागतविघ्नान् निवारय-2।
2. ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं ह्रीं दक्षिणदिशासमागतविघ्नान् निवारय-2
3. ॐ ह्रूँ णमो आयरियाणं ह्रूँ पश्चिमदिशासमागतविघ्नान् निवारय-2
4. ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं ह्रौं उत्तरदिशासमागतविघ्नान् निवारय-2
5. ॐ ह्रः णमो लोए सव्वसाहूणं ह्रः। सर्वदिशासमागतविघ्नान् निवारय-2

नित्य-नैमित्तिक जाप्य-मन्त्र

पणतीत-सोल-छप्पण-चदु-दुगमेगं च जवह ज्झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवदेसेण॥

अर्थ – परमेष्ठी के वाचक पैंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक अक्षरवाले मन्त्र का प्रतिदिन जाप और ध्यान करना चाहिए।

35 अक्षर का मन्त्र –

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं॥

16 अक्षर का मन्त्र– अरिहंत-सिद्ध-आइरिय-उवज्झाय-साहू।

6 अक्षर का मन्त्र– अरिहंत-सिद्ध।

5 अक्षर का मन्त्र– अ.सि.आ.उ.सा.

4 अक्षर का मन्त्र– अरिहंत।

2 अक्षर का मन्त्र– सिद्ध।

1 अक्षर का मन्त्र– अ, ॐ।

1. दशलक्षणव्रत

समुच्चय- ॐ ह्रीं श्रीउत्तमक्षमा-मार्दवार्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्यागाकिंचन्य-ब्रह्मचर्यधर्मांगाय नमः।

1. ॐ ह्रीं श्रीउत्तमक्षमाधर्मांगाय नमः।
2. ॐ ह्रीं श्रीउत्तममार्दवधर्मांगाय नमः।
3. ॐ ह्रीं श्रीउत्तमार्जवधर्मांगाय नमः।
4. ॐ ह्रीं श्रीउत्तमशौचधर्मांगाय नमः।
5. ॐ ह्रीं श्रीउत्तमसत्यधर्मांगाय नमः।
6. ॐ ह्रीं श्रीउत्तमसंयमधर्मांगाय नमः।
7. ॐ ह्रीं श्रीउत्तमतपोधर्मांगाय नमः।
8. ॐ ह्रीं श्रीउत्तमत्यागधर्मांगाय नमः।
9. ॐ ह्रीं श्रीउत्तमआकिंचन्यधर्मांगाय नमः।
10. ॐ ह्रीं श्रीउत्तमब्रह्मचर्यधर्मांगाय नमः।

2. रत्नत्रयव्रत

1. ॐ ह्रीं श्रीअष्टांगसम्यग्दर्शनाय नमः।
2. ॐ ह्रीं श्रीअष्टविधसम्यग्ज्ञानाय नमः।
3. ॐ ह्रीं श्रीत्रयोदशविधसम्यक्चारित्राय नमः।

3. षोडशकारणव्रत

समुच्चय- ॐ ह्रीं श्रीषोडशकारणभावनाभ्यो नमः।

1. ॐ ह्रीं श्रीदर्शनविशुद्धये नमः।
2. ॐ ह्रीं श्रीविनयसम्पन्नतायै नमः।
3. ॐ ह्रीं श्रीशीलव्रतेष्वनतिचाराय नमः।
4. ॐ ह्रीं श्रीआभीक्ष्ण्यज्ञानोपयोगाय नमः।
5. ॐ ह्रीं श्रीसंवेगाय नमः।
6. ॐ ह्रीं श्रीशक्तितस्त्यागाय नमः।

7. ॐ ह्रीं श्रीशक्तितस्तपसे नमः।
8. ॐ ह्रीं श्रीसाधुसमाधये नमः।
9. ॐ ह्रीं श्रीवैयावृत्त्यकरणाय नमः।
10. ॐ ह्रीं श्रीअर्हद्भक्त्यै नमः।
11. ॐ ह्रीं श्रीआचार्यभक्त्यै नमः।
12. ॐ ह्रीं श्रीबहुश्रुतभक्त्यै नमः।
13. ॐ ह्रीं श्रीप्रवचनभक्त्यै नमः।
14. ॐ ह्रीं श्रीआवश्यकापरिहाणये नमः।
15. ॐ ह्रीं श्रीमार्गप्रभावनायै नमः।
16. ॐ ह्रीं श्रीप्रवचन-वत्सलत्वाय नमः।

4. अष्टाह्निकाव्रत

समुच्चय- ॐ ह्रीं श्रीनन्दीश्वरसंज्ञाय नमः।

1. ॐ ह्रीं श्रीनन्दीश्वरसंज्ञाय नमः।
2. ॐ ह्रीं श्रीअष्टमहाविभूतिसंज्ञाय नमः।
3. ॐ ह्रीं श्रीत्रिलोकसागरसंज्ञाय नमः।
4. ॐ ह्रीं श्रीचतुर्मुखसंज्ञाय नमः।
5. ॐ ह्रीं श्रीपञ्चमहालक्षणसंज्ञाय नमः।
6. ॐ ह्रीं श्रीस्वर्गसोपानसंज्ञाय नमः।
7. ॐ ह्रीं श्रीसिद्धचक्रसंज्ञाय नमः।
8. ॐ ह्रीं श्रीइन्द्रध्वजसंज्ञाय नमः।

5. पञ्चमेरुव्रत

1. ॐ ह्रीं श्रीसुदर्शनमेरुस्थ-जिनचैत्यालयेभ्यो नमः।
2. ॐ ह्रीं श्रीविजयमेरुस्थ-जिनचैत्यालयेभ्यो नमः।
3. ॐ ह्रीं श्रीअचलमेरुस्थ-जिनचैत्यालयेभ्यो नमः।
4. ॐ ह्रीं श्रीविद्युन्मालिमेरुस्थ-जिनचैत्यालयेभ्यो नमः।
5. ॐ ह्रीं श्रीमन्दरमेरुस्थ-जिनचैत्यालयेभ्यो नमः।

पूजा-विधानादि के लिए सामान्य-मन्त्रों का निर्देश

(निम्नलिखित मन्त्र सामान्य हैं, क्योंकि सभी क्रियाओं में काम आते हैं।)

1. भूमिशुद्धि के लिए (जल से) 'नीरजसे नमः'। विघ्नशान्ति के (चन्दन से) 'दर्पमथनाय नमः'। तदन्तर गन्ध, पुष्प, अक्षत, धूप, दीप और नैवेद्य द्वारा भूमिका संस्कार करने के लिए क्रम से 'शीलगन्धाय नमः, विमलाय नमः, अक्षताय नमः, श्रुतधूपाय नमः, ज्ञानोद्योताय नमः, परमसिद्धाय नमः', यह मन्त्र बोलकर वह–वह पदार्थ चढ़ावें।

2. तदन्तर **पीठिकामन्त्र** पढ़ें – सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, परमजाताय नमः, अनुपमजाताय नमः, स्वप्रधानाय नमः, अचलाय नमः, अक्षयाय नमः, अव्याबाधाय नमः, अनन्तज्ञानाय नमः, अनन्तवीर्याय नमः, अनन्तसुखाय नमः, नीरजसे नमः, निर्मलाय नमः, अच्छेद्याय नमः, अभेद्याय नमः, अजराय नमः, अप्रमेयाय नमः, अगर्भवासाय नमः, अक्षोभ्याय नमः, अविलीनाय नमः, परमधनाय नमः, परमकाष्ठयोगाय नमो नमः, लोकाग्रवासिने नमो नमः, परमसिद्धभ्यो नमो नमः, अर्हत्सिद्धेभ्यो नमो नमः, केवलिसिद्धेभ्यो नमो नमः, अन्तःकृत्सिद्धेभ्यो नमो नमः, परम्परासिद्धेभ्यो नमः, अनादिपरम्परासिद्धेभ्यो नमः, अनाद्यनुपमसिद्धेभ्यो नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्य आसन्नभव्य निर्वाणपूजार्ह, निर्वाणपूजार्ह अग्नीन्द्र स्वाहा।

(इसके पश्चात् **काम्यमन्त्र** बोलना चाहिए)

सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु। (तत्पश्चात् क्रमसे जातिमन्त्र, निस्तारकमन्त्र, ऋषिमन्त्र, सुरेन्द्रमन्त्र परमराजादि मन्त्र, परमेष्ठी मन्त्र इन छः प्रकार के मन्त्रों को निम्नानुसार उच्चारण करना चाहिए।)

3. **जातिमन्त्र** –सत्यजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हज्जन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हन्मातुः शरणं प्रपद्यामि, अर्हत्सुतस्य शरणं प्रपद्यामि, अनादिगमनस्य शरणं प्रपद्यामि, अनुपमजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे ज्ञानमूर्ते ज्ञानमूर्ते सरस्वति स्वाहा।

सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु।

4. **निस्तारकमन्त्र**– सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, षट्कर्मणे स्वाहा, ग्रामपतये स्वाहा, अनादिश्रोत्रियाय स्वाहा, स्नातकाय स्वाहा, श्रावकाय स्वाहा, देवब्राह्मणाय स्वाहा, सुब्राह्मणाय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे निधिपते निधिपते वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा।

सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु।

5. **ऋषिमन्त्र**– सत्यजाताय नमः, अर्हज्जातायनमः, निर्ग्रन्थाय नमः, वीतरागाय नमः, महाव्रताय नमः, त्रिगुप्ताय नमः, महायोगाय नमः, विविधयोगाय नमः, विधिर्द्धये नमः, अङ्गधराय नमः, पूर्वधराय नमः, गणधराय नमः, परमर्षिभ्यो नमो नमः, अनुपमजाताय नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे भूपते भूपते नगरपते नगरपते कालश्रमण कालश्रमण स्वाहा।

सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु।

6. **सुरेन्द्रमन्त्र**– सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, दिव्यजाताय स्वाहा, दिव्यार्चिर्जाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, सौधर्माय स्वाहा, कल्पाधिपतये स्वाहा, अनुचराय स्वाहा, परम्परेन्द्राय स्वाहा,

अहमिन्द्राय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे कल्पयते कल्पयते दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते वज्रनामन् स्वाहा।

सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु।

7. **परमेष्ठीमन्त्र** – सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, अनुपमेन्द्राय स्वाहा, विजयार्चजाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, परमजाताय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे उग्रतेजः उग्रतेजः दिशांजन दिशांजन नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा। सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु।

8. **परमेष्ठीमन्त्र** – सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, परमजाताय नमः, परमार्हताय नमः, परमरूपाय नमः, परमतेजसे नमः, परमगुणाय नमः, परमयोगिने नमः, परमभाग्याय नमः, परमर्द्धये नमः, परमप्रसादाय नमः, परकांक्षिताय नमः, परमविजाय नमः, परमविज्ञाय नमः, परमदर्शनाय नमः, परमवीर्याय नमः, परमसुखाय नमः, सर्वज्ञाय नमः, अर्हते नमः, परमेष्ठिने नमो नमः, परमनेत्रे नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे त्रिलोकविजय त्रिलोकविजय धर्ममूर्ते धर्ममूर्ते धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा।

सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु।

'पीठिकामन्त्र' से 'परमेष्ठीमन्त्र' तक के ये उपरोक्त सात प्रकार के मन्त्र गर्भाधानादि क्रियायें करते समय 'क्रियामन्त्र', गणधरकथित –सूत्र में 'साधनामन्त्र' और देवपूजनादि नित्यकर्म करते समय 'आहुतिमन्त्र' कहलाते हैं।

गर्भाधानादि क्रियाओं के लिए विशेष-मन्त्र

(गर्भाधानादि क्रियाओं में से प्रत्येक में आनेवाले अपने–अपने जो विशेष–मन्त्र हैं, वे निम्नप्रकार हैं।)

1. **गर्भाधानक्रिया के मन्त्र** – सज्जातिभागी भव, सद्गृहिभागी भव, मुनीन्द्रभागी भव, सुरेन्द्रभागी भव, परमराज्यभागी भव, आर्हन्त्यभागी भव, परमनिर्वाणभागी भव।

2. **प्रीतिक्रिया के मन्त्र** – त्रैलोक्यनाथी भव, त्रैकाल्यज्ञानी भव, त्रिरत्नस्वामी भव।

3. **सुप्रीतिक्रिया के मन्त्र** – अवतार कल्याणभावी भव, मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणभागी भव, निष्क्रान्तिकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव, परमनिर्वाणकल्याणभागी भव।

4. **धृतिक्रिया के मन्त्र** – सज्जातिदातृभागी भव, सद्गृहिदातृभागी भव, मुनीन्द्रदातृभागी भव, सुरेन्द्रदातृभागी भव, परमराज्यदातृभागी भव, आर्हन्त्यदातृभागी भव, परमनिर्वाणदातृभागी भव।

5. **मोदक्रिया के मन्त्र** – सज्जातिकल्याणभागी भव, सद्गृहिकल्याणभागी भव, वैवाहकल्याणभागी भव, मुनीन्द्रकल्याणभागी भव, सुरेन्द्रकल्याणभागी भव, मन्दराभिषेककल्याणभागी भव, यौवराज्यकल्याणभागी भव, महाराज्यकल्याणभागी भव, परमराज्यकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव।

6. **प्रियोद्भवक्रिया के मन्त्र** – दिव्यनेमिविजयाय स्वाहा, परमनेमिविजयाय स्वाहा, आर्हन्त्यनेमिविजयाय स्वाहा।

7. **जन्मसंस्कार क्रिया के मन्त्र** – (योग्य आशीर्वाद आदि देन के पश्चात् निम्नप्रकार मन्त्र–प्रयोग करें।) नाभिनाल काटते समय – 'घातिजयो भवः' उबटन लगाते समय – 'हे जात! श्रीदेव्यः ते

जातिक्रिया कुर्वन्तु', स्नान कराते समय – 'त्वं मन्दराभिषेकार्हो भव', सिर पर अक्षत–क्षेपण करते समय – ' चिरं जीव्याः', सिर पर घी का क्षेपण करते समय – 'नश्यात् कर्ममलं कृत्स्नं', माता का दूध पिलाते समय – 'विश्वेश्वरीस्तन्यभागी भूयात्', गर्भमल को भूमि के गर्भ रखते समय– 'सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे सर्वमातः सर्वमातः वसुन्धरे वसुन्धरे स्वाहा, त्वत्पुत्रा इव मत्पुत्राः चिरंजीविनी भूयांसः', माता को स्नान कराते समय – 'सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्ये विश्वेश्वरि ऊर्जितपुण्ये जिनमातः जिनमातः स्वाहा', बालक को ताराओं से व्याप्त आकाश का दर्शन कराते समय – 'अनन्तज्ञानदर्शी भव'।

8. **नामकर्मक्रिया के मन्त्र** – 'दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव', विजयाष्टसहस्रनामी भव, परमाष्टहस्रनामभागी भव।

9. **बहिर्यानक्रिया के मन्त्र** – उपनयनिष्क्रान्तिभागी भव, वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव, मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, मन्दराभिषेकनिष्क्रान्तिभागी भव, यौवराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, महाराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, परमराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, आर्हन्त्यनिष्क्रान्तिभागी भव।

10. **निषद्याक्रिया के मन्त्र** – दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव, परमसिंहासनभागी भव।

11. **अन्नप्राशनक्रिया के मन्त्र** – दिव्यामृतभागी भव, विजयामृतभागी भव, अक्षीणामृतभागी भव।

12. **व्युष्टिक्रिया के मन्त्र** – उपनयन–जन्म–वर्षवर्धनभागी भव, वैवाहनिष्ठ–वर्षवर्धनभागी भव, मुनीन्द्रजन्म–वर्षवर्धनभागी भव, सुरेन्द्रजन्म–वर्षवर्धनभागी भव, मन्दराभिषेक–वर्षवर्धनभागी भव, यौवनराज्य–वर्षवर्धनभागी भव, महाराज्यवर्षवर्धनभागी भव, परमराज्य–वर्षवर्धनभागी भव, आर्हन्त्यराज्य–वर्षवर्धनभागी भव।

13. **चौल या केशक्रिया के मन्त्र** – उपनयनमुण्डभागी भव, निर्ग्रन्थमुण्डभागी भव, निष्क्रान्तिमुण्डभागी भव, परमनिस्तारक –केशभागी भव, परमेन्द्रकेशभागी भव, परमराज्य–केशभागी भव, आर्हन्त्यराज्य–केशभागी भव।

14. **लिपिसंख्यानक्रिया के मन्त्र** – शब्दपारगामी भव, अर्थपारगामी भव, शब्दार्थपारगामी भव।

15. **उपनीतिक्रिया के मन्त्र** – परनिस्तारक–लिंगभागी भव, परमर्षि–लिंगभागी भव, परमराज्य–लिंगभागी भव, परमार्हन्त्य–लिंगभागी भव, परमनिर्वाण–लिंगभागी भव।

(व्रतचर्या आदि आगे की क्रियाओं के मन्त्रशास्त्र–परम्परा के अनुसार समझ लेने चाहिए।)

संकल्प–विधि

ॐ अद्य भगवतो महापुरुषस्य श्रीमद्–आदिजिनेन्द्रस्य मते अस्मिन् विधीयमाने......कर्मणि, जम्बूद्वीपे, भरतक्षेत्रे आर्यखण्डे भारतवर्षे...........प्रान्ते.............. ....नगरे..............स्थले, मासानाम् उत्तमे मासे................मासे..................पक्षे.......................... तिथौ.............वासरे...............वीरनिर्वाणसंवत्सरे ....मंगलानुष्ठानस्य निर्विघ्न–समाप्त्यर्थं शान्त्यर्थं सर्वकल्याणर्थं संकल्पं कुर्मः। ॐ अर्हं नमः स्वाहा॥

मङ्गलकलश–स्थापना का मन्त्र

ॐ अद्य भगवतो महापुरुषस्य श्रीमद्–आदिजिनेन्द्रायस्य ....(से लेकर) सर्वकल्याणार्थं (पर्यन्त पूर्वोक्त मन्त्र पढ़ें उसके आगे) पुण्याहवाचनार्थ नवरत्न–गन्ध–सिद्धार्थ–लवंगादिपूरितं शुद्धप्रासुकतीर्थमृत्तिकायुक्तं मंगलकलशस्थापनं करोमि झ्वीं क्ष्वीं हं सः स्वाहा।

(पढ़कर जहाँ मङ्गलकलश स्थापित करना है, वहाँ पहिले से स्वास्तिक बनाकर रखना चाहिए और उस पर मङ्गलकलश स्थापित करना चाहिए)

विशेष : अल्पकालिक अनुष्ठान के पूर्णकुम्भ के रूप में मङ्गलकलश स्थापित करते हैं, उसमें उक्त मन्त्र के रेखांकित पदों (नवरत्न-..........आदि) के स्थान पर "शुद्धप्रासुकजलपूरितं" पाठ पढ़ते हैं। किन्तु 'शान्तिजाप' आदि के लिये मण्डलविधान, पञ्चकल्याण-प्रतिष्ठा आदि विधियों में पहले क्रम पर कहे गये मङ्गलकलश को स्थापित करते हैं।

अमृतस्नान का मन्त्र

ॐ ह्रीं अमृते अमृतोद्भवे अमृतवर्षिणि अमृतं स्रावय-स्रावय सं सं क्लीं क्लीं ब्लूं ब्लूं द्रां द्रां द्रीं द्रीं द्रावय द्रावय ठः ठः ह्रीं स्वाहा।

(यह मन्त्र पढ़कर दाहिनी हथेली में प्रासुक-जल लेकर अपने शरीर पर मस्तक से जल-क्षेपण करें।)

प्रथम परिशिष्ट

(जैन-संस्कारों के विशिष्ट पारिभाषिक पदों का परिचय)

अर्घ्य - सामान्यतः 'अर्घ' शब्द वाच्यार्थ है 'मूल्य' एवं 'अर्घ्य' का मूल्यवान् या बेशकीमती अर्थ होता है। किन्तु पूजन के प्रकरण में आजकल इसका रूढ़-अर्थ प्रचलित है - जल से फल तक के आठ द्रव्यों का सम्मिलित रूप। शब्दार्थ एवं रूढ़ि- दोनों का मिश्रण करते पर 'अर्घ्य' शब्द का अर्थ होगा 'जल से फल तक की वह समस्त जीवनोपयोगी सामग्री, जो हमने धन या श्रम आदि किसी प्रकार का मूल्य देकर अपनत्व भाव' से एकत्रित की गई है, उसे प्रतीकात्मक प्रासुक-पदार्थों के द्वारा ममत्व-त्याग की भावना से समर्पण-हेतु एकीकृत करना 'अर्घ्य' है।

अर्हं - यह एक व्यापक बीजाक्षर है। सावलम्बन-धर्मध्यान के प्रकरण में आचार्य योगीन्द्रदेव ने इसकी बड़ी महिमा बतलायी है। (द्र. अमृताशीति, पद्य 33, 34) इसमें 'अ' से 'ह' तक सम्पूर्ण वर्णमाला, जोकि द्वादशांग की भी मूल है, समाहित है। इसीलिए किसी भी 'अर्घ्य' आदि को बोलते समय 'ॐ आराध्य' देव एवं चढ़ायी जानेवाली सामग्री का उच्चारण करते हैं। यथा - '' ॐ ह्रीं अर्हं दशलक्षणधर्माय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।''

अष्टप्रातिहार्य - प्रातिहार्य अरिहन्त-परमात्मा के महिमामयी चिह्न-विशेष होते हैं। इनके नाम हैं- 1. अशोक वृक्ष, 2. तीन छत्र, 3. रत्नजड़ित सिंहासन, 4. भक्तियुक्त गणों से घिरे रहना, 5. दुन्दुभिनाद, 6.दिव्य-पुष्पवृष्टि, 7. प्रभामण्डल, 8. चौंसठ चमरों से सुशोभित होना। (द्र. तिलोयपण्णत्ति, 4/915-927)। अन्यत्र चतुर्थ प्रातिहार्य

'भुक्तियुक्त गणों से घिरे रहना' के स्थान पर 'दिव्यध्वनि' को प्रातिहार्य बताया गया है। शेष सातों निर्विवाद हैं।

अष्टमंगल – श्रृंगार (झारी), कलश, दर्पण, चँवर, ध्वजा, पंखा, छत्र एवं सुप्रतिष्ठ – ये अष्ट मंगलद्रव्य माने गये हैं।

'ॐ' या 'ओम्' – यह प्रणव-बीजमन्त्र है। इसे पाँचों परमेष्ठियों के प्रथम-अक्षरों से निष्पन्न माना गया है–

''अरिहंता-असरीरा-आयरिया-उवज्झया तहा
मुणिणो पढमक्खर-णिप्पण्णो ओंकारो पंचपरमेट्ठी।।''

अर्थात् – अरिहन्त का 'अ' अशरीरी (सिद्ध) का 'अ', आचार्य का 'आ' उपाध्याय का 'उ' तथा मुनि (साधु) का 'म्'- इन सबको मिलाकर (अ+अ+आ=आ+उ=ओ+म्=ओम्) 'ओम्' की निष्पत्ति (सिद्ध या निर्माण) मानी गई है।

कायोत्सर्ग – कार्य+उत्सर्ग – इन दो शब्दों से निर्मित इस पद का शब्दार्थ है 'शरीर का त्याग'। किन्तु शरीर-त्याग या मरण जैस अभिप्राय यहाँ नहीं है अपितु 'शरीर-सम्बन्धी ममत्व का त्याग' – यह अर्थ यहाँ मूलतः अभिप्रेत है। वास्तव में में तो यह आत्मध्यान या आत्मलीनता की स्थिति में ही सम्भव है, किन्तु व्यवहार में धर्मध्यान के प्रारम्भिक अभ्यास के रूप 'पदस्थ' एवं 'पिण्डस्थ' धर्मध्यानों का अभ्यास 'देववन्दना-विधि' के अङ्ग 'कायोत्सर्ग' का लक्ष्य है।

इसमें प्राथमिकरूप में परमपदों को प्राप्त पंचपरमेष्ठियों का स्मरण/चिन्तन/ध्यान पद्मासन आदि विशिष्ट-आसनों से किया जाता है, ताकि करने वाला श्रावक 'इन पंचपरमेष्ठियों ने जिस तरह आत्मध्यान करके परमपद पाया है, वैसा ही आत्मध्यान करके मैं भी

परमपद को प्राप्त करूँ', - यह भावना प्रबलकर आत्मध्यान की अवस्था प्राप्त कर सके।

चूँकि समस्त संसार से आत्मा का सम्बन्ध शरीर के माध्यम से है, जब शरीर से ही ममत्व छूट जायेगा, तो विश्वभर के पदार्थों और सम्बन्धों से सम्पर्क स्वतः छूट ही जायेगा। इसे 'सामायिक पाठ' में दृष्टान्तपूर्वक निम्नानुसार समझाया गया है-

''तन से जिसका ऐक्य नहीं, हो सुत-तिय-मित्रों से कैसे?
चर्म दूर होने पर तन से, रोम-समूह रहे कैसे?''

अतः शरीर से उपयोग का सम्बन्ध छुड़ाने की दृष्टि से इसकी ये पूजा के 'पंचोपचार' माने गये हैं।

'जय' शब्द-उच्चारण - प्रायः सभी धार्मिक कार्यों एवं पूज्य-पुरुषों के गुण-संकीर्तन के समय हम 'जय' शब्द का उच्चारण करते हैं। किन्तु इस शब्द के अभिप्राय से प्रायः जन अपरिचित हैं। सामान्यतः इस शब्द के 'विजय' आदि कई अर्थ व्याकरण की दृष्टि से प्रचलित हैं, किन्तु धार्मिक दृष्टि से इसके तीन अर्थ माने गये हैं - 1. सावधान, 2. संकल्प और 3. श्रद्धा। अर्थात् 'जय' शब्द के उच्चारणपूर्वक तुम जो कुछ भी कहना या करनाचाहते हो, उसके प्रति 1. सतत सावधान रहो, 2. संकल्पवान रहो एवं 3. अनन्य श्रद्धाभाव रखो।

जयमाला - पूजा के अन्त में पूजा की विषयवस्तु को साररूप में प्रस्तुत करनेवाला गये भाग, जो कि प्रायः प्राकृत, अपभ्रंश या हिन्दी में होता है, तथा मूल-पूजा संस्कृत में होती है। किन्तु आधुनिक-हिन्दी-पूजाकाव्यों में मूलपूजा एवं जयमाला दोनों हिन्दी में ही है।

निर्माल्य – ममत्वरहित होकर क्षेपित/अर्पित अतिनिर्मल, प्रासुक-द्रव्य। स्वामित्व-विसर्जक द्रव्य। पूजा में चढ़ाई गयी पूजन-सामग्री को 'निर्माल्य' कहा जाता है। इसका सेवन मन्दिर का माली या सेवक करता है। अन्य कोई भी श्रावक यदि इसका किसी भी रूप में सेवन करता है, तो उसका दुष्परिणाम बताते हुये ऐसा करने का निषेध किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'नियमसार'(गाथा 32) में जिनमन्दिर जीर्णोद्धार, जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा-मन्दिर-प्रतिष्ठा, जिनेन्द्र-पूजा, रथोत्सव एवं जिनायतनों की रक्षा के लिये अर्पित-द्रव्य (धनराशि, जमीन-जायदाद, एवं अन्य पूजन सामग्री आदि) का लोभवश जो श्रावक अपने लिये सेवन या उपयोग करता है, अपनी स्वार्थसिद्धि करता है, उसे 'अन्तरायकर्म' का तीव्र आस्रव होता है- यह कहा है। इसीप्रकार आचार्य भट्ट अकलंकदेव ने भी 'निर्माल्य' का पदार्थ ग्रहण को 'अन्तराय-कर्म के आस्रव कारण' बताया है। (द्र. राजवर्तिक 6/27/1) अतः मन्दिर के धन को अपनी पैढ़ी में ब्याज आदि पर लेकर व्यापार भी किसी सीमा तक निर्माल्य का उपभोग करना है- ऐसा समझा जाना चाहिए।

निर्वपामि-इति – जल से लेकर फल तक प्रत्येक वस्तु को अर्पित करते समय हम 'निर्वपामीति स्वाहा' कहते समय इस शब्द का प्रयोग करते हैं। यह 'निर्' उपसर्गपूर्वक 'वप्' धातु का वर्तमानकाल (लट् लकार) उत्तमपुरुष एकवचन का रूप है। इसका सामान्यतः अर्थ किया जाता है, 'भेंट करता हूँ' 'अर्पित करता हूँ' या 'चढ़ाता हूँ' (द्र. जैन हिन्दी पूजाकाव्य, पृष्ठ 376)। अन्य ग्रन्थों के अनुसार, इसका अर्थ 'पेश करना' या 'प्रस्तुत करना' है। (द्र. आप्टे शब्दकोश, पृष्ठ 897) ।

इसके अनुसार किसी प्रशस्त-संकल्प (कर्म-नाश, जिनगुण सम्पत्ति आदि) की पूर्ति के लिये प्रतीकात्मक रूप में 'मैं अमुक जल से फल तक की सामग्री प्रस्तुत करता हूँ या अर्पित करता हूँ।' - यह अर्थ होता है।

प्रतिष्ठा - मूर्तियाँ प्रतिष्ठित ही पूज्य होती हैं। जिस पाषाण या धातुमयी प्रतिमा की पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा के मन्त्रों द्वारा पूर्ण विधिपूर्वक 'तदाकार स्थापना-निक्षेप' रूप में प्रतिष्ठा की जाती, वही पूज्य है। उमास्वामी श्रावकाचार के अनुसार-

''बिना न्यासं न पूज्यः स्यान्न वन्द्योऽसौ दृषत्समः।
सुखं न जनयेन्नयासवर्जितः प्राणिनां क्वचित्॥'' (74)

अर्थात् न्यास (मन्त्रन्यास विधि) के बिना प्रतिमा न तो वन्दना के योग्य होती है और न ही पूजा के योग्य होती है। इसके बिना तो वह मात्र पत्थर के समान है, जो किसी प्राणी को सुख का साधन नहीं हो सकती है।

तथा कागज-काष्ठ-प्लास्टिक-मिट्टी आदि में मुद्रित, चित्रित या निर्मित चित्र अथवा प्रतिमा भी प्रतिष्ठा-योग्य न होने से पूज्य नहीं होती है। बिना प्रतिष्ठा के घर में रखी गई धातु या पाषाण की प्रतिमा भी पूज्य नहीं होती है।

मूलसंघ एवं कुन्दकुन्दान्वय की परम्परा में पञ्चकल्याणक-विधिमन्त्रों एवं 'सूर्यमन्त्र' या 'सूरिमन्त्र' की शुद्ध, विधिपूर्वक वेदी शुद्धि करके मन्दिरजी में विराजमान की गयी प्रतिमाजी ही अरिहन्त परमेष्ठी के रूप में पूजन आदि के योग्य होती है।

आरती - 'आङ्' उपसर्गपूर्वक 'रम्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय होकर 'आरति' शब्द बनता है, जिसका अर्थ है 'विराम' या 'रोक

लगाना'। हिन्दी-भाषा में इसे प्राय: 'आरती' लिखा/बोला जाता है। आजकल इसका एक रूढ़-अर्थ प्रचलित हो गया है 'प्रतिमाजी के समक्ष दीप लेकर नीराजन करना।' जबकि जैन पूजन-साहित्य में इसको 'स्तुति' या 'गुणगान' के अर्थ में प्रयोग किया गया है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

''देव-शास्त्र-गुरू रतन शुभ, तीन रतन करतार।
भिन्न-भिन्न कहुँ आरती, अल्प सुगुण-विस्तार॥''

— (देवशास्त्रगुरु-पूजन)

''पञ्चमेरु की आरती पढ़ै सुनै जो कोय।
'द्यानत' फल जानै प्रभु, तुरत महाफल होय॥''

— (पञ्चमेरु-पूजन)

''तीन घाटि नव कोड़ि सब, वन्दौं शीश नवाय।
गुण तिन अट्ठाईस लौं, कहूँ आरती गाय॥''

— (गुरू-पूजन)

''दशलक्षण वन्दौं सदा, मनवाँछित फलदाय।
कहौं आरती भारती, हम होहु सहाय॥''

— (दशलक्षण-पूजन)

''जग आरत भारत महा, गारत करि जय पाय।
विजय-आरती तिन कहूँ, पुरुषारथ गुण गाय॥''

— (सिद्धचक्र-पूजन)

उपरिलिखित उद्धरणों में स्तुति या गुण-कथन करने को ही 'आरती' संज्ञा दी गयी है। दीप प्रज्ज्वलित कर नीराजन करने का इनमें कहीं भी उल्लेख नहीं है।

वस्तुत: जो दीप-प्रज्वलन की पहिले परिपाटी थी, वह

मन्दिरजी में प्रकाश की पर्याप्त व्यवस्था न होने के कारण प्रतिमाजी की दर्शन करने की सुविधा के लिये थी, धार्मिक-क्रिया के रूप में नहीं।

'आरती' शब्द का एक अर्थ विशिष्ट-अर्थ सम्भव है, वह इसके मूल शब्दार्थ **'आङ्' समन्तात् रतिः रमणमारतिः** अर्थात् उपयोग को अन्य समस्त विषयों से हटाकर जिनेन्द्र परमात्मा के गुणों के प्रति इतना समर्पित कर देना कि मन-वचन-कर्म से पूर्ण समर्पित होकर परमात्मा की गुणाराधना हो, अन्य कुछ विचार तक न आये- यही उत्कृष्ट 'आरती' है। रूढ़ि एवं परम्परा के प्रभाव से 'नीराजन' रूप में 'आरती' के नाम से प्रचलित किया पर तथ्यों के आलोक में विचारकर इसका पुनर्मूल्यांकन आज अपेक्षित है।

आह्वानन एवं विसर्जन – वैदिक-पूजा-पद्धति के सोलह उपचारों में 'आह्वानन' एवं 'विसर्जन' हैं। चूँकि उनके यहाँ रागी देवताओं की पूजा है, अतः राग-समन्वित होने से उनके आने तथा उन्हें विदाई की परिकल्पना युक्तिसंगत प्रतीत होती है; तथापि उनके यहाँ भी स्थायी प्रतिष्ठित प्रतिमा में 'आह्वानन' एवं 'विसर्जन' की क्रिया नहीं होती है। अस्थायीरूप से जो मिट्टी आदि की मूर्ति की नियत अवधि के लिए विशेष पूजन आदि के निमित्त स्थापना की जाती है, उसके लिए ही वैदिक पूजा-पद्धति में 'आह्वानन' एवं 'विसर्जन' की प्रक्रिया का विधान है। या फिर नयी प्रतिमा के लिए उनके यहाँ 'आह्वानन' का विधान है।

किन्तु जैनशासन में न तो भगवान् रागी-द्वेषी होते हैं, और न ही वे बुलाने-भेजने से आते-जाते हैं। अतः जैन आम्नाय में उनके 'आह्वानन' एवं 'विसर्जन' का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। यह

वैदिक परम्परा-विहित कर्मकाण्ड का प्रभाव प्रतीत होता है। भले ही कुछ आचारपरक-ग्रन्थों एवं पुराणों में प्रक्षिप्त आदि रूप से ऐसी बातों का उल्लेख होता हो और रूढ़ि के प्रभाव से इनका प्रचलन भी हो, तथापि मूलसंघ की परम्परा में इन बातों को कोई स्थान नहीं है – यह तथ्य हमें सुनिर्णीतरूप से समझ लेना होगा।

जैन-आम्नाय में मात्र 'स्थापना' एवं बाद में 'सन्निधिकरण' का विधान मिलता है। इनमें से 'स्थापना' तो साक्षात् वेदी में विराजमान-प्रतिमा में की जाती है। यदि कदाचित् परिस्थिति-विशेष के कारण साक्षात् जिनप्रतिमा का सान्निध्य नहीं मिल सके, तो पीले चावलों या लौंगों में उनकी 'अतदाकार स्थापना' करके पूजन करने का विधान है।

''जो नित्य पूजन मन्दिर में की जाती है, उसमें 'ठोने' पर जो पीले चावलों अथवा लवंग आदि से स्थापना की जाती है, वह वेदी में चिह्न-सहित विराजमान तीर्थङ्कर के अतिरिक्त अन्य तीर्थङ्करों, भगवन्तों आदि की स्थापना का प्रतीक है'' – ऐसा संहितासूरि पण्डित नाथूलालजी शास्त्री का अभिमत है। 'स्थापना' तो प्राय: सम्पूर्ण पूजन-विधि में ही है। क्योंकि केसरमिश्रित जल में बावन-चन्दन, अखण्ड चावलों में अक्षत/मुक्ताफल, पीले चावलों में विविध पुष्पों, सफेद चिटकों (नारियल के टुकड़ों) में विविध व्यंजनरूप नैवेद्य, केसरिया चटकों में रत्नदीपक, बादाम आदि के प्रासुक-फलों में विविध फलों का संकल्प लेकर 'स्थापना-निक्षेप' से ही प्राय: पूरी पूजनविधि की जाती है।

यह अहिंसक जैनधर्म की मूल-आम्नाय की विधि है, चूँकि सचित्त-पदार्थों का प्रयोग, अन्य प्राणियों के प्राणपीड़न के

बिना सम्भव नहीं है, अतः उनका स्पष्ट–निषेध है। इसी उद्देश्य से रात्रि में द्रव्यपूजन करने का एवं दीप–धूप आदि का निषेध है।

'विसर्जन' का विधान तो जिन–आम्नाय में है ही नहीं; हाँ पूजनविधि के अन्त में विधि में कमी या अविनय रही हो, तो उसके प्रति 'क्षमापना' का भाव लेकर किया जानेवाला 'क्षमापन' अवश्य यहाँ है। अज्ञानवश इस 'क्षमापना' को लोगों से 'समापन' या 'विसर्जन' मान लिया है।

निःसही – 'णिसही', 'निसही', या 'निःसही' – शब्द के बारे में अनेकविधि व्याख्यायें प्रचलित हैं। इसे स्वाध्याय–भूमि, निर्वाण–भूमि, पाप–क्रियाओं के त्याग का संकल्प तथा साधुओं के रहने का स्थान–इन अर्थों में भी माना गया है। जबकि प्रस्तुत प्रकरण में इसका अभिप्राय मन्दिर जी में प्रवेश करते समय उच्चरित शब्द के रूप में है। (द्र. 'जैन हिन्दी पूजा काव्यःपरम्परा और आलोचना', पृष्ठ 373) 'देववन्दना–विधि' में मन्दिरजी के अन्दर प्रवेश करते समय इस शब्द का तीन बार उच्चारण करते हुए अनेक विद्वानों ने इसे 'निषीधिका' या 'नसियां' का पर्यायवाची भी माना है, किन्तु देववन्दना के प्रसङ्ग में उसके उच्चारण के विधान का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता है। यहाँ इसका परम्परित अर्थ है –"मैं जगत् के समस्त पाप एवं परिग्रह को छोड़कर इस पवित्र–स्थान में प्रवेश करता हूँ।"

अन्यत्र इस शब्द का ऐसा भी अभिप्राय प्राप्त होता है कि इसके उच्चारण से जिनेन्द्रदेव एवं उच्चारणकर्त्ता भव्यजीव–इन दोनों के मध्य जितने भी बाधक तत्त्व हैं, वे सभी दूर हो जायें। अर्थात् अब वह भव्यजीव मन से, वचन से एवं शरीर/काय से जिनेन्द्रदेव के

गुणचिन्तन, गुणकथन एवं बहुमान या विनय के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति-वस्तु-स्थान या भाव का चिन्तन, चर्चा अथवा क्रिया नहीं करना चाहता है। जो तत्त्व उसे जिनेन्द्रदेव के प्रति मन-वचन-काय से समर्पित होने से रोकते हों, वे सभी दूर हो जायें; ताकि वह समर्पित होकर जिनेन्द्रवन्दना-विधि कर सके। इससे स्पष्ट होता है कि "बाह्य बाधकतत्त्व तो दूर हों ही, हम भी अपने मन में वीतराग-विरोधी रागात्मक चिन्तन, रागवर्धक चर्चा-वार्त्ता, एवं सांसारिक प्रमाद आदि की क्रियायें जिनमन्दिर के भीतर न करें" - यही तीन बार 'नि:सही' शब्द के उच्चारण का उद्देश्य है। यह वस्तुतः एक संकल्प है। तथा तीन बार इसका उच्चारण मन-वचन-कर्म से इस संकल्प का पालन करने की प्रतिज्ञा का सूचक है।

पूजन के अष्ट द्रव्य- देव-शास्त्र-गुरु पूजन में 'स्थापना' में ही आता है-

"पूजों पद अरिहंत के, पूजौं गुरुपद सार।
पूजों देवी सरस्वती, नितप्रति अष्टप्रकार॥"

इसमें स्पष्टरूप में कहा गया है कि - "पूजन अष्टप्रकार द्रव्यों से करनी चाहिये।" इन अष्टद्रव्यों का उल्लेख निम्न पद्य में हम प्रतिदिन करते हैं -

"उदक-चन्दन-तन्दुल-पुष्पकैश्चरु-सुदीप-सुधूप फलार्घ्यकैः।
धवल-मङ्गलगान-रवाकुले जिनगृहे जिननाममहं यजे॥"

अर्थ - उदक (जल), चन्दन, तन्दुल (अक्षत), पुष्प, चरू (नैवेद्य), दीप, धूप, और फल लेकर मङ्गलपाठों को पढ़ते हुये मैं जिनमन्दिर में जिनेन्द्र परमात्मा के (सहस्र) नामों का स्तवन/पूजन करता हूँ।

आचार्य माघनन्दिकृत 'अभिषेक पाठ' में भी इनका दो बार उल्लेख है–

''पानीय-चन्दन-सदक्षत-पुष्पपुञ्ज, नैवेद्य-दीपक-सुधूप-फल-ब्रजेन,
जल-गन्धाक्षतैः पुष्पैश्चरु-दीप-सुधूपकैः फलैरर्घैजिनमर्चे...... ॥''

इन आठों द्रव्यों का संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है–

1. **जल** – 'ज' अर्थात् 'जन्म' तथा 'ल' अर्थात् 'लय' या 'मरण'; 'जन्म' और 'मरण' का चक्र छूटे तथा इसके कारणभूत कर्ममल का परिमार्जन हो–यही जल चढ़ाने का उद्देश्य है। इसका उत्कृष्ट परिचय 'मुनि-मन-सम-उज्जवल नीर' कहकर दिया गया है। तथा 'जल-स्वभाव मल-छीन' कहकर इसकी प्रकृति बतायी गयी है।

2. **चन्दन** – 'चदि आह्लादने' धातु से 'चन्दयति आह्लादयति इति चन्दनम्'– ऐसी व्युत्पत्ति बनती हैं। जो कषायों का ताप शमनकर, चित्त को शान्ति-शीतलता प्रदानकर जीव को आह्लादित करे, वहीं चन्दन का अभिप्राय है।

3. **अक्षत**– 'न क्षतं अक्षतं' अर्थात् जो कभी न टूटे, वह अक्षयपद 'मोक्ष' है; उसके प्रतीक, निर्मल, धवल एवं सुगन्धित अक्षत (चावल) हैं। 'तिलोयपण्णत्ती' आदि अनेक ग्रन्थों में इसके स्थान पर 'तन्दुल' शब्द का प्रयोग मिलता है।

4. **पुष्प** – पूजा का 'पुष्प' से घनिष्ट सम्बन्ध है। दक्षिण-भारत में पूजा के लिए 'पूजे' शब्द का प्रयोग मिलता है, जिसमें 'पू' शब्द का अर्थ है 'पुष्प' तथा 'जे' का अर्थ है 'चढ़ाना' या 'अर्पित करना'। तद्नुसार 'पुष्प' चढ़ाना ही 'पूजा' है। '**पुष्यति विकसति इति पुष्पः**' की व्यत्पत्ति के अनुसार जो चित्त को विकसित अर्थात्

प्रमुदित करे, वह पुष्प है। जैन पूजाविधि में 'पुष्प चढ़ाना' समस्त ऐहिक-वासनाओं के विसर्जन का प्रतीक है। कहा भी है - ''पुहुप सुवास उदार, खेद हरै मन सुचि करै।''

5. **नैवेद्य** - 'निश्चयेन वेद्यं क्षुधा-निवारकमिति नैवेद्यम्'— **अर्थात्** जो क्षुधारूपी व्याधि का उपशमन करने में समर्थ हो, वह 'नैवेद्य है। इसे 'पक्वान्न' या 'मिष्ठान्न' का वाचक भी समझा जाता है। 'जैनपूजाविधि' में इसका उल्लेख 'समस्त पौद्गलिक भोगों एवं तत्सम्बन्धी संयोगों से मुक्त होकर अपने सहज आत्मस्वभाव की प्राप्ति के प्रतीक के रूप में है' -

''सकल-पुद्गल-संग-विवर्ज्जनं, सहज-चेतनभाव-विलासकम्,
सरस-भोजन-नव्य-निवेदनात्, परमनिवृत्ति-भावमहं स्पृहे॥''

6. **दीप** - 'दीप्यते प्रकाश्यते-मोहान्धकारं विनाशयति इति दीपः', इसे अन्धकार-विनाशक प्रकाशोपकरण के रूप में जाना जाता है। अज्ञानरूपी अन्धकार के विनाश के साधन सम्यग्ज्ञानरूपी दीप के प्रतीक-अर्थ में इसका प्रयोग है।

7. **धूप**- 'धूप्यतेऽष्टकर्मणां विनाशो भवति अनेन इति धूपः।' इसे दस प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों से निर्मित होने के कारण 'दशांग-धूप' भी कहा जाता है। इसे पूजा-विधि में 'विभाव-परिणति' एवं 'अष्टकर्मों के विनाश' का प्रतीक माना गया है।

8. **फल** - 'फलं मोक्षं प्रापयति इति फलम्।' 'फल' का लोक में 'परिणाम' या 'निष्कर्ष' भी कहा जाता है। 'परीक्षाफल' शब्द का इसका उदाहरण है। जैनदर्शन में 'मोक्ष' को 'लक्ष्य' माना गया है, सम्पूर्ण-साधना का 'चरमफल' माना गया है; उसी की प्राप्ति हो, इस प्रतीक-भाव से 'फल' चढ़ाने का विधान पूजन में

किया है।

इन अष्टद्रव्यों को चढ़ाने के कुछ अभिप्राय निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है–

(क) ''सलिलं शान्तिकं चैव, गन्धमायुष्यवर्धनम्।
अक्षतं शत्रुनाशाय, पुष्पमैश्वर्यमेव च॥
नैवेद्यं लभते राज्यं, दीपं ज्ञानप्रवर्धनम्।
धूपं दहति पापानि, फलं च फलमुत्तमम्॥
अर्घ्यं सर्वसिद्ध्यर्थं, शान्तिधारा जगत्त्रयम्।''

अर्थ – '**जल**' शान्ति-प्रदान करनेवाला है, '**गन्ध**' (चन्दन) से अमरता आती है। (संसार-ताप दूर होता है), '**अक्षत**' से कर्मशत्रु नष्ट हो जाते हैं, '**पुष्प**' अनन्तचतुष्टयरूपी ऐश्वर्य का प्रतीक है, '**नैवेद्य**' से मोक्षरूपी राज्य मिलता है, जो अभाव और दारिद्र्य-दीनता के विनाश का प्रतीक है; '**दीप**' से ज्ञान अनन्तता के प्राप्त होता है, '**धूप**' से पापभाव नष्ट हो जाते तथा '**फल**' से निर्वाणरूपी उत्तम-फल मिलता है। '**अर्घ्य**'-समस्तसिद्धियों का प्रदाता है तथा **शान्तिधारा** तीनों लोकों में शान्ति की भावना के प्रसार की प्रतीक है।

पण्डितप्रवर आशाधरजी 'सागर धर्मामृत' (31) में आगे स्पष्ट करते है कि उक्त जल-चन्दनादि द्रव्यों से जिनेन्द्रदेव की पूजा करनेवाला भव्य **सम्यग्दर्शन की विशुद्धि को प्राप्त करता है,** जिससे उसे (दर्शनविशुद्धि) के द्वारा तीर्थङ्करपद की प्राप्ति की सामर्थ्य आती है। इन अष्ट-द्रव्यों को 'संस्कृत-सिद्धपूजन' के 'भावाष्टक' में अत्यन्त प्रभावी ढंग से वर्णित किया गया है। प्रबुद्ध एवं जिज्ञासु पाठकों के लिये वह अर्थसहित यहाँ प्रस्तुत है–

1. जल

निजमनोमणिभाजन–भारया, शम–रसैक–सुधारस–धारया।
सकल–बोधकला–रमणीयकं, सहजसिद्धमहं परिपूजये॥

अर्थ – अपने मनरूपी–मणिपात्र में भरित शमरस (समताभाव) मयी अमृतरूपी जलधारा के द्वारा मैं सकल–विमल केवलज्ञान से सुशोभित सहजसिद्धों की पूजा करता हूँ।

2. चन्दन–

सकल–कर्म–कलंकविनाशनैरमलभाव–सुवासित–चन्दनैः।
अनुपमान–गुणावलि–नायकं, सहजसिद्धमहं परिपूजये॥

अर्थ – सम्पूर्ण कर्मरूपी–कलंक का विनाश करनेवाले निर्मलभावरूपी सुगन्धित–चन्दन से उपमान–रहित (अनुपम) गुण–समूह के नायक सहजसिद्धों की मैं पूजा करता हूँ।

3. **अक्षत**–

सहजभाव–सुनिर्मल–तन्दुलैः सकलदोष–विलास– विशोधनैः।
अनुपरोध–सुबोधनिधानकं, सहजसिद्धमहं परिपूजये॥

अर्थ– स्वाभाविक (परमपरिणामिक–भावरूपी) अतिनिर्मल तन्दुलों (चावलों), जो कि सम्पूर्ण दोषों का विस्तार करनेवाले हैं, के द्वारा अब्याबाध–सम्यग्ज्ञान के निधान सहज–सिद्धों की मैं पूजा करता हूँ।

4. **पुष्प**–

समयसार–सुपुष्प–सुमालया, सहज–कर्मक–रेणु–विशोधया।
परम–योगबलेन वशीकृतं, सहजसिद्धमहं परिपूजये॥

अर्थ – समयसार अर्थात् शुद्धात्मतत्त्वरूपी श्रेष्ठ–पुष्पमाला, जोकि अनादि–सम्पृक्त कर्मरज का विशोधन करनेवाली है, के द्वारा

परमयोग के बल से वशीकृत सहजसिद्धों की मैं पूजा करता हूँ।

5. **नैवेद्य** -

अकृतबोध-सुदिव्य-निवेद्यकैर्विहित-जाति-जरा मरणान्तकैः।
निरवधि-प्रचुरात्म-गुणालयं, सहजसिद्धमहं परिपूजये॥

अर्थ - अकृत्रिम स्वाभाविक ज्ञानरूपी नैवेद्य जो कि जन्म-जरा और मृत्युरूपी दोषों को नष्ट करता है, के द्वारा अनन्तकाल तक अपरिमित-आत्मगुणों के निवास-स्थान सहज-सिद्धों की मैं पूजा करता हूँ।

6. **दीप**-

सहजरत्न-रुचि-प्रतिदीपकैः, रुचि-विभूति-तमः प्रविनाशनैः।
निरवधि-स्वकिवास-विकासनं सहजसिद्धमहं परिपूजये॥

अर्थ : भौतिक पदार्थों की रुचिरूपी मोहान्धकार का निर्मूल विनाश करनेवाले, निरवधि आत्म-विकास का विकास करनेवाले सहज-सिद्धों की मैं पूजा करता हूँ।

7. **धूप**-

निजगुणाक्षय-रूप-सुधूपनैः, स्वगुणघाति-मल-प्रविनाशनैः।
विशदबोध सुदीर्घ-सुखात्मकं, सहजसिद्धमहं परिपूजये॥

अर्थ : आत्म-गुणों के घातक कर्मरूपी मल को नष्ट करनेवाली अपने अविनाशी, गुणरूपी धूप के द्वारा निर्मल सम्यग्ज्ञान एवं अनन्तसुख-स्वरूपी सहजसिद्ध परमात्मा की मैं पूजा करता हूँ।

8. **फल**-

परमभाव-फलावलि-सम्पदा, सहजभाव-कुभाव-विशोधया।
निजगुणस्फुरणात्म-निरंजनं, सहजसिद्धमहं परिपूजये॥

अर्थ : सहजरूप के कुभावों का शोधन करनेवाली, उत्कृष्ट

भावरूपी फल की सम्पत्ति से अपने गुणों का स्फुरण होने से निरंजनपद को प्राप्त सहजसिद्धों की मैं पूजा करता हूँ।

9. **अर्घ्य**–

नेत्रोन्मीलि-विकासभाव-निवहैरत्यन्तबोधाय वै,
वार्गन्धाक्षपुष्प-दाम-चरुकैः सद्दीप-धूपैः फलैः।
यश्चिन्तामणि-शुद्धभाव-परम-ज्ञानात्मकैरर्चयेत्,
सिद्धं स्वादुमगाध-बोधमचलं संचर्चयामो वयम्॥

अर्थ : आँखों को खोल देनेवाले (विस्मयकारी) विकास को प्राप्त हुये भावसमूह के द्वारा जो पुरुष चिंतामणि के समान शुद्धभाव और उत्तमज्ञानरूपी जल-गंध (चन्दन) अक्षत-पुष्प-नैवेद्य-दीप-धूप और फलों (अर्घ्य) से आत्मा का अनुभव करनेवाले, बाधारहित ज्ञान के स्वामी अचल सिद्ध-परमात्मा की जो पूजा करता है; उसके लिए वह पूजा अनन्तज्ञान का कारण होती है। अतएव हम भी उन सिद्ध-परमात्मा की पूजा करते हैं।

कुछ लोग भावों की प्रधानता का निरूपण पढ़कर/सुनकर द्रव्य चढ़ाने में अनुत्साहित होने लगते हैं, उनके लिये पण्डितप्रवर टोडरमलजी के ये वचन पढ़ने योग्य एवं विचार करने योग्य हैं–

"केवली के व प्रतिमा के आगे अनुराग के उत्तम-वस्तु रखने में दोष नहीं है। धर्मानुसार से जीव का भला है।"

(मोक्षमार्गप्रकाशक, 5/164)

हाँ, इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि चढ़ायी जानेवाली द्रव्यसामग्री 'अचित्त' (जीवरहित) तथा 'प्रासुक' (शुद्ध एवं पुनः न उगने योग्य) ही होनी चाहिये।

पूजन के द्रव्यों के बारे में तीन प्रकार के वर्णन पूजन–

साहित्य में प्राप्त होते हैं :-

1. कुछ पूजनों में चढ़ायी जानेवाली द्रव्य-सामग्री की विशेषताओं का वर्णन होता है, यथा -

"पकवान निवाजे, स्वाद विराजे, अमृत लाजे, क्षुध भाजे।
बहुमोदक छाजे घेवर खाजे, पूजन-काजे करि ताजे॥"

—(सिद्धचक्र-पूजन, 'नैवेद्य' का छन्द)

वस्तुतः इस तरह के पद्यों को कुछ लोग बहुत आदर्श नहीं मानते हैं; वे कहते है। कि "जब ये चीजें मन्दिरजी में ले जाना/चढ़ाना मना हैं, तब फिर इन सांसारिक वस्तुओं की चर्चा की हम पूजन में भगवान् के सामने बैठकर क्यों करें?" - यह प्रश्न भी ठीक ही है, क्योंकि जब मन्दिर में धर्मध्यान करना है और इन भोग-पदार्थों का चिन्तन कर 'आर्त्त-रौद्रध्यान' क्यों किया जाये? किन्तु गहराई से चिन्तर करने पर यह विधि मनोवैज्ञानिक लगती है। हम प्रभु के चरणों में बैठकर उनके गुणों के स्तवन आदि करते रहें, तो हमारी लौकिक पदार्थों के प्रति उस समय रुचि कुछ घटी है या नहीं? - इसका पता नहीं चल पाता है, किन्तु जब हम इन लौकिक पदार्थों का उल्लेख करते हैं, तब हमारे मन की परीक्षा हम स्वयं कर सकते हैं कि तब हमारा मन इन पदार्थों की ओर आकर्षित होता है या प्रभु के गुणों की ओर आकर्षित रहता है।

2. कुछ अन्य पूजनों में इसका परिष्कार करते हुये चढ़ायी जानेवाली सामग्री की गुणवत्ता का उल्लेख करते हुये वहीं पर आराध्य प्रभु के गुणों की उत्कृष्टता प्रतिपादित करते हैं। यथा -

"उत्तम अक्षत जिनराज, पुंज धरै सोहै।
सब जीते अक्ष-समाज, तुम सम अरु को है॥"

– (नन्दीश्वर–पूजन, 'अक्षत' का छन्द)

ऐसे स्थलों पर पूर्वोक्त–तथ्य स्पष्ट शब्दों में होने से इसकी महत्ता भी स्पष्ट है।

3. तीसरे प्रकार की पूजनों में लौकिक पदार्थों की स्पष्ट व्यर्थता प्रतिपादित करते हुए उनके त्याग एवं आत्मिक गुणों की प्राप्ति की भावना भायी गयी है। यथा–

(अ) ''यह अर्घ्य कियो निज–हेतु, तुमको अरपत हौं।
'द्यानत' कीनो शिव–खेत, भूमि समरपत हौं॥''

– (नन्दीश्वर–पूजन, 'अर्घ्य' का छन्द)

(ब)''जग के जड़–दीपक को अब समझा था मैंने उजियारा।
झंझा के एक झकोरे में जो बनता घोर–तिमिर कारा॥
अतएव प्रभो! यह नश्वर–दीप समर्पण करने आया हूँ।
तेरी अन्तर–लौं से निज अन्तर–दीप जलाने आया हूँ॥''

– (देव–शास्त्र–गुरु–पूजन, 'दीप' का पद्य)

इन तीनों प्रकारों का अपना विशिष्ट महत्त्व है। विभिन्न रुचि एवं संस्कारों वाले जीवों को पूजनकार्य में आकर्षित एवं नियोजित करने के लिये ये सभी प्रकार सार्थक एवं उपयोगी हैं। कोई भी निष्कृष्ट नहीं है।

कई विद्वान् अष्टद्रव्य से पूजन की परम्परा को अधिक प्राचीन नहीं मानते हैं। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्दकृत 'दशभक्ति' में अनेकत्र इनका उल्लेख आया है। देखें –

''दिव्वेहि गंधेहि दिव्वेहि अक्खेहिं, दिव्वेहि पुप्फेहिं, दिव्वेहि दीवेहिं, दिव्वेहि धूवेहिं, दिव्वेहि चुण्णेहिं, दिव्वेहि वासेहिं, दिव्वेहि ण्हाणेहिं...................।'' – (दसभत्तिसंगहो, पृष्ठ 158)

यहाँ क्रम-व्यत्यय है तथा न्यूनाधिक्य भी है; किन्तु कुल मिलाकर आठों द्रव्यों के नाम उपलब्ध हैं, जिन्हें निम्नानुसार समझा जा सकता है-

1. दिव्वेण ण्हाणेण - (स्नानीयं जल) शुद्धप्रासुक जल।
2. दिव्वेण गंधेण - सुगन्धित चन्दन (केसर-चंदन-मिश्रित जल)
3. दिव्वेण अक्खेण - अखण्ड अक्षत (सफेद चावल)
4. दिव्वेण पुप्फेण - पुष्प (पीले चावल)
5. दिव्वेण चुण्णेण - नैवेद्य (सूखे गोले की सफेद चिटक)
6. दिव्वेण दीवेण - दीपक (सूखे गोले की केसरिया चिटक)
7. दिव्वेण धूवेण - सुगन्धित धूप (ताजी बनी सूखी चन्दन धूप या लौंग-चूरा)
8. दिव्वेण वासेण - फल (प्रासुक-न उगने योग्य सूखे फल)

पूजनों एवं अन्य-ग्रन्थों में जो इन अष्टद्रव्यों के लौकिक शब्द मिलते हैं, उनसे 'पूजन में सचित-द्रव्य चढ़ाये जा सकते हैं'- ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वे 'द्रव्य' अर्थात् देवोपनीत (देवताओं द्वारा कल्पवृक्षों से लाये गये) होने से अचित्त एवं प्रासुक ही होते हैं, जबकि भूलोक की वही वस्तुयें अचित्त एवं प्रासुक नहीं होती हैं। यही तथ्य संकेतित करने के लिये यहाँ 'दिव्वेण' प्रयोग प्रत्येक द्रव्य के साथ किया गया है।

पूजन में अष्ट-द्रव्य चढ़ाने का उद्देश्य अष्टविध-कर्मों का विनाश है।

पूजन के लिये पात्रता-

मन-वचन-काय इन तीनों योगों की समर्पित वृत्ति से पूजन की जाती है। 'बीस तीर्थङ्कर' में कहा है- ''तिन सबकी पूजा करौं,

मन-वच-तन धरि सीस।'' 'समुच्चय-पूजन' के कर्त्ता लिखते हैं – ''नमूँ चित्त हुलसाय'' – अर्थात् मन में अतिप्रसन्नता एवं उत्साह के भाव से पूजन की जानी चाहिए; मजबूरी या खेदखिन्नता से नहीं। इसीलिये अकेले पुजारी से पूजन कराने की प्रथा गलत है, क्योंकि वह तो नौकरी के रूप में भार टालने या औपचारिकता पूरी करने के लिये पूजन करता है। प्रसन्नचित्त से की गयी पूजन ही उत्तम-फल की साधन बनती है। अतः श्रावकगण स्वयं सोल्लासभाव से मन-वचन-काय की एकाग्रतापूर्वक पूजन करें- यही पूजन की पात्रता है।

पूजन खड़े होकर या बैठकर –

''इहविधि ठाड़ौ होयकैं.......'' 'विनयपाठ' की पंक्ति में तो पूजन 'खड़े होकर ही करने' का स्पष्टरूप से विधान किया गया है। कोई व्यक्ति शारीरिक अशक्तता आदि अपरिहार्य कारण से खड़ा रह सकने में असमर्थ हो, तो भले ही वह बैठकर पूजन कर ले; किन्तु नियमानुसार तो खड़े होकर ही पूजन की जानी चाहिये।

पूजा के पर्यायवाची नाम –

''यागो यज्ञः कृतः पूजा सपर्येज्याध्वरो मखः।
मह इत्यपि पर्याय-वचनान्यर्चनाविधेः॥''(महापुराण, 67/193)

अर्थात् याग, यज्ञ, कृतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख एवं मह- ये नौ नाम 'पूजा' के पर्यायवाची नाम हैं।

प्रक्षाल या अभिषेक –

यह पूजन के अङ्ग के रूप में वर्णित हुआ है, किन्तु आजकल इसके बारे में कई तरह की भ्रान्तियाँ अज्ञानवश प्रचलित हैं। अतः

इसके सम्बन्ध में स्पष्टीकरण अपेक्षित है।

कई लोग मानते हैं कि 'प्रक्षाल' या 'अभिषेक' – ये दोनों भिन्न–भिन्न हैं तथा बहुत से लोग इन दोनों को एक भी मानते हैं। विद्वानों ने पूजनाङ्ग के रूप में दोनों शब्दों का प्रयोगकर दोनों में अभेद स्थापित किया है; तथापि इसका स्वरूप पञ्चकल्याणक –प्रसङ्ग में होनेवाले जन्माभिषेक से भिन्न है; क्योंकि जन्माभिषेक बालक–तीर्थङ्कर का किया जाता है तथा प्रतिमाजी की साक्षात् अरिहन्त–परमात्मा का स्वरूप माना गया है। अतःअरिहन्त के जन्माभिषेक की कल्पना भी आगम के अनुकूल नहीं है। जन्माभिषेक तो मात्र जन्मकल्याणक पूजा के समय पञ्चकल्याणक–प्रतिष्ठा महोत्सवों में किया जाता है।

हाँ! जो जलाभिषेक पूजन का अङ्ग मानकर किया जाता है, उसका स्वरूप भी अरिहन्त के साथ बहुत मेल नहीं खाता है। अर्थात् यदि हम प्रतिमाजी को साक्षात् अरिहन्त मान लें, तब तो उनके अभिषेक का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता; क्योंकि अरिहन्त परमात्मा के तो धूलिकण आदि बैठते/सम्पृक्त होते ही नहीं है, जिनके प्रक्षालनार्थ अभिषेक या प्रक्षाल की आवश्यकता पड़े। किन्तु मन्दिरजी में जो कृत्रिम जिनबिम्ब विराजमान होते हैं, उन पर धूलिकण एकत्रित हो जाते हैं; अतः उनको प्रक्षालित करने के निमित्त 'प्रक्षाल' या 'अभिषेक' की विधि पूजन के अङ्ग के रूप में कही गयी है।

यह प्रक्षालन मात्र शुद्ध–प्रासुक–जल से होना चाहिए और मात्र पुरुषों के द्वारा ही किया जाना चाहिए; क्योंकि जब मुनि–अवस्था में ही स्त्री से सात हाथ दूर रहने की प्रतिज्ञा 'ब्रह्मचर्य महाव्रत' ग्रहण करते समय ली जाती है, तब अरिहन्त–अवस्था में

स्त्री-स्पर्श का प्रसङ्ग सम्भव ही नहीं है। अट्ठारह हजार प्रकार के शील के धारक महापुरुष को यदि स्त्रियाँ अज्ञानता या मोहवश बलात् स्पर्श करना चाहें, तो यह 'उपसर्ग' की श्रेणी में माना जायेगा। चूँकि साक्षात् अरिहन्तदेव के उपसर्ग सम्भव ही नहीं है, तो फिर उनकी प्रतिमाजी पर उपसर्ग करने जैसी कल्पना भी कष्टकर है। जब स्त्री-स्पर्श का ही निषेध है, तो स्त्री-प्रक्षाल का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है।

इसीप्रकार जो दूध-दही-घी आदि से अभिषेक की प्रवृत्तियाँ देखी जातीं हैं, वे भी मूलसंघ की आम्नाय के नितान्त विपरीत हैं। ये प्रवृत्तियाँ पहिले भी जो उल्लिखित प्राप्त होती हैं, वे 'यापनीय संघ' का प्रभाव है। वस्तुतः इनका प्रचलन उस युग में हुआ, जब विदेशी आक्रमणकारी पत्थर की प्रतिमाजी तोड़ देते थे, तथा पत्थर व धातु की प्रतिमाजी भारी होने के कारण श्रावक उन्हें लेकर भी नहीं जा पाते थे; तब अपवादस्वरूप लकड़ी (काष्ठ) की प्रतिमा बनाने का विधान किया था, ताकि उन्हें विपत्ति पड़ने पर आसानी से उठाकर ले जाया जा सके और उनकी सुरक्षा सम्भव हो सके। इसी से 'काष्ठासंघ' का प्रवर्तन हुआ। ये लकड़ी की प्रतिमायें रूखी-निस्तेज न हों, इनमें दीमक आदि से क्षरण न हो- इस दृष्टि से घी आदि चिकने पदार्थों से भी अभिषेक-कभी-कभी कर दिया जाता था, ताकि लकड़ी में दरारें न पड़े और वह टूटे/सड़े नहीं। अकेले जल से उसका प्रक्षाल करने से वह काष्ठप्रतिमा गल सकती थी एवं उसमें क्षरण सम्भव था। किन्तु यह काष्ठासंघी अभिप्राय मूल-आम्नाय में स्वीकृत नहीं हो सका। तथा आज तब पत्थर एवं धातु की प्रतिमायें बनती हैं, तब तो इन सब वस्तुओं से अभिषेक का कोई

अपवादस्वरूप औचित्य भी शेष नहीं रह गया है।

अब मात्र पूर्वाग्रह से ही ये कार्य किये जायें – तो खेद ही व्यक्त किया जा सकता है। किन्तु इतना अवश्य ध्यान रखें कि हम पूजा करते समय प्रतिज्ञा करते हैं कि ''मैं मूलसंघ के आम्नाय के अनुसार ही जिनेन्द्र पूजन करूँगा'' (''श्री मूलसंघसुदृशां सुकृतैकहेतुः जैनेन्द्र–यज्ञविधिरेष मयाऽभ्यधायि।'') – तथा **मूलसंघ के आम्नाय में मात्र शुद्ध प्रासुकजल से ही जिनाभिषेक का विधान है,** अन्य किसी वस्तु से नहीं। यदि हम अन्य किसी वस्तु से अभिषेक आदि करते हैं तो हमें **प्रतिज्ञा–भङ्ग** करने का दोष लगेगा।

इस सम्बन्ध में एक और प्रश्न आता है कि आजकल जब जो मन्दिर जी में आता है, थोड़ा जल डाल लेता है। – यह सब नितान्त अज्ञान है। सर्वप्रथम मन्दिरजी में जो भव्यजीव आयें, वे एकबार ही शुद्ध वस्त्रों में (जो कि मन्दिरजी में ही पहिने जायें, घर से पहिनकर आये वस्त्रों में नहीं) प्रासुक जल से विधिपूर्वक श्रीजी को विराजमान कर 'प्रक्षाल' या 'अभिषेक' करें। अभिषेक के तुरन्त बाद सूखे, साफ, मुलायम वस्त्र–खण्ड से श्रीजी को पोंछकर वेदी में विराजमान करें; तभी पूजन प्रारम्भ करें। जिन्हें प्रक्षाल का नियम हो, वे पहिले मन्दिरजी आयें और प्रक्षाल करें। ऐसा नहीं कि जब जो आया, श्रीजी को उठाकर थाली में विराजमान किया और जलधारा कर दी।

यहाँ कोई कहे कि ''शास्त्रों में तो ऐसा निषेध कहीं नहीं मिलता है,'' तो भाई! पहिले ऐसी अज्ञानतापूर्ण क्रियायें प्रचलित ही नहीं थी, निषेध किसका करते? अब हमारे अज्ञान एवं प्रमाद के

कारण ऐसे प्रसङ्ग बनने लगे हैं, तब निषेध करना पड़ रहा है। हाँ! शास्त्रों में ऐसा विधान भी तो नहीं है कि श्रीजी को अभिषेक के बाद भी थाली में जल के मध्य रखे रहो, या अब जो आये श्रीजी को उठाकर थाली में विराजमान कर अभिषेक कर ले, भले ही उस दिन प्रक्षाल हो चुका हो।

कोई कहे कि ''हमें तो ऐसी प्रतिज्ञा दिलायी गयी है कि प्रक्षाल देखकर ही भोजन करना, तो भाई! यह प्रतिज्ञा तो बहुत सोच-विचारकर दिलायी गयी प्रतीत होती है। चूँकि प्रक्षाल सुबह -सुबह ही एक बार होता है, तो आप भी बिना प्रमाद किये सुबह -सुबह जिनदर्शन-पूजन को पहुँचें-इसका यह अभिप्राय है। न कि आप छत्रपतियों की तरह कभी भी मन्दिरजी पहुँचे और कहें कि ''हमारा तो प्रक्षाल देखने/करने का नियम है, अतः हम प्रक्षाल देखेंगे/करेंगे।'' - यह सब दुराग्रह है, अच्छे उद्देश्य से दिलायी गयी प्रतिज्ञा का दुरुपयोग है।

कलिप्रभाव से आजकल ऐसे भी प्रसङ्ग बनने लगे हैं कि कहीं-कहीं आठ-दस बजे तक भी मन्दिरजी में प्रक्षाल नहीं होता है, सूटेड-बूटेड लोग मन्दिरजी आते हैं और हाथ जोड़कर चले जाते हैं। - यह भी एक बड़ी भारी विडम्बना है। वास्तव में तो प्रातःकाल सूर्योदय के समय (सूर्योदय के पूर्व नहीं) ही प्रक्षाल हो जाना चाहिए। यह समाज का दायित्व है कि इसके निमित्त व्यवस्था करे। किन्तु यहाँ 'व्यवस्था' का अर्थ पुजारी की नियुक्ति करके उससे पूजन-प्रक्षाल कराना नहीं है, अपितु आपस में प्रोत्साहित कर या पाली बाँधकर मन्दिरजी के निकटस्थ रहनेवाले साधर्मीजनों को इस तरह नियोजित करना कि प्रतिदिन नियम से प्रातःकाल ही

श्रीजी का प्रक्षालन हो जाये। यदि ऐसा नहीं हो पाता है, तो इसका दोष उस क्षेत्र की पूरी समाज एवं पंचों पर लागू होगा, जिन्होंने जिम्मेवारी लेकर मन्दिरजी का निर्माण कराया और श्रीजी की प्रतिष्ठा करायी है।

अधिक क्या कहें, सामान्यतः यह जान लेना चाहिए कि नित्यप्रति जो शुरू में मन्दिरजी आयें, वे स्नानकर शुद्ध वस्त्र पहिनकर, शुद्ध प्रासुक जल से श्रीजी का प्रक्षाल (या अभिषेक) करें तथा तदुपरान्त पूरी पूजनविधि करें। ध्यान रहे कि प्रक्षाल को पूजनांग इसीलिए कहा गया है कि प्रक्षाल के बाद पूरी पूजनविधि की जाये; प्रक्षाल के बाद श्रीजी को वेदी में विराजमान कर हाथ जोड़कर घर जाने की छूट लेने की आदत रोकने के लिए यह कथन है। न कि जब जो आये, वह पूर्ण पूजनविधि के नाम पर श्रीजी को प्रक्षालित करने लगे। यदि प्रक्षाल करने के ही भाव हैं- तो हम आपका सम्मान करते हैं तथा सादर कहते हैं कि ''आप प्रातःकाल सबसे पहिले मन्दिरजी आयें और प्रक्षालविधिपूर्वक पूजन करें।''

सामूहिक प्रक्षाल में सबके द्वारा जल डाला जाना अपेक्षित नहीं है, दो या चार व्यक्ति प्रक्षाल करें, शेष सब हाथ जोड़कर प्रक्षाल-पाठ पढ़ते हुये घण्टाध्वनि आदिपूर्वक अनुमोदना करें- यह भी प्रक्षालविधि ही मानी जायेगी। फल तो अभिप्राय का मिलता है, अतः अभिप्राय की विशुद्धि अपेक्षित है।

प्रदक्षिणा - ''आत्मनः प्रकृष्टं दक्षिणीकृत्य अयनं-गमनमिति-प्रदक्षिणा'' - इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो अपने श्रेष्ठ हो, उसे अपने दक्षिण-पार्श्व (दाहिनी ओर) रखते हुये जो गमन किया जाये - वहीं 'प्रदक्षिणा' है। यह एक सामान्य लौकिक नियम

है, जो श्रेष्ठ व्यक्ति के प्रति आदर या बहुमान का सूचक है। लोक में भी पुरुष को श्रेष्ठ मानने के कारण किसी भी कार्यविशेष में स्त्री को बायीं ओर रखते हैं और पुरुष को उसके दाहिनी ओर बैठाते / खड़ा करते हैं। सम्भवतः इसीलिए लोक में स्त्री के लिए 'वामांगी' शब्द प्रचलित हुआ। लोक में पंखा, घड़ी, कोल्हू, वाहनों के पहिये, नक्षत्रों के गमन, शादी के फेरे आदि अनेकों यंत्रों एवं क्रियाओं में गमन दाहिनी ओर को ही होता है; यदि कदाचित् बलात् विपरीत प्रयोग किया जाये, तो वह उल्टा एवं अशुभ माना जाता है। अतः दाहिनी ओर से चक्कर लगाने की 'प्रदक्षिणा' की क्रिया एक शुभ एवं माङ्गलिक क्रिया है।

देववन्दना-विधि के प्रसङ्ग में तीन बार जिनप्रतिमाजी के चारों ओर परिक्रमा करना विशिष्ट उद्देश्यों का सूचक है। प्रथम उद्देश्य यह है कि समवसरण में अरिहन्त भगवान् चारों दिशाओं में दिखाई देते हें, अतः उन चारों दिशाओं में दृश्यमान जिनेन्द्रदेव की वन्दना करने के लिए हमें गन्धकुटी के चारों ओर गोलाकार रूप में परिक्रमा करनी चाहिये-ऐसा शास्त्रों में स्पष्ट विधान है; अतः यह क्रिया अत्यन्त स्वाभाविकी है।

दूसरे, जब बाल्यावस्था में बाल-तीर्थङ्कर के सौन्दर्य का रसपान करने के लिए सौधर्मेन्द्र सहस्र-लोचन (आँखें) करके भी पूर्ण-तृप्ति प्राप्त नहीं कर सका था, परमशान्तरस के निर्झर-स्वरूप का रसपान करने के लिए भक्त उन्हें चारों ओर से देखना चाहता है।

तीसरे, लोक में भी कहावत है कि 'जिसे गरज पड़ी होगी, वह तीन चक्कर लगाकर आयेगा'; अर्थात् किसी के चक्कर लगाना उसके प्रति व्यक्ति की गरज का सूचक है। कहने का अभिप्रायः

यह है कि उस व्यक्ति का आत्महितरूपी कार्य अन्यत्र कहीं भी नहीं हुआ, सारी जगह चक्कर लगा लिये; तब वह सब जगह से निराश होकर 'जगत् में एक मात्र **मंगलोत्तम-शरणं मम**' के भाव की सूचना देने के लिए प्रदक्षिणा दी जाती हैं।

इसप्रकार 'प्रदक्षिणा' जिनेन्द्रदेव के प्रति बहुमान, उनके सर्वोत्तम स्वरूप की सूचना एवं आत्महित के अन्यतम साधन होने की संकेतात्मक अभिव्यक्ति है। तथा इसके तीन बार ही क्यों किया जाये? कम या अधिक क्यों नहीं?- तो इसके बारे में कई बातें प्रचलित हैं। कुछ लोग रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र) की प्राप्ति, जन्म-जरा-मृत्यु के विनाश एवं मन-वचन-काय से करने का प्रतीक मानकर इसे तीन बार करते हैं, तो कुछ लोग इसे कृत-कारित-अनुमोदना का प्रतीक मानते हैं। सामान्यतः इसे बहुत्वसूचक माना गया है, अर्थात् तीन बार यानि बहुत बार।

जैसा कि पहिले कहा गया है कि **प्रदक्षिणा तीनों लोकों के कृत्रिमाकृत्रिम जिनबिम्बों की वन्दना का भी प्रतीक है।**

इस बारे में एक और ध्यातव्य तथ्य है और यह है कि **प्रदक्षिणा रात्रि के समय नहीं दी जाती है,** इससे 'जीवदया में बाधा' का दोष आता है।

भावपूजा-

प्राचीन विधि-विधान एवं प्रतिक्रमण आदि में 'भावपूजा' शब्द का ही उल्लेख मिलता है; इससे इसकी महत्ता का बोध होता है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि 'द्रव्यपूजा' का प्राचीनकाल में कोई महत्त्व नहीं था। पहिले द्रव्यपूजा भी अनिवार्यतः श्रावकगण

करते ही थे, किन्तु भावों की विशुद्धि एवं एकाग्रता के लिऐ 'द्रव्य' कर उपयोग 'आलम्बन' के रूप में किया जाता था। यही मूल-परम्परा एवं दृष्टिकोण भी है। अतः भावपूजा का विशेष-महत्त्व स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं है।

साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि जैसे संसारावस्था में शरीर में आत्मा है, उसके परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बहुत हैं और उनका महत्त्व भी है; उसी प्रकार द्रव्यपूजा 'शरीर' की तरह है और भाव पूजा 'आत्मा' के स्थान पर है। छद्मस्थ संसारीप्राणी को दोनों की अपेक्षा ही नहीं, अनिवार्यता है।

वैसे 'भावपूजा' क एक अर्थ 'भावविशुद्धि-सहित अष्टद्रव्य पूजन करना' भी लिया जाता है। अतः 'भावपूजा' न तो द्रव्यपूजा की विरोधी है और न ही कोई अलग पूजन-विधि है। उसका विशेष उल्लेख मात्र इसी तथ्य को सूचित करने के लिये है कि ''वीतराग प्रभु के चरणों एवं गुणों में उपयोग को मर्यादित किये बिना मात्र इस थाली के द्रव्य दूसरी थाली में चढ़ा देने का नाम पूजा नहीं है।'' और न ही 'माला के दाने फेरते, मनुआ (मन) फिर बाजार में' की तरह मुँह से कुछ पढ़ना, हाथ से द्रव्य चढ़ाना और उपयोग को विषय-कषाय एवं परपदार्थों में भटकाने का नाम 'पूजा' है। ये शब्द एवं क्रिया (द्रव्य-चढ़ाना) तभी 'पूजा' नाम पाती हैं, जब 'भावविशुद्धि हो-इसी अभिप्राय से 'भावपूजा' का विशेष उल्लेख किया।

'भावपूजा' में द्रव्य नहीं चढ़ाये जाते, अथवा वस्त्रशुद्धि आदि अपेक्षित नहीं होती- ऐसे कथन अपने प्रमाद के पोषण के लिये हैं। बाह्य वस्त्रादि की शुद्धि के बिना मात्र पढ़ने को 'स्तुति' या 'स्तवन' भले ही कहा जाये; किन्तु उसे 'पूजा' संज्ञा नहीं दी जा

सकती है।

मण्डल-विधान -

'मण्डल' या 'माण्डना' एक प्रकार से यन्त्र की आकृति उकेरकर की जानेवाली वृहत्पूजा है, जिसमें बीजाक्षरों की प्रधानता होती है। प्राचीन वर्णनों के आधार पर यह विदित होता है कि इनमें विशाल आकृतियाँ बनाकर उनमें पूजा की जाती थी। पण्डित टोडरमलजी द्वारा की गयी 'इन्द्रध्वज महापूजा' का विवरण इस प्रसङ्ग में उल्लेखनीय है।

वास्तव में घटयात्रा, रथोत्सव, मण्डलविधान-पूजन, धार्मिक शिक्षण शिविर आदि धर्मप्रभावना एवं धार्मिक जनजागृति के निमित्त किये जानेवाले आयोजन हैं, जिनका धर्मग्रन्थों में 'प्रभावना के कारणों' के अन्तर्गत वर्णन प्राप्त होता है। किन्तु चमत्कारवादियों ने मण्डलविधान आदि बारे में अनेकविधि चमत्कार एवं टोने-टोटके की घटनाओं एवं कथाओं का प्रचार करके इनके मूलस्वरूप एवं उद्देश्य-दोनों को भुला दिया है। ये तो वीतरागी परमात्मा की अधिक समय तक समर्पित होकर पूजन-भजन-स्तुति करने एवं अपने परिणामों को शुभकार्य में निमग्न करने के साथ-साथ अन्य जीवों को भी धर्मलाभ के लिए अच्छे एवं व्यावहारिक निमित्तकारण थे; जिन्हें कुछ संस्थाओं ने धनार्जन का साधन बना लिया है तथा कतिपय व्यक्ति इनमें मन्त्र-तन्त्र आदि का अनावश्यक आडम्बर दिखाकर या भयादोहन कर पैसे भी ऐंठते हैं। इसप्रकार धनार्जन के लिए मण्डल विधान कराना वीतराग जैनधर्म के अनुसार नितान्त गलत है।

ये सब कार्य धर्मप्रभावना की भावना से खूब होना चाहिये, किन्तु व्यापार एवं गृहीतमिथ्यात्व के प्रसार की दृष्टि से कदापि नहीं। यन्त्र-मन्त्र आदि भी हैं, तथा इनका अपना महत्त्व हैं; किन्तु इन्हें व्यापार या किसी को हानि-लाभ पहुँचाने, अपनी मान-प्रतिष्ठा बढ़ाने आदि लौकिक प्रयोजनों से प्रयोग करना इनका दुरुपयोग करना ही है।

'मण्डलविधान पूजनों' का भी अतिविशिष्ट स्थान व महत्त्व है। ये होना चाहिये एवं पूर्णविधि से संयमी जीवनवृत्ति वाले, सदाचारी निर्लोभी प्रतिष्ठाचार्य के द्वारा धर्मबुद्धि से करायी जानी चाहिये। श्रावक स्वयं भी विधि जानकर बिना अधिक आडम्बर के ये कार्य कर सकते हैं - इसमें कहीं कोई आगम-विरोध नहीं है। भाव की विशुद्धि का ही प्रमुख महत्त्व इनमें जानना चाहिये।

उनके बारे में प्रचलित-कल्पित-चमत्कारवाली कथाओं के बारे में स्व. पण्डित मिलापचन्द जी कटारिया का कथन उल्लेखनीय है-

"इस सरल और वीतराग स्तोत्र-साहित्य को मन्त्र-तन्त्रादि और कथाओं के जाल से गूँथकर जटिल एवं सराग बना दिया गया है; इसके निर्माण के सम्बन्ध में भी मनगढ़ंत कथायें रच डाली हैं।"

-(जैन निबन्ध-रत्नावली, पृष्ठ 337)

श्रावकाचार-ग्रन्थों में 'मण्डल' या 'मांडना' बनाकर पूजन-विधान करने का 'पुण्यफल' भी बताया गया है; किन्तु वह सब प्रेरणा प्रदान करने की दृष्टि से ही है।

महार्घ्य -

'मह' अर्थात् पूजा और 'अर्घ्य' - इन दो शब्दों से मिलकर

(मह+अर्घ्य) 'महार्घ्य' शब्द बना है। इनका शाब्दिक अर्थ है 'पूजा सम्बन्धी अर्घ्य' चूँकि 'महार्घ्य' में जितनी पूजनें उस दिन की गयीं हैं, तथा जितनी उस दिन समयाभाव आदि कारणों से नहीं कर सके– उन सभी पूजनों एवं उनके वर्ण्य–विषयों के नामोल्लेखपूर्वक यह अर्घ्य चढ़ाया जाता है; अतः इसकी 'समस्त पूजनों सम्बन्धी अर्घ्य' के रूप में 'महार्घ्य' संज्ञा सार्थक है। इसे 'बड़ा अर्घ्य' अथवा 'पूर्णार्घ्य' के अर्थ में आजकल जाना–समझा जाता है।

मूलसंघ –

निर्ग्रन्थ महाश्रमण शासननायक तीर्थङ्कर महावीर की मूल अविच्छिन्न शुद्ध–परम्परा के अनुसार जिन श्रमणों का जीवन एवं दर्शन आचार्य–प्रवर कुन्दकुन्द आदि प्रधान आचार्यों द्वारा प्रतिपादित निर्दोष सिद्धान्तों के अनुरूप है तथा अपरिग्रही, निरतिचार संयमी, विशुद्ध अहिंसक उत्सर्ग–मार्ग के जो अनुयायी रहे; उनको 'मूलसंघ' में माना गया है।

जिनके जीवन एवं उपदेशों/लेखन में भूमिका एवं परम्परा के प्रतिकूल परिग्रह–सम्भावित हिंसा के कार्य अपवाद–मार्ग के प्रति रुचि एवं रागवर्द्धक–कार्यों की प्रेरणा या पोषण का अभिप्राय गर्भित/व्यक्ति हो; वे सभी मूलसंघ / शुद्धाम्नाय के बाहर हैं। इनके बारे में 'लिङ्गपाहुड' आदि ग्रन्थों से विशेष–विवरण समझा जा सकता है।

पूजन के प्रसङ्ग में मूलसंघ के आम्नाय से यहाँ इतना ही अभिप्राय ग्रहण करने योग्य है कि पूर्ण वीतरागी देव–शास्त्र–गुरु निर्ग्रन्थ शुद्ध शास्त्रोक्तविधि–निर्मित जिनबिम्ब की उचित एवं 'पुनः न उगने योग्य' प्रासुक द्रव्यों से 'निदान' की भावना से रहित होकर 'वन्दे तद्गुणलब्धये' के उदात्त–अभिप्राय से दर्शन–पूजन करना,

पूजन के बारे में 'मूलसंघ' की आम्नाय अनुसरण है।

मूलसंघ की आम्नाय में 'जिनमन्दिर में सम्भावित हिंसा के कार्य भी विवेकपूर्वक न करने' का विधान है। यथा-अग्नि प्रज्वलित करना, रांधा हुआ अनाज एवं मिष्ठान्न आदि चढ़ाना, सचित्त फल-फूल आदि चढ़ाना तथा सचित्त-पदार्थों में रखकर या सचित्त-पदार्थों से ढँककर (सचित्त निपेक्षापिधान) रखे गये अचित्त-पदार्थों का पूजन आदि में प्रयोग करना मूलसंघ की आम्नाय में वर्जित हैं। इनके निषेध का एकमात्र कारण इनमें हिंसा किसी न किसी रूप से स्पष्टतः होती ही है; तथा अहिंसाप्रधान जैनधर्म में श्रावक जिन हिंसक कार्यों से विवेकपूर्वक बच सके, उसे उनका परित्याग अवश्य करना चाहिये। 'गृहस्थाश्रम में घर-गृहस्थी में यदि पूर्वोक्त कार्य करते हैं, वे कार्य मन्दिर में देवदर्शन-पूजन में भी किये जा सकते हैं' - ऐसा विचार अविवेकपूर्ण है। अन्यथा तो फिर सोना, प्रमादजनित अन्य क्रियायें करना, खाना-पीना आदि सभी की छूट ग्रहण की जा सकेगी- जो घोर अनर्थ का कारण बनेंगे। फिर 'मन्दिर समताभाव जगानेवाले हैं' - यह बात झूठी सिद्ध हो जायेगी तथा मन्दिरजी और मकान में कोई अन्तर नहीं रहेगा।

मूलसंघ में विवेकपूर्ण आगम की शुद्ध-परम्परा के अनुसार आचारण करने का विधान है। पण्डितप्रवर आशाधर जी कहते हैं - "श्री मूलसंघे विधिवत्प्रबुद्धान्" अर्थात् मूलसंघ के अनुयायी आगमविधि के अनुसार विवेकबुद्धिपूर्वक कार्य करते हैं।

मूलसंघ के बारे में इतना ही प्रमाणवाक्य मिलाता है - " श्री कोण्डकुन्दान्वय मूलसंघम्" अर्थात् युगप्रधान आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द के द्वारा निर्दिष्ट परम्परा का अनुकरण करनेवाला ही 'मूलसंघ की

परम्परा के अनुसार निर्दोष, शुद्धविधि से किये गये पूजन आदि कार्य ही 'पुण्य' एवं परिणामविशुद्धि के कारण होंगे' – यह बात हम सभी प्रतिदिन पूजन के पूर्व बोलते हैं –

''श्रीमूलसंघसुदृशां सुकृतैकहेतुः जैनेन्द्रयज्ञविधिरेष मयाऽभ्यधायि॥''

दिगम्बर जैन–आम्नाय का अर्थ ही 'मूलसंघ' की परम्परा है– यह तथ्य श्वेताम्बर जैन आचार्य हरिभद्र सूरि ने भी स्वीकार किया है–

''निर्ग्रन्थ–एतेन मूलसंघादि–दिगम्बराः प्रयुक्ताः''

–(प्रशमरति प्रकरण, 8/142)

मूलसंघ की परम्परा में में सिंहसंघ, नन्दिसंघ, सेनसंघ एवं देवसंघ– ये चार संघ आते हैं (द्र. नीतिसार, 7–8,) तथा इन चारों संघ की परम्परा, जोकि मूलसंघ की ही परम्परा है– उनका अनुसरण सम्यग्दर्शन का कारण है एवं उसका विरोध सम्यग्दर्शन का बाधक है– ऐसा 'नीतिसार' (पद्य 12) में स्पष्टरूप से घोषित किया गया है। जबकि इसके विपरीत द्रविड़संघ, यापनीयसंघ एवं काष्ठासंघ को 'जैनाभास' की संज्ञा वहाँ दी गयी है। – (द्र. नीतिसार, पद्य 9)

यापनीय संघ –

लगभग 200 ई.पू. में आचार्य विशाखनन्दि के समय में सौराष्ट्र प्रान्त के वलभीपुर राज्य की रानी 'स्वामिनी' की पुत्री 'जक्खिल' का विवाद करहाटपुर के राजा के साथ हुआ था। चूँकि उसकी माँ 'स्वामिनी' श्वेताम्बर मतानुयायिनी थी, अतः उसकी पुत्री 'जक्खिल' पर वही संस्कार थे।

एक बार रानी जक्खिल को सूचना मिली कि कुछ श्वेताम्बर–गुरु करहाटपुर पधारनेवाले हैं, तो उसने अपने पति से जैन–मुनियों

के स्वागतार्थ नगरसीमा पर चलने का अनुरोध किया। अपनी रानी के आग्रह पर राजा करहाटपुर की सीमा पर उन गुरुओं के स्वागतार्थ रानी–सहित पहुँचा। वहाँ पर उसने वस्त्र, कम्बल, एवं दण्ड लिये श्वेताम्बर–गुरुओं को आते देखा, तो उसने कहा कि ''प्रिये ! जैन–गुरू तो तपस्वी और अपरिग्रही होते हैं; अतः इन्हें मैं अपने राज्य में अपरिग्रही जैनगुरू के रूप में प्रविष्ट होने की अनुमति देने में असमर्थ हूँ।''– इतना कहकर राजा राजमहल में वापस चला गया। तब रानी जक्खिल ने उन श्वेताम्बर–गुरूओं से निर्ग्रन्थ होने का निवेदन किया। उन श्वेताम्बर–गुरूओं ने उस रानी जक्खिल का अनुरोध स्वीकार करके बाह्य निर्ग्रन्थपना तो अङ्गीकार कर लिया, किन्तु अन्तरङ्ग–संस्कार उनके श्वेताम्बरत्व के बने रहे। उन्हीं साधुओं के संघ को 'जवलिय' अथवा 'यापनीय' संज्ञा दी गयी। इन्हीं ने स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति, सवस्त्रमुक्ति, सचित्त–पूजन, स्त्री–प्रक्षाल, पंचामृतभिषेक, रात्रि–पूजन एवं शासन–देवी–देवाओं को जिनदेव–सदृश पूजने की परिपाटी प्रचलित की।

उपुर्यक्त–विवरण महाकवि रइधूकृत 'भद्रबाहुचरित' पर आधारित है। अन्य अनेकों विद्वानों, इतिहासविदों एवं शोधकर्त्ताओं ने भी नाना तथ्यों के आधार पर इस विवरण की पुष्टि की है।

विज्ञपाठक स्वयं निर्णय कर सकते हैं कि जब श्वेताम्बर–आचार्य 'निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु' मात्र 'मूलसंघ' की परम्परावालों को ही मानते हैं, 'यापनीय संघ' आदि की परम्परा को नहीं; अन्यथा श्वेताम्बर हरिभद्रसूरित को यह नहीं लिखना पड़ता कि ''निर्ग्रन्थ–एतेन मूलसंघादि–दिगम्बराः प्रयुक्ताः।'' अतः मूलसंघ के अनुसार पूजनविधि की प्रतिज्ञा करनेवालों को विवेकपूर्वक निर्णय करना

चाहिये कि क्या वे अपनी प्रतिज्ञा का पूर्णतया पालन कर रहे हैं ?

उपर्युक्त 'यापनीय संघ' की परम्परा सुदीर्घकाल तक चली है तथा इसमें अनेकों सुविख्यात विद्वान् आचार्य हुये हैं, और उनकी रचनायें भी पर्याप्त-परिमाण में उपलब्ध होती है और उनमें से अनेकों बहुश्रुत भी हैं। दक्षिण-भारत में मध्ययुग में इनका व्यापक-प्रभाव हो गया था, जिसके फलस्वरूप आज भी वहाँ की पूजनपद्धति में 'यापनीय संघ' का पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है।

किसी की निन्दा या समीक्षा करना यहाँ मेरा उद्देश्य नहीं है, अपितु दिगम्बर-जैन-परम्परा में मूलसंघ की आम्नाय के अनुसार जैसा देवदर्शन-पूजन का विधान है, तथा जिसकी प्रतिज्ञा भी श्रावकगण नित्यप्रति करते हैं; अत: उनके लिए नीर-क्षीर-विवेक विधि से तथ्यों का परिचय कराना एकमात्र उद्देश्य है।

वषट् -

'वह्' धातु से 'डषटि' प्रत्ययपूर्वक निर्मित यह शब्द 'अव्यय' है। वैदिक-परम्परा में इसका उच्चारण-इष्ट-देवता को आहुति देते समय किया जाता है। (-द्र. आप्टे शब्दकोश, पृष्ठ 907)

जैन-परम्परा में यह 'शिखाबीज' के रूप में माना गया है तथा आह्वानन के निमित्त इसका उच्चारण किया जाता है।

शासनदेवी-देवताओं की स्थापना और पूजन-

यह विषय सावधानी से विचारने-योग्य है। क्योंकि इस नितान्त भौतिकवादी युग में 'अपरिग्रही जैनधर्म' के अनुयायियों के कुलदीपकों में से बहुत से यह कहते मिल जायेंगे कि ''हम तो संसारी प्राणी हैं, हमें तो सांसारिक सुख-सम्पत्ति आदि की सुविधा के लिये जो भी अनुकूल होगा, उसी को पूजेंगे''- इत्यादि। और

इसीलिये शासनदेवी-देवताओं की मूर्तियाँ बनवाने, मन्दिरों में उन्हें प्रतिष्ठित कराने आदि का आजकल नवधनाढ्यों में एक नया फैशन चल पड़ा है। इस विषय में निष्पक्षतापूर्वक तथ्यपरक विवेचन यहाँ प्रस्तुत है।

प्रथम तथ्य तो यह है कि शास्त्रों में 'जिनधर्म की प्रभावना करनेवाले एवं जिनधर्म प्रभावकों की रक्षा, उन्हें सहयोग देनेवाले वीतराग जिनेन्द्र-परमात्मा के भक्त भव्यजीव जो अपने पुण्य के प्रभाव से एवं वीतरागधर्म के अनुसरण के फलस्वरूप स्वर्ग में देवपद को प्राप्त हुये; उन्हें 'जिन-शासन की प्रभावना के हेतु' होने से 'शासनदेव' या 'शासनदेवी' संज्ञा प्राप्त हुई है। पण्डितप्रवर टोडरमल ने भी लिखा है कि 'जिनशासन के भक्त जो देवादिक हैं, वे (जिनेन्द्र परमात्मा के) उस भक्त-पुरुष को अनेक इन्द्रियसुख की कारणभूत सामग्रियों का संयोग कराते हैं और दुःख की कारणभूत सामग्रियों को दूर करते हैं।' (-मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ 7)

इसप्रकार शासनदेवी-देवताओं को आगमोक्त-अस्तित्व एवं उनके द्वारा जिनधर्म-प्रभावकों के लौकिक-हितसाधन की बात स्पष्ट है।

द्वितीय तथ्य यह है कि 'ये शासनदेवी-देवता स्वयं जिनेन्द्र परमात्मा के भक्त, संसारी और अविरति जीव हैं; जोकि जिनेन्द्र-परमात्मा की पूजन-भक्ति करनेवालों को कदाचित् अनुकूलता प्रदान करते हैं; अतः ये 'धन्यवाद के पात्र' तो हो सकते हैं; किन्तु साक्षात् जिनेन्द्रदेव के सदृश वेदी बनाकर, इनकी स्थापना करके इन्हें पूजना न तो आगमोक्त है और न ही विवेक-सम्मत है।' क्योंकि एक भक्त को दूसरा भक्त मित्रवत् तो मान सकता है, उसके

सहयोग के लिए उसकी प्रशंसा भी कर सकता है; किन्तु अपने परम-आराध्य भगवान् का स्थान उसे कदापि नहीं दे सकता है।

तृतीय तथ्य यह है कि अरिहंतादि की भक्ति का प्रकर्ष देखकर ये जिन-भक्त मनुष्यों के कष्टों का निवारण करें, यहाँ तक तो कोई विरोध नहीं हैं; किन्तु अरिहंतादि की भक्ति छुड़ाकर ये स्वयं अपनी भक्ति करायें-यह बात गले नहीं उतरती है; क्योंकि वे स्वयं अरिहन्तादि की जगह अपनी भक्ति मनुष्यों से करायेंगे, तो यह अरिहन्तादि का विरोध होगा; तब उनकी 'अरिहन्तादि के शासन -प्रभावक' की संज्ञा झूठी सिद्ध होगी।

चतुर्थ तथ्य यह है कि जैनधर्म में स्पष्ट कथन है कि "कोई भक्त भी यदि लौकिक एवं भौतिक सुखसाधन की आकांक्षा लेकर कोई भी पूजन-भक्ति आदि धार्मिक अनुष्ठान करता है, तो उसे 'निदान' का बन्ध होता है; जोकि संसार बढ़ानेवाली तीन शल्यों (मिथ्यात्व, माया, निदान) में से एक है।" अतः जैनधर्म की मर्यादा में रहकर पूजन-भक्ति करनेवाले सच्चे भक्त 'भौतिक साधनों की आकांक्षारूप निदान' का कार्य कभी नहीं करेंगे। तथा वास्तविक बात तो यह है कि यदि व्यक्ति के पुण्य का उदय हो, तो सर्वविध अनुकूलता होती है और पाप का उदय आवे, तो लाख प्रयत्नों के बाद भी भौतिक सुखसाधन 'मुट्ठी की रेत' की भाँति छूट जाते हैं। शासनदेवी-देवता की अनुकूलता से निमित्तमात्र बनते हैं, वह भी कदाचित् ही; सर्वत्र, सभी के लिये नहीं। यदि वह व्यापक नियम माने कि 'शासनदेवी-देवता-हित-रक्षा करते ही हैं'; तो जब जिनमन्दिरों से चोर, भगवान् की प्रतिमा तक चुरा ले जाते हैं, तब ये रक्षण क्यों नहीं करते? अतः पुण्य-परिणाम ही बाह्य-हितसाधन के

नियामक-कारण मानना चाहिये।

पाँचवाँ तथ्य यह है कि यदि हम वीतरागी जिनेन्द्र-प्रतिमा के सदृश इन शासनदेवी-देवताओं की प्रतिमा की स्थापना एवं उनकी पूजा आदि करेंगे, तो आनेवाले समय में जैनमन्दिरों और हिन्दू-मन्दिरों में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा तथा आज के लोकविद्या पढ़े हुये, धर्मतत्त्व से अनभिज्ञ समाज के लोग इन शासनदेवी-देवताओं के समान दिखनेवाले हिन्दू देवी-देवताओं की पूजन-भक्ति भी करने लगेंगे। वैसे यह दुष्प्रभाव अभी से ही यही पीढ़ी में दृष्टिगोचर होने लगा है। अतः समाज के कर्णधारों, विद्वानों एवं समाज के पथप्रदर्शक साधुवर्ग को यह तथ्य गम्भीरतापूर्वक विचारता चाहिये कि कुछ लोग अपनी स्वार्थसिद्धि के चक्कर में शासनदेवी-देवताओं की पूजा को अतिशय बढ़ावा देकर वीतरागी जैनधर्म के शासननायक तीर्थङ्करों के मन्दिरों की पवित्रता और सुरक्षा को खतरे में डाल ही रहे हैं। यह बात कोई द्वेषभाव से नहीं लिखी जा रही है, क्योंकि जैनाचार्यों का स्पष्ट मत रहा है कि "पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु" (महावीर के प्रति मेरे मन में पक्षपातभाव नहीं है और कपिलमुनि आदि के प्रति कोई द्वेषभाव नहीं है); उन्हीं की परम्परा को शिरोधार्य करके मैं विरोध/अपमान या द्वेष जैसे किसी भी भाव से कोई कथन कैसे कर सकता हूँ? यह बात जैनधर्म की मूलभावना, उसकी संस्कृति एवं परम्परा की रक्षा के लिए निष्पक्षभाव से, तथ्यपरक रीति से लिखी जा रही है।

शासनदेवी-देवताओं की मूर्तियाँ पहिले भी बनी हैं, किन्तु वे जिनेन्द्र परमात्मा की प्रतिमा के समान न तो वेदी पर विराजमान की गयीं और न ही उनकी पूजा की गयी। इनके निर्माण का उद्देश्य चिह्न

की तरह विशिष्ट–तीर्थङ्कर की प्रतिमा का बोध कराना था।

आचार्य सोमदेव सूरि 'उपासकाध्ययन' में लिखते हैं कि **''जो तीनों लोकों के द्रष्टा जिनेन्द्रदेव और व्यन्तरादि देवताओं की समानरूप से पूजा करता है, वह नरक में जाता है।......आपत्ति से व्याकुल होते हुये भी श्रावक आपत्ति दूर करने के लिये कभी भी शासनदेवी–देवताओं को नहीं पूजता है।''**

अतः अनेकान्तदृष्टि से, निष्पक्ष होकर में यहाँ कहना चाहता हूँ कि शासनदेवी–देवताओं का द्वेषपूर्वक विरोध करना, उनके लिए अनुचित–शब्दों का व्यवहार करना हमारी कृतघ्नता होगी; क्योंकि उन्होंने समय–समय पर वीतराग–धर्म की प्रभावना में भी योगदान दिया है; किन्तु लौकिक वाञ्छाओं के वशीभूत होकर जिनेन्द्रदेव की पूजा छोड़कर इन्हें पूजना तथा जिनदेव की प्रतिमा के समान ही इनकी वेदी पर प्रतिष्ठा आदि कराना भी वीतरागी जिनेन्द्र–परमात्मा एवं वीतराग–जैनधर्म की विशिष्ट–पहिचान को नष्ट करने या दिग्भ्रमित करने का कारण होने से यह कार्य न तो आगम के अनुकूल है, और न ही समाज एवं संस्कृति के लिये हितकारी है।

श्रावक–

जो सम्यक् श्रद्धावान्, विवेकवान्,क्रियाशील है; वही 'श्रावक' है। शास्त्रीय सन्दर्भ में 'पञ्चम गुणस्थानवर्ती देशव्रती' को ही 'श्रावक' संज्ञा है, किन्तु सामान्य सन्दर्भ में जो अविरति होते हुये भी वीतरागी देव–शास्त्र–गुरु पर श्रद्धा रखते हैं, अष्ट मुलगुणों (मद्य–त्याग, मधु–शहर का त्याग, माँस का त्याग एवं पाँच उदुम्बर फलों बड़, ऊमर, पीपल, कठूमर और पाकर का त्याग – यही श्रावक के आठमुलगुण

कहलाते हैं) का पालन करते हैं; पानी को छानकर ही काम में लेते हैं तथा रात्रि भोजन, बाईस अभक्ष्य पदार्थों का त्याग करते हैं; – वे 'श्रावक' पद के योग्य हैं। यदि कोई इतना सब नहीं पाल सके, तो भी 'श्रावक' नामधारी में वीतरागी देव–शास्त्र–गुरू में श्रद्धा, सामान्य सदाचार का पालन एवं मन्दकषाय की प्रवृत्ति होनी चाहिये।

किसी भी व्यक्ति की गुणहीन जानकर निन्दा नहीं करनी चाहिये, बल्कि उसे वात्सल्यभावपूर्वक अपनाना चाहिये; तभी वह धर्मतत्त्व का आदर करेगा और श्रावक के गुणों व कर्त्तव्यों के प्रति जागरुक हो सकेगा। आज हम पीढ़ी को तिरस्कार के शब्दों का प्रयोगकर धर्म से दूर कर रहे हैं और धर्म की ही हानि कर रहे हैं। हमें स्मरण है कि वर्तमान में इन्हीं से प्रेमपूर्वक धर्म सिखाकर 'धर्मप्रभावना' को करना है; यदि निरन्तर उपेक्षा के कारण ये धर्म–विमुख हो गये, तो धर्म किसके आधार से चलेगा। अतः इन्हें ठुकराना नहीं है, अपितु गले लगाना है और धर्म सिखाकर 'भाव श्रावक' बनाना है।

श्रावक के चार प्रकार माने गये हैं – 1– 'नामनिक्षेप से श्रावक' वे हैं, जो जैनकुल में जन्म लेने मात्र से 'जैन' संज्ञा को धारण करते हैं। 2–जो अरिहंत परमात्मा, पंच परमेष्ठी आदि का नाम जानते हैं तथा णमोकार–मन्त्र आदि जानते हैं; वे 'स्थापनानिक्षेप से श्रावक' हैं। 3. जो श्रावक के लिये निर्धारित कार्यों को विधिपूर्वक नियमित होकर करते हैं, वे 'द्रव्यनिक्षेप से श्रावक' हैं। 4–जो श्रावकधर्म का मर्म समझकर सम्यग्दर्शनपूर्वक अत्यन्त बहुमान एवं आदर के साथ प्रत्येक विधि का अभिप्राय समझते हुये उसे स्व–पर–हित की भावना–सहित करते हैं– वे 'भावनिक्षेप से श्रावक' हैं— इन चारों प्रकारों में यद्यपि 'भावनिक्षेप से श्रावक' होना सर्वोत्तम

है; तथापि यदि कोई सामान्यतः 'नामनिक्षेप' मात्र से भी श्रावक हो; तो भी उसकी उपेक्षा, अनादर का भाव नहीं रखना चाहिये; अपितु उसे भावनिक्षेप से श्रावक बनाने के लिए वात्सल्यपूर्वक धर्मज्ञान देना चाहिये।

जैनपरम्परा में श्रावकों के निम्नलिखित तीन वर्गीकरण भी माने गये हैं –

1- पाक्षिक श्रावक—देव-शास्त्र-गुरू की पूजा, रत्नत्रय-पालन, सप्तव्यसन-त्याग एवं अष्टमूलगुणों का पालन करनेवाला 'पाक्षिक श्रावक' है। **2-नैष्ठिक श्रावक**— जो ग्यारह प्रतिमाओं का निर्दोष-विधि से पालन करता है, वह 'नैष्ठिक-श्रावक' है। **3-साधक श्रावक**— जो व्रतों का पालन करते हुये अन्त में समाधिमरण की भावना रखते हैं, वे साधक श्रावक हैं। – इनमें परवर्ती भेद में पूर्ववर्ती प्रवृत्ति भी पायी जाती है। (विशेष, द्रष्टव्यः जैन हिन्दी पूजाकाव्यः परम्परा और आलोचना, पृष्ठ 5 से 7 तक)।

श्रावक के षट् आवश्यक –

आचार्य अमितगति- विरचित 'श्रावकाचार' (8/29) के अनुसार 1-सामायिक, 2-स्तवन, 3-वन्दना, 4-प्रतिक्रमण, 5-प्रत्याख्यान और 6-उत्सर्ग ये श्रावक के षट्-आवश्यक-कर्तव्य हैं। तथा आचार्य पद्मनन्दि-कृत 'पद्मनन्दि पञ्चविंशातिका (6/17)' के अनुसार 1- देवपूजा, 2-गुरु की उपासना, 3-स्वाध्याय, 4-संयम, 5-तप और 6-दान – ये श्रावक के छह आवश्यक कर्त्तव्य हैं। यही आज अधिक प्रचलित हैं। इनका संक्षिप्त स्वरूप निम्नानुसार है—

1. देवपूजा – वीतराग अरिहन्त परमात्मा की प्रतिमा के

माध्यम से अरिहन्त, सिद्ध परमेष्टी एवं वीतराग धर्म की पूजा करना 'देवपूजा' है। इसमें हम 'मूर्ति' के माध्यम से 'मूर्तिमान् भगवान' की पूजा उन जैसे गुणों की प्राप्ति की भावना 'वन्दे तद्गुणलब्धये' से की जाती है।

2. गुरु की उपासना – समस्त आरम्भ–परिग्रह से रहित, आत्मसाधना में लीन रहनेवाले, 28 मूलगुणों के धारी निर्ग्रन्थ मुनिराज (आचार्य, उपाध्याय और साधु) की पूजा, उपासना करना 'गुरु की उपासना' है। चूँकि जो स्वय धर्ममार्ग में निरत हैं; वे ही दूसरों को उस सच्चे–मार्ग में लगा सकते हैं, समझा सकते हैं; अतः श्रावक को ऐसे सच्चे गुरुओं की उपासना करनी चाहिये। जैसे देवपूजा के लिए वीतरागी, निर्ग्रन्थदेव का निर्णय आवश्यक है, वैसे ही गुरु की उपासना के लिए सच्चे भावलिङ्गी अपरिग्रही सन्त का निर्णय एवं ज्ञान भी अपेक्षित है।

3. स्वाध्याय – 'स्व' अर्थात् निजात्मा का 'अध्ययन' अर्थात् समझना या उसे समझने की चेष्टा करना ही 'स्वाध्याय' है। आत्महित के प्ररूपक शास्त्रों अध्ययन एवं ज्ञानियों के प्रवचन आदि श्रवण से हमें समझना चाहिये कि "हम दुःखी क्यों हैं ? इस दुःख का मूल–कारण क्या है ? हमारा स्वरूप क्या है ? हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है ? हम सुखी कैसे हो सकते हैं ?"– इत्यादि।

जब देव और गुरु– दोनों का साथ मिलना अशक्य हो, तब भी जिनवाणी नाना–माध्यमों (शास्त्र–टेपप्रवचन–वीडियो आदि) से हमें आत्महित का मार्ग बताने के लिये आज विज्ञान के सहयोग से हर समय उपलब्ध है। अतः स्वाध्याय ही इस समय सर्वाधिक सुलभ धर्मसाधन है।

4. संयम – पाँच इन्द्रियों (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) तथा मन के विषयों की अति अधीनता छोड़कर अपने परिणामों को विषय-कषाय से हटाकर आत्महित में केन्द्रित करना तथा प्रवृत्तियों को मर्यादित करना ही संयम है।

5. तप – आत्मा के विचार, अनुभव आदि के लक्ष्य से मन-वचन-काय की चंचलता रोकने के लिये एवं इच्छाओं के नियन्त्रण के लिये शक्ति के अनुसार अनशन-अवमौदर्य आदि करना 'तप' है।

6. दान – अपने और अन्य जीवों के अनुग्रह (उपकार) की भावना से सत्पात्रों को चार प्रकार की अपनी वस्तुओं का दान देना (आहारदान, औषधिदान, ज्ञानदान और अभयदान) 'दान' है।

जीवन के सहज, आकुलतारहित एवं मङ्गलमय बनाने के लिये छह कार्य हमारे दैनिक जीवन के अङ्ग होना चाहिये।

श्रीं – इसे 'लक्ष्मीबीज' मन्त्र कहा जाता है। यह अनन्त चतुष्टरूपी लक्ष्मी का वाचक है।

संवौषट् – विजय का साधन या उपकरण।

स्वस्तिक – स्वस्तिक अत्यन्त माङ्गलिक एवं गूढ़ार्थक 'आकृति' या 'यन्त्र' है इसके मूल दो दण्ड (— ।) मरण में जन्म के प्रतीक हैं, इने जुड़े चार लघु-दण्ड (— ।) चारों गतियों के प्रतीक हैं, तथा इन लघुदण्डों के साथ ऊर्ध्वमुखी होकर जुड़े रेखाचिह्न (卐) चारों गतियों से निष्क्रमण (चतुर्गति-परिभ्रमण से मुक्ति) को सूचित करते हैं। इसके चारों खानों में हम चार बिन्दु (卐) बनाते हैं – ये वस्तुतः बिन्दु नहीं है, कूट अङ्क है, जोकि इस प्रकार लिखे जाते हैं –

इनमें '3' का अङ्क 'रत्नत्रय' का प्रतीक है, '24' का अङ्क चौबीस तीर्थङ्करों का प्रतीक है, '5' का अङ्क पञ्चपरमेष्ठी का द्योतक है तथा '4' का अङ्क चार अनुयोगों का वाचक है।

इसके मूल दो दण्ड + इस रूप में संकेतित करते हैं कि 'जीव ही जीव को बाधक है, अन्य कोई नहीं'। इसके बाद इनके चारों ओर जो चार दण्ड लगाये जाते हैं, (卐) ये चारों दण्ड चतुर्गति-परिभ्रमण के प्रतीक हैं, - यह सूचित करने के लिये कहीं-कहीं उल्टा स्वस्तिक (卐) भी बनाया जाता है। उपर्युक्त चारों अङ्कों के वाच्यार्थ के सहयोग से जीव चतुर्गति को निष्क्रमण पूर्वक द्रव्यकर्म-भावकर्म एवं नोकर्म से रहित होकर सिद्धत्व (卐) को प्राप्त करना है, तब इसका प्रतीक पूर्ण-यन्त्र इस प्रकार बनता है-

यह अत्यन्त मङ्गल यन्त्र या आकृत्रि है।

स्वाहा - सामान्यतः इष्टदेवता के उद्देश्य से हवि (हवन-सामग्री) अर्पण करने के लिये 'स्वाहा' का प्रयोग होता है, किन्तु यह वैदिक-मान्यता है। जैन मान्यता में इष्टदेव वीतरागी हैं; अतः वे किसी भी परपदार्थ का ग्रहण नहीं करते हैं। तब फिर यहाँ 'स्वाहा' का अर्थ एवं प्रासङ्गिकता क्या है ? - यह विचारणीय बिन्दु है।

'भगवती आराधना' (1739) में 'स्वाहा' शब्द को 'मन्त्र' एवं 'विद्या' के मध्य का सीमांकन मानते हुये कहा गया है कि "बीजाक्षर-युक्त जिस वाक्य या वाक्यांश के अन्त में 'स्वाहा' का

प्रयोग होता है, उसे 'विद्या' कहते हैं; तथा 'स्वाहा' पद का प्रयोग नहीं होने पर वही 'मन्त्र' कहलता है।''

यहाँ मैं अपने चिन्तन के आधार पर यहाँ 'स्वाहा' शब्द के जैनसम्मत अर्थ की सिद्धि एक लोकप्रचलित सन्दर्भ को उद्धृत करना चाहता हूँ। लोक में 'स्वाहा करना' का प्रयोग 'अपने हाथों से नष्ट या समाप्त करना देना' – इस अर्थ में होता है। तो यहाँ भी आध्यात्मिक सुख–शान्ति पाने के लिये भौतिक संसाधनों एवं अपने लिए संग्रहीत पदार्थों की मूर्च्छा (ममत्व–भाव) को नष्ट करने अथवा समाप्त करने की भावना से 'स्वाहा' का उच्चारण अर्थसङ्गत प्रतीत होता है। अर्थात् ''मैं 'जल' से 'फल' तक जो वैभव अपने भौतिक सुख संसाधनों के रूप में संजोता आया; उसके प्रति जो मेरा ममत्वभाव है, उस ममत्व भाव को मैं भगवान् की साक्षीपूर्वक 'स्वाहा' करने का संकल्प लेता हूँ।'' क्योंकि परिग्रह की चाह मन में रहते हुये वीतरागी भगवान का गुणस्तवन मन से सम्भव ही नहीं है; ऊपरी तौर पर भले ही दूसरे कवियों के द्वारा लिखित पूजनों–स्तवनों के शब्दों का उच्चारण कर लिया जाये।

ह्रीं– इसे 'मन्त्रराज' एवं 'आत्मबीज' भी कहा गया है। यह तीस चौबीसी का प्रतीक बीजाक्षर है, इसे सम्पूर्ण सिद्धचक्र का वाचक भी माना गया है।

'**ॐ या ओम**' – यह प्रणव बीजमन्त्र है। इसे पाँचों परमेष्ठियों के प्रथम–अक्षरों से निष्पन्न माना गया है–

''अरिहंता–असरीरा–आयरिया–उवज्झया तहा मुणिणो।
पढ़मक्खर–णिप्पाण्णो ओंकारो पंचपरमेट्ठी॥''

अर्थात् – अरिहन्त का 'अ', अशरीरी (सिद्ध) का 'अ',

आचार्य का 'आ', उपाध्याय का 'उ' तथा मुनि (साधु) का 'म्', – इन सबको मिलाकार (अ + अ + आ = आ + उ = ओ +म् = ओम्) 'ओम्' की निष्पत्ति (सिद्ध या निर्माण) की गयी है।

कायोत्सर्ग – कार्य + उत्सर्ग = इन दो शब्दों से निर्मित इस पद का शब्दार्थ है 'शरीर का त्याग'। किन्तु शरीर–त्याग या मरण जैसा अभिप्राय यहाँ नहीं है; अपितु 'शरीर–सम्बन्धी ममत्व का त्याग'–यह अर्थ यहाँ मूलतः अभिप्रेत है। वास्तव में तो यह आत्मध्यान या आत्मलीनता की स्थिति में ही सम्भव है, किन्तु व्यवाहार में धर्मध्यान के प्रारम्भिक अभ्यास के रूप 'पदस्थ' एवं 'पिण्डस्थ' धर्मस्थानों का अभ्यास 'देववन्दनाविधि' के अङ्ग 'कायोत्सर्ग' का लक्ष्य है।

इसमें प्राथमिकरूप से परमपदों को प्राप्त पञ्चपरमेष्ठियों का स्मरण/चिन्तन/ध्यान पद्ममासन आदि विशिष्ट–आसनों से किया जाता है; ताकि करनेवाला श्रावक 'इन पञ्चपरमेष्ठियों ने जिस तरह आत्मध्यान करके परमपद पाया है, वैसा ही आत्मध्यान करके मैं भी परमपद को प्राप्त करूँ', – यह भावना प्रबलकर आत्मध्यान की अवस्था प्राप्त कर सके।

चूँकि समस्त संसार से आत्मा का सम्बन्ध शरीर के माध्यम से हैं; जब शरीर से ही ममत्व छूट जायेगा, तो विश्वभर के पदार्थों और सम्बन्धों से सम्पर्क स्वतः छूट ही जायेगा। इसे 'सामायिक पाठ' में दृष्टान्तपूर्वक निम्नानुसार समझाया गया है–

''तन से जिसका ऐक्य नहीं, हो सुत–तिय–मित्रों से कैसे?
चर्म दूर होने पर तन से, रोम–समूह रहें कैसे?''

अतः शरीर से उपयोग का सम्बन्ध छुड़ाने की दृष्टि से

इसकी 'कायोत्सर्ग' संज्ञा सार्थक है।

कृत्रिम चैत्यालय – मनुष्यों द्वारा मध्यलोक में भौतिक सामग्री से वीतरागी जिनबिम्ब (चैत्य) को विराजमान करने के लिए बनाये गये भवनों को 'चैत्यालय' कहते हैं। वर्तमान में शिखरबद्ध-जिनभवन को 'मन्दिर' एवं शिखर सहित जिनभवन को 'चैत्यालय' कहने की परिपाटी प्रचलित है।

गन्धोदक – अभिषेक या प्रक्षालन को उपरान्त जो जल श्रीजी के स्पर्श से पावन होकर अभिषेक की थाली में बचा रहता है- उसे 'गन्धोदक' कहते हैं। देववन्दना-विधि में प्रयुक्त 'गन्धोदक' शब्द का यही अर्थ है।

अन्यत्र 'गन्धोदक' शब्द का अर्थ 'सुगन्धित-जल' होता है। जो शास्त्रों में देवों के द्वारा गन्धोदक की वृष्टि करने का उल्लेख मिलता है, वहाँ अभिप्रायः सुगन्धित-जल से है, अभिषेकवाले गन्धोदक से नहीं। अन्यथा लोग अभिषेक के गन्धोदक को इधर-उधर छिड़कना शुरू कर देंगे और कहेंगे कि ''शास्त्र में लिखा है कि देवों ने भी गन्धोदक की वृष्टि की थी; हम कर रहे हैं, तो कौन-सा अनर्थ कर रहे हैं।'' – यह अज्ञानता का प्रतीक वचन है। सुगन्धित – जल की वर्षा करने से प्रदूषण नष्ट होने एवं बदबू मिटने का प्रयोजन होता है, ताकि वहाँ शिष्टलोग आ-जा सकें एवं बैठ सकें, एकाग्रचित्त होकर उपदेश सुन सकें। – इसी उद्देश्य से सुगन्धित-जल के लिए ही वहाँ 'गन्धोदक' शब्द आया है, न कि अभिषेक-जल के लिये।

अब **प्रश्न** सम्भव है कि 'अभिषेक-जल' को 'गन्धोदक' नाम क्यों दिया गया?

समाधान—अभिषेक के थाली में श्रीजी को विराजमान

करने से पूर्व 'श्री' शब्द का चन्दन-केसर से लेखन किया जाता है। अतः प्रासुक-जल की धारा से वह घुलकर उस अभिषेक-जल को सुगन्धित कर देते हैं, इसीलिए इसे 'गन्धोदक' कहना सार्थक है। किन्तु सामान्य सुगन्धित-जल के समान इसका व्यवहार नहीं करना चाहिये।

'गन्धोदक' को कैसे प्रयोग करें? - यह विचारणीय बिन्दु है। गन्धोदक को स्पर्श करने से पूर्व शुद्धप्रासुक जल से हथेली एवं अँगुलियाँ धो लें, तदुपरान्त 'मध्यमा' एवं 'अनामिका' - इन दो अँगुलियों के अग्रभाग से अत्यन्त विनयपूर्वक गन्धोदक को स्पर्श कर पुनः वे अँगुलियाँ अपने शरीर के उत्तमांगों - मस्तक एवं दोनों आँखों की पलकों के ऊपरी भाग पर (आँख के भीतर नहीं) लगावें तथा भावना भायें कि "हे भगवन्! मेरे ज्ञानावरणी एवं दर्शनावरणी कर्मों का ऐसा क्षयोपशम हो कि मैं नित्यप्रति आपके दर्शन कर अपने नेत्रों को पावन कर सकूँ।" क्योंकि संसार के पदार्थों के देखने से आँखों की सफलता नहीं है, इनकी सफलता तो जिनदर्शन में ही है। तथा अन्य पदार्थों एवं कार्यों का विचार करने में क्षयोपशम या संज्ञी-पञ्चेन्द्रियपने की सार्थकता नहीं है, वह तो मात्र आत्मा एवं परमात्मा के चिन्तन में ही सफल/सार्थक होता है।

गन्धोदक उक्त दोनों उत्तम-अङ्गों पर लगाने के बाद अन्य शरीर के निकृष्ट-अङ्गों एवं मलद्वारों पर उसका स्पर्श न हो जाये -इसलिए पुनः उसी प्रासुक-जल में अँगुलियाँ को धो लेना चाहिये। ध्यान रहे, मस्तक एवं नेत्र-युगल के ऊपरी भाग- **इन दो स्थानों के अतिरिक्त अन्य कहीं भी गन्धोदक नहीं लगाना चाहिये।** क्योंकि सामान्यतः तो सम्पूर्ण शरीर ही अशुचि एवं मल का पिण्ड

है, अत: श्रीजी के स्पर्श से पावन-जल का स्पर्श उसमें कैसे करा सकते हैं; तथापि चूँकि जीव का लक्षण दर्शनोपयोग एवं ज्ञानोपयोग है और उन दोनों के प्रतीकस्वरूप शरीर के दो उत्तम/उच्च-अङ्गों मस्तक (ज्ञानोपयोग एवं प्रतीक) एवं नेत्रयुगल के ऊपरी भाग (दर्शनोपयोग का प्रतीक) पर ही पीछे यही अभिप्राय है कि मेरी चेतना निर्मल बनी रहे। यह तथ्य अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि शरीर की शुद्धि एवं अन्य सांसारिक प्रयोजनों के लिए गन्धोदक का प्रयोग आगम की आम्नाय के विरुद्ध है।

कतिपय लोग प्रथमानुयोग के 'श्रीपाल—मैनासुन्दरीचरित' आदि काव्यों का आश्रय लेकर 'कोढ़' जैसी शारीरिक व्यधियों के निदान के के लिए गन्धोदक को छिड़कने का प्रसङ्ग उपस्थित करके कहते हैं कि "जब उन्होंने ऐसा किया था, तो हमें करने में क्या दोष है?" यहाँ मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि मध्ययुगीन कथाग्रन्थों एवं चरितग्रन्थों में अतिरंजित-वर्णनों की बहुलता है, तथा कुछ बातें बाद में भी चमत्कारवादियों ने जोड़ दी है। सम्यग्दृष्टि श्रीपाल-मैनासुन्दरी कदापि ऐसा नहीं कर सकते। 'गन्धोदक' अर्थात् किसी औषधियुक्त 'सुगन्धित जल' का छिड़काव भले ही किया हो, किन्तु श्रीजी के अभिषेकवाला 'गन्धोदक' का कदापि नहीं; क्योंकि गन्धोदक तो सविनय 'ललाट' (मस्तक) एवं 'नेत्रयुगल' की ऊपरी भाग पर ही लगाने का आगम में विधान है; तथा आगम के (सिद्धान्तग्रन्थों के) वचन का उल्लंघन सम्यग्दृष्टि-जीव कदापि नहीं कर सकते हैं। तथा व्रण (घाव) पर गन्धोदक लगाना सीधी उसकी अविनय है। अत: समझदार व्यक्ति के मन में यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता है कि 'तद्भवमोक्षगामी सम्यग्दृष्टि-जीव आगम

की आज्ञा का एवं लोक की मर्यादा का उल्लंघन कर स्वप्न में भी ऐसा अविवेकी–कार्य कर सकते हैं।' ध्यातव्य है कि श्रीपाल तद्भव–मोक्षगामी थे एवं उस रोग की स्थिति में भी वे सम्यग्दृष्टि ही थे; शरीर में विकार था, किन्तु परिणामों की विशुद्धि एवं विवेक जागृत था–स्वाध्यायीजन यह बात भली–भाँति जानते हैं। अत: इसप्रकार के क्षुद्र–प्रयोजनों की सिद्धि के लिए गन्धोदक जैसी पवित्र–वस्तु का दुरुपयोग कदापि नहीं करना चाहिये।

प्रक्षाल या अभिषेक के बारे मं एक और आजकल की परिस्थितियों का प्रश्न उपस्थित होता है कि 'प्रतिमाजी पर कितना जल डाला जाये?' – इसके लिए हमें प्रक्षाल का मूल–दृष्टिकोण ध्यान में रखना होगा। चूँकि प्रक्षाल का मूल–उद्देश्य प्रतिमाजी पर आ गये धूलिकणों का परिमार्जन है, अत: स्वविवेक से उस शुद्धिपर्यन्त अपेक्षित जल डालना चाहिये। यह कार्य वैसे तो मात्र गीले कपड़े से पोंछने से भी सम्भव है, किन्तु थोड़ी जल की मात्रा बढ़ाने से यह लाभ अवश्य है कि जो आधुनिक लोग वस्त्रशुद्धि एवं समयाभाव आदि कारणों से श्रीजी का स्पर्श नहीं कर पाते हैं; उन्हें गन्धोदक के द्वारा श्रीजी की चरणरज माथे पर लगाने को मिल जाती है। तथापि इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रतिमाजी पर मनचाहे ढंग से जल ढोलते जायें और ढेर सारा गन्धोदक बना लें; फिर उतने परिमाण में दर्शनार्थियों के न आ सकने के कारण उसका उपयोग न होने पर उसे मन्दिरजी की छत पर (जहाँ किसी के पैन न पड़ें) निक्षिप्त करना पड़े। – यह स्पष्टरूप से अविनय एवं अज्ञानतपूर्ण–दुराग्रह माना जायेगा। तथापि कदाचित् गन्धोदक बचने पर ऐसी प्रक्रिया का लोक में विधान है।

'गन्धोदक लेते समय बोले जानेवाला' प्रचलित पद्य यह है-

''निर्मलं निर्मलीकरणं पावनं पापनाशनम्।
श्रीजिनचरणोदकं वन्दे, सर्वदोष-विनाशम्॥''

प्राचीन परम्परा के अनुसार यह पद्य भी मिलते है -

नत्वा परीत्य निज-नेत्र-ललाटयोश्च्,
व्याप्तं क्षणेन हरतादघसंचय मे।
शद्धोदकं जिनपते! तव पादयोगाद्,
भूयाद् भवातपहरं धृतमादरेणा॥
इमे नेत्रे जाते सुकृतजलसिक्ते सफलिते,
ममेदं मानुष्यं कृतीजनगणादेयमभवत्।
मदीयाद् भल्लाटाद् शुभकर्माटनमभूत,
सदेदृक् पुण्यौघो मम भवतु ते पूजनविधौ॥

'गन्धोदक-वचन' के फल का प्ररूपण 'लघुअभिषेक-विधि' में निम्नानुसार किया गया है- 'हे जिनेन्द्र देव! आपके अभिषेक से निर्मित गन्धोदक सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र अर्थात् रत्नत्रयरूपी बेल (बल्लरी) की वृद्धि करानेवाला तथा कीर्ति-सम्पत्ति एवं विजय का साधक है।'

'लघु-अभिषेकविधि' के अनुसार यह (उपरिलिखित) श्लोक पढ़कर गन्धोदक-ग्रहण करना चाहिये।

द्वितीय परिशिष्ट

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

क्रमांक ग्रन्थ या पुस्तक का नाम/कर्ता या सम्पादक /प्रकाशक/संस्करण एवं प्रकाशन वर्ष

1. **अमितिगति श्रावकाचार**/आ.अमितगति/पण्डित बंशीधर, सोलापुर /प्रं.सं. 1922 ई.
2. **अमृताशीति**/आ. योगीन्द्रदेव /दि.जैन मुमुक्षु मण्डल, उदयपुर/प्र.सं. 1990 ई.
3. **आचारसार**/आ.वीरनन्दि/माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई/प्र.सं. 1971 ई.
4. **उत्तरपुराण**/आ.गुणभद्र/भारतीय ज्ञानपीठ/द्वि.स. 1968 ई.
5. **उपासकाध्ययन** /आ.सोमदेवसूरि/सं. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री/भारतीय ज्ञानपीठ /प्र.स. 1964 ई.
6. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा**/स्वामी कार्तिकेय/परमश्रुत-प्रभावक मण्डल, अगास/प्र. सं. 1960 ई.।
7. **क्रियाकलाप** / सं. पं. पन्नालाल सोनी/प्रथम संस्करण, 1936 ई.
8. **जयधवला**/आ. वीरसेन एवं आ. जिनसने/दि.जैन संघ, मथुरा/प्र.सं. 1943 ई.
9. **जिनपूजन-रहस्य**/पण्डित रतनचन्द्र भारिल्ल/पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (राज.) / चतुर्थ सं., 1989 ई.
10. **जिनपूजा-जिनमन्दिर**/पण्डित नाथूलाल शास्त्री/वी.नि.ग्र.प्र.स. इन्दौर/द्वि.स. 1982 ई.
11. **जैन-निबन्ध-रत्नावली**/वीर सेवा मन्दिर/प्र.सं.
12. **जैन-संस्कारविधि**/पण्डित नाथूलाल जैन शास्त्री/अ.भा.दि.जैन महासभा, कोटा (राज.) प्र.सं. 1983 ई.
13. **जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश**/सं. जिनेन्द्र वर्णी/भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली/ द्वि. सं., 1986 ई.
14. **जैन हिन्दी पूजाकाव्यः** परम्परा और आलोचना/डॉ. आदित्य प्रचण्डिया/जैनशोध अकादमी, अलीगढ़/प्र.सं. 1987 ई.
15. **ज्ञानपीठ पूजांजलि**/सं.पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री/भारतीय विज्ञापीठ, काशी (उ.प्र.) /प्र.सं. 1957 ई.
16. **ज्ञानानन्द श्रावकाचार**/ब्र. रायमल्ल/सं. डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री/दि.जैन मुमुक्षु मण्डल, भोपाल /प्र.सं. 1987 ई.
17. **तिलोयपण्णत्ति**/आ.यतिवृषभ/भा.व.दि. जैन महासभा/प्र.सं. 1984 ई.
18. **त्रिलोकसार**/आ.नेमिचन्द्र सि.च./जैन साहित्य सदन, मुम्बई/प्र.सं. 1918 ई.

19. **दशभक्ति**/आ. कुन्दकुन्द / 'धर्मध्यान प्रकाश' सं. विद्याकुमार सेठी, प्र.दि. जैन समाज कुचामनसिटी में संग्रहीत। द्वितीय सं. 1980 ई.

20. **देवशास्त्र और गुरु**/डॉ. सुदर्शनलाल जैन/अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद्/प्र.सं. 1994 ई.

21. **धर्मध्यान-प्रकाश**/सं. पं. विद्याकुमार सेठी/दि.जैनसमाज, कुचामनसिटी (राज.) द्वि. सं. 1957 ई.

22. **धवला** / आ. वीरसेन/ जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर / प्र.सं. 1973 ई.।

23. **नियमासार**/आ. कुन्दकुन्द/दि. जैन स्वा. मं. ट्रस्ट, सोनगढ़/च.सं. 1978 ई.।

24. **नीति**/आ. इन्द्रनन्दि/('तत्त्वानुशासनादि संग्रह' : माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई /प्र.सं. 1918 ई. में प्रकाशित)

25. **पंचाध्यायी**/पाण्डे राजमल्ल/वर्णी ग्रन्थामाला, वाराणसी/ द्वि. सं. 1986 ई.

26. **पंचास्तिकाय-संग्रह**/आ.कुन्दकुन्द/परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई /प्र.सं. 1915 ई.।

27. **पद्मन्दिर पंचविंशातिः**/आ.पदमनन्दि। जीवराज ग्रन्थमाला/प्र.सं. 1932 ई.।

28. **प्रतिक्रमणसूत्र**/गौतम स्वामी /'धर्मध्यान प्रकाश' सं. विद्याकुमार सेठी, प्र.सं. दि. जैनसमाज
कुचामनसिटी में संग्रहीत/द्वितीय सं., 1980 ई.

29. **प्रतिष्ठा-प्रदीप**/पं. नाथूलाल शास्त्री/वी.नि.ग्र.प्र.सं., इन्दौर/प्र.सं. 1990 ई.।

30. **प्रबोधसार**/भट्टारक यशकीर्ति/रावजी सखाराम दोशी, सोलापुर /प्र.सं. 1928 ई.

31. **प्रवचनसार**/आ.कुन्दकुन्द/मणिकचन्द ग्रन्थमाला, बम्बई / 1920 ई.

32. **प्रशमरति प्रकरण**/ श्रीमदुमास्वामी / परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास / प्र.सं. 1950 ई.

33. **पात्रकेसरि-स्तोत्र**/आ.पात्रकेसरि/भा.जै.सि.प्र. संस्था, कलकत्ता/प्र.स.

34. **पाहुडदोहा**/मुनि रामसिंह / सं. डॉ. हीरालाल जैन /कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसायटी प्र.सं. 1933 ई.

35. **बोधपाहुड** / आ. कुन्दकुन्द / माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई /प्र.सं. 1920 ई.

36. **महापुराण** / आ. जिनसेन/भारतीय ज्ञानपीठ /प्र.सं. 1951 ई.

37. **मूलाचार** / आ. कुन्दकुन्द /ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटण / प्र. सं. 1958 ई.

38. **मोक्ष पाहुड**/आ. कुन्दकुन्द/माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई/प्र.सं. 1920 ई.

39. **मोक्षमार्गप्रकाशक** (मूल)/पण्डित टोडरमल/सस्ती ग्रन्थमाला, दिल्ली /द्वि.सं. 1953 ई.

40. **मोक्षमार्गप्रकाशक** (हि.अनु.)/पं. टोडरमल/पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर/ ग्या.सं. 1993 ई.

41. **यशस्तिलकचम्पू**/आ. सोमदेव/निर्णयसागर प्रेस, बम्बई / प्र.सं. 1916 ई.

42. **यापनीय और उनका साहित्य**/डॉ. कुसुम पटोरिया/वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट /प्र.सं. 1988 ई.

43. **रत्नकरण्ड-श्रावकाचार**/आ. समन्तभद्र/मध्यक्षेत्रीय मुमुक्षु संघ, सागर/प्र.सं. 1944 ई.

44. **राजवार्तिक** / भट्ट अकलंक / भारतीय ज्ञानपीठ / प्र. सं. 1955 ई.

45. **लाटी-संहिता**/पाण्डे राजमल्ल/माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला/बम्बई/प्र.सं. 1927 ई.

46. **वरांगचरित**/आ. जटासिंहनंदि/माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला/बम्बई/प्र.सं. 1938 ई.

47. **वसुनन्दि श्रावकाचार** / आ. वसुनन्दि/भारतीय ज्ञानपीठ / प्र.सं. 1952 ई.

48. **वृहज्जिनवाणी संग्रह** / सं. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल / अ.भा. जैन युवा फैडरेशन जयपुर / द्वि.सं. 1987 ई.

49. **बृहत्सामायिक पाठ**/मूलचन्द किशनदास कापड़िया, सूरत / प्र. सं. 1939 ई.

50. **श्रीमज्जिनेन्द्र पूजाविधानम्** / स. पं. बुद्धप्पा दादा उपाध्याय / प्र. सं. 1954 ई.

51. **षट्खण्डागमसूत्र** / आ. पुष्पदन्त-भूतबलि / जैन साहित्योद्धारक फण्ड, विदिशा

52. **संस्कृति-हिन्दी कोश** / वामन शिवराम आप्टे/ मोतीलाल बनारसीदास /द्वि. सं. 1969 ई.

53. **समयसार नाटक** / कविवर बनानसीदास / श्री कुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर / पंचम सं., 1984 ई.

54. **सर्वार्थसिद्धि** / आ. पूज्यपाद देवनन्दि/ भारतीय ज्ञानपीठ/प्र.सं. 1955 ई.

55. **सागार धर्मामृत**/पं. आशाधर सूरि / माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई /प्र.सं. 1915 ई.

56. **सावयधम्मदोहा** / मुनि लक्ष्मीचन्द्र / सं. डॉ. हीरालाल जैन / कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसायटी / प्र.सं. 1932 ई.

57. **सिद्धचक्र विधान** / कविवर सन्तलाल / अ.भा. युवा फैडरेशन, जयपुर च.सं. 1987 ई.।

तृतीय परिशिष्ट

कतिपय प्रमुख दिगम्बर जैन पूजा-सम्बन्धी साहित्य-प्रणेता एवं उनके ग्रन्थ

1. आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि (5वीं शता. ई.)
   - जिनाभिषेक
2. अभयनन्दि (ई. 10-11 वीं शता.)
   - 'श्रेयोविधान' एवं 'पूजाकल्प'।
3. आचार्य इन्द्रनन्दि (ई. 10-11 वीं शता.)
   - 'अंकुरारोपण' 'प्रतिमा संस्कारारोपण'
   - 'मातृकायन्त्रपूजा' एवं 'शान्तिचक्रपूजा'
4. आचार्य नयन्दि (993-1043 ई.)
   - 'सकलविधि-विधान'
5. आचार्य श्रुतसागर (1487-1533 ई.)
   - 'सिद्धाचक्राष्टकपूजा' एवं 'श्रुतस्कन्धपूजा'
6. पं. आशाधर (1173-1243 ई.)
   - 'जिनयज्ञकल्प' एवं 'नित्यमहोद्योत'
7. आचार्य पद्मनन्दि (1280-1330 ई.)
   - 'देवपूजादि'
8. आचार्य श्रुतसागर (1473-1533 ई.)
   - 'नित्यमहोद्योत' पर 'महाभिषेक' टीका।
9. कवि देवीदयाल (1755-1767 ई.)
   - 'चौबीसी पाठ'
10. कवि वृन्दावन (1791-1848 ई.)
    - 'चौबीसी पाठ' 'समवसरण पूजा'
11. पं. सन्तलालजी (17-18 वीं शता.ई.)
    - 'सिद्धचक्रविधान' (जो कि आ. जिनसेनकृत 'महापुराण' के 'जिनसहस्रनाम' पर आधारित है) एवं 'दशलक्षी अङ्ग'
12. पं. सदासुख (1793-1863 ई.)
    - 'नित्यपूजा'
13. पं. पन्नालाल (1793-1863 ई.)
    - 'सरस्वतीपूजा' (हिन्दी)

14. पं. मनरङ्गलाल (1793-1843 ई.)
 – 'चौबीस पाठपूजा' एवं 'सप्तऋद्धि पूजा'
15. पं. द्यानतराय (18 वीं. शता. ई.)
 – कुल ग्यारह पूजायें लिखीं है।
16. कवि कमलनयन (19 वीं शता. ई.)
 – 'श्री पञ्चकल्याणक-पूजापाठ'
17. कवि बख्तावर रतन (19 वीं शता. ई.)
 – 'पार्श्वनाथस्वामी पूजा'
18. कवि मल्लजी (19 वीं शता. ई.)
 – 'श्री क्षमावाणी पूजा'
19. कवि रामचन्द्र (19 वीं शता. ई.)
 – 'अनेक पूजाकाव्य'
20. कवि वृन्दावन (जन्म सम्वत् 1842)
 – 'तीन चौबीसी' तथा 'चौबीसी पूजाकाव्य'
21. कवि आशाराम (20वीं शता. ई.)
 – 'श्री सोनागिर सिद्धक्षेत्र पूजा'
22. कवि कुंजीलाल (20वीं शता. ई.)
 – 'देवशास्त्रगुरुपूजा', 'महावीरस्वामी पूजा'
23. कवि जवाहरलाल (20वीं शता. ई.)
 – 'सम्मेदाचलपूजा' एवं 'लघुसमुच्चयपूजा'
24. कवि जिनेश्वरदास (20वीं शता. ई.)
 – 'नेमिनाथ जिनपूजा' 'बाहुबलिस्वामी पूजा' एवं 'चन्द्रप्रभ पूजा'
25. कवि भविलाल (20वीं शता. ई.)
 – 'श्री सिद्धपूजा भाषा'
26. कवि मुन्नालाल (20वीं शता. ई.)
 – 'खण्डगिरि सिद्धक्षेत्रपूजा'
27. कवि दीपचन्द्र (20वीं शता. ई.)
 – 'बाहुबलीपूजा'
28. कवि दौलतराम (20वीं शता. ई.)
 – 'पावापुर सिद्धक्षेत्रपूजा' एवं 'चम्पापुरी सिद्धक्षेत्र पूजा'

29. कवि नेम (20वीं शता. ई.)
– 'अकृत्रिम चैत्यालय पूजा'

30. कवि रघुसुत (20वीं शता. ई.)
– 'रक्षाबन्धन पूजा' एवं 'विष्णुकुमार महामुनि पूजा'

31. कवि रविमल (20वीं शता. ई.)
– 'तीस चौबीसपूजा।'

32. कवि सच्चिदानन्द (20वीं शता. ई.)
– 'पंचपरमेष्ठी पूजा।'

33. कवि सेवक (20वीं शता. ई.)
– 'आदिनाथ पूजा' 'अनन्तव्रतपूजा' एवं 'समुच्चय चौबीसी पूजा'

34. कवि हेमराज (20वीं शता. ई.)
– 'श्री गुरुपूजा'

35. कवि हीराचन्द (20वीं शता. ई.)
– 'सिद्धपूजा' एवं 'चतुर्विंशतिपूजा'

36. ब्र. सरदारमल सच्चिदानन्द (20वीं शता. ई.)
– 'समुच्चयपूजन'

37. कवि जुगलकिशोरजी 'युगल' (विद्यमान)
– 'देवशास्त्र-गुरु-पूजन' (केवलरविकिरणों) एवं 'सिद्धपूजन'।

38. कवि राजमलजी पवैया (अब दिवंगत)
– 'पंचपरमेष्ठी पूजा' एवं अनेक पूजाविधानों का प्रणयन।

39. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल (विद्यमान)
– 'देवशास्त्रगुरु-पूजन', 'सिद्धपूजन', सीमन्धरस्वामी पूजन, महावीरपूजन आदि।

40. कवि पुष्पेन्दु (विद्यमान)
– पार्श्वनाथ-स्वामी पूजन आदि।

नोट – इसमें मात्र 'पूजन' एवं 'पूजनविधि' आदि के प्ररूपक साहित्यकारों एवं उनके साहित्य का अपनी सीमित जानकारी के आधार पर उल्लेख किया है। श्रावकाचार-साहित्य एवं पुराण-ग्रन्थों, कथा-ग्रन्थों में जो पूजनाविषयक वर्णन आनुषङ्गिकरूप से उपलब्ध है, उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है।

कृति-परिचय

जैसे अग्नि–संस्कार के बिना मिट्टी के बर्तन जल भरने योग्य नहीं होते हैं, और सोना–चाँदी जैसी बहुमूल्य धातुयें आभूषणों के रूप में संस्कारित होने पर ही धारण करने योग्य बनती हैं; इसीप्रकार मनुष्य का जीवन भी संस्कारों के बिना सार्थकता को प्राप्त नहीं हो पाता है।

प्रत्येक धर्म और दर्शन में 'संस्कारों' का विशेष महत्त्व माना गया है। मनुष्य के जन्म से लेकर देहावसान–पर्यन्त अनेकों नित्य व नैमित्तिक प्रसंगों में संस्कारों की महत्ता सर्वत्र मानी गयी है। दृष्टि में और विधि में विभिन्नता होते हुए भी 'संस्कार' की उपयोगिता व आवश्यकता सभी ने स्वीकार की है।

जैनदर्शन 'कर्मकाण्डप्रधान' नहीं है। वह मूलतः आध्यात्मिक दृष्टि से अनुप्राणित है; परन्तु जीवनोपयोगी संस्कारों का महत्त्व उसमें भी बताया गया है। कर्मकाण्डीय आडम्बरों से दूर सात्त्विक संस्कारविधि को परम्परागत। परिचय के साथ–साथ वैज्ञानिकता एवं तर्कसंगत–दृष्टि से प्रस्तुत किया जाना इस पुस्तक की विशेषता है। संस्कारों के प्रति जैनदृष्टि की अद्यावधि कोई इतनी संतुलित कृति प्रकाश में न होने के कारण इसकी समसामयिक महत्ता भी स्वतः प्रमाणित है।

विवेचन के साथ–साथ विधि एवं तदुपयोगी मंत्र व पाठ आदि भी समीचीन रीति से इसमें उपलब्ध होने के कारण इसकी उपादेयता व्यावहारिक धरातल पर उत्कर्ष को प्राप्त हो रही है।

लेखक परिचय

नाम – प्रो. सुदीप कुमार जैन

अध्ययन – जैनदर्शन शास्त्री, एम.ए. प्राकृत, एम.ए.संस्कृत(दोनों में स्वर्णपदक– प्राप्त),पीएच.डी.

योग्यता – हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पालि भाषाओं के अधीती। गुजराती, राजस्थानी आदि क्षेत्रीय भाषाओं के व्यवहार में सक्षम। कन्नड़ एवं देवनागरी लिपियों की प्राचीन पाण्डुलिपियों एवं प्राचीन अभिलेखों के अध्ययन, संपादन, अनुवाद आदि में सिद्धहस्त।

कृतियाँ – दसाधिक मौलिक पुस्तकें, दो पाण्डुलिपि संपादन व अनुवाद, पच्चीस से अधिक पुस्तकों का सम्पादन, अनुवाद व प्रस्तावनालेखन। शताधिक शोध आलेख प्रकाशित। अन्य विधि लेख, यात्रावृतान्त आदि भी प्रकाशित। 'प्राकृतविद्या'(त्रैमासिकी) व' सन्मतिसन्देश' मासिक पत्रिकाओं का वर्षों तक सम्पादन किया।

अभिरुचि – दार्शनिक व तार्किक चिंतन, मनन, लेखन व सम्प्रेषण।

अन्य – प्राकृतभाषा एवं साहित्य के राष्ट्रपति पुरस्कार सहित अनेकों प्रतिष्ठित पुरस्कारों से सम्मानित। दूरदर्शन व आकाशवाणी पर कई भेंटवार्ता में प्रसारित।

सम्प्रति – श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय), नई दिल्ली–16 में प्राकृतभाषा विभाग में प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष। इसी संस्थान में संकायप्रमुख आदि विविध वरिष्ठ पदों पर कार्य करने से 25 वर्षों का अनुभव। प्राकृतभाषा एवं जैनविद्या के कई महनीय शोधपरक ग्रन्थों के लेखन में अहर्निश समर्पित।

New BBC

न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन

208, द्वितीय तल प्रकाशदीप भवन,
4735/22, अंसारी रोड, दरिया गंज,
नई दिल्ली- 110002
दूरभाष : 91-11-23280214, 23280209
ई मेल : newbbc@indiatimes.com

ISBN 81-8315-206-6

₹ 600.00